अन्नम्भट्टविरचित:

तर्कसंग्रह:

डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा

अन्नम्भट्टविरचितः

तर्क-संग्रहः

स्वोपज्ञटीका तर्कदीपिका तथा चन्द्रजसिंहविरचित पदकृत्य टीका सहितः
(हिन्दीभाषायाम् आशा टीकासमन्वितः)

(विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमानुसार व नेट
तथा स्लेट परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये उपयोगी पुस्तक)

हिन्दी-व्याख्याकारः
डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा
अध्यक्ष
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
राजकीय महाविद्यालय, किशनगढ़

प्रेरणा व सहयोग
श्रीमती आशा शर्मा

अन्नम्भट्टविरचितः

तर्क-संग्रहः

स्वोपज्ञटीका तर्कदीपिका तथा चन्द्रजसिंहविरचित पदकृत्य टीका सहितः
(हिन्दीभाषायाम् आशा टीकासमन्वितः)

डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा

हंसा प्रकाशन, जयपुर

तर्कसंग्रह

ISBN No. : 978-93-81954-64-5

प्रकाशक : हंसा प्रकाशन
57, नाटाणी भवन, मिश्र राजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार, जयपुर ;राज.द्ध

संस्करण : 2017

मूल्य 125.00

टाइप सैटिंग : टास्क ग्राफिक्स, जयपुर

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर

समर्पणम्

स्व. श्री सुरेन्द्र कुमार शर्मा
(११-११-५८ से १२-३-०५)

दिवङ्गत अग्रज श्री सुरेन्द्र कुमार शर्मा की पुण्य स्मृति में

वात्सल्यमयी माँ श्रीमती गीता देवी शर्मा व

स्नेही पिता वैद्य श्री गोविन्द सहाय शर्मा

के चरण कमलों में सादर समर्पित

विनयावनत
डा. नरेन्द्र कुमार शर्मा
श्रीमती आशा शर्मा

विषयानुक्रमणिका

तर्कसंग्रहे 'आशा' टीकायाम् च

क्रम संख्या	*विषय:*	*पृष्ठम्*
	भूमिका – भारतीय दर्शन का सामान्य परिचय	i - xx
	प्रत्यक्ष–परिच्छेद:	
१.	मंगलाचरणम्	१
	– मंगलाचरण के भेद	
	– अनुबन्ध चतुष्टय	
	– तर्कसंग्रह का नामकरण	
	– प्रकरण ग्रन्थ की परिभाषा	
	– शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति–उद्देश, लक्षण व परीक्षा	
	– लक्षण के दोष	
	– लक्षण का प्रयोजन	
२.	पदार्थविभागनिरूपणम्	१०
	– पदार्थ का लक्षण	
	– न्याय व वैशेषिक दर्शन के पदार्थ विभाजन का परस्पर समन्वय/अन्तर्भाव	
३.	द्रव्यविभागनिरूपणम्	१२
	– द्रव्य की परिभाषा	
	– 'तम' के दशम द्रव्य होने का खण्डन	
४.	गुणविभागनिरूपणम्	१५
	– गुण की परिभाषा	
	– सामान्य गुण तथा विशेष गुण	
	– प्रत्येक द्रव्य में पाये जाने वाले गुणों की संख्या व नाम	
५.	कर्मविभागनिरूपणम्	१७
६.	सामान्यविभागनिरूपणम्	१८

७.	विशेषपदार्थनिरूपणम्	१९
८.	समवायनिरूपणम्	२०
९.	अभावविभागनिरूपणम्	२२
१०.	पृथिव्याः लक्षणम् भेदाश्च	२३
	- नित्य व अनित्य की परिभाषा	
	- शरीर, इन्द्रिय तथा विषय की परिभाषा	
११.	जलस्य लक्षणम् भेदाश्च	२९
१२.	तेजसः लक्षणम् भेदाश्च	३१
१३.	वायोः लक्षणम् भेदाश्च	३३
	- प्राण आदि पाँच प्रकार के अनित्य वायु का विवेचन	
	- कार्य के विनाश के प्रकार	
	- परमाणु की सत्ता में प्रमाण	
१४.	आकाशद्रव्यनिरूपणम्	४०
१५.	कालद्रव्यनिरूपणम्	४२
१६.	दिक्द्रव्यनिरूपणम्	४४
१७.	आत्मनः लक्षणम् भेदाश्च	४५
	- आत्मा की अनेकता में प्रमाण	
	- आत्मा (जीवात्मा) का विभुत्व	
	- आत्मा के गुण	
	- न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप	
	- आत्मा की सत्ता में प्रमाण	
	- आत्मा की नित्यता में प्रमाण	
	- आत्मा ही कर्ता एवं भोक्ता	
	- ईश्वर (परमात्मा)	
१८.	मनसः लक्षणम् भेदाश्च	५२
	- मन सुखदुःखादि का ज्ञान कराने वाली इन्द्रिय	
	- मन की सत्ता में प्रमाण	
	- मन की अनेकता	
	- मन का अणु परिमाण	
१९.	रूपगुणनिरूपणम्	५४
	- रूप के भेद	
	- रूप के ग्रहण की शर्तें	

२०.	रसगुणनिरूपणम्	५६
२१.	गन्धगुणनिरूपणम्	५७
२२.	स्पर्शगुणनिरूपणम्	५८
२३.	रूपादिगुणानां पाकजापाकजोत्पत्तिविवेचनम्	५९
	- पाकजोत्पत्ति	
	- पीलूपाक तथा पिठरपाक	
२४.	संख्यागुणनिरूपणम्	६२
	- द्वित्वोपत्ति की प्रक्रिया	
	- द्वित्वविनाश की प्रक्रिया	
२५.	परिमाणगुणनिरूपणम्	६६
	- परिमाण के भेद	
	- अनित्य परिमाण की उत्पत्ति के तीन कारण	
२६.	पृथकत्वगुणनिरूपणम्	६९
२७.	संयोगगुणनिरूपणम्	७०
	- संयोग के भेद	
	- प्रकारान्तर से संयोग के भेद	
	- संयोग के विनाश के कारण	
२८.	विभागगुणनिरूपणम्	७२
	- विभाग के भेद	
२९.	परत्व-अपरत्वगुणनिरूपणम्	७५
३०.	गुरुत्वगुणनिरूपणम्	७७
३१.	द्रवत्वगुणनिरूपणम्	७८
३२.	स्नेहगुणनिरूपणम्	७९
३३.	शब्दगुणनिरूपणम्	८०
	- शब्द की उत्पत्ति का प्रकार	
	- कदम्बमुकुलन्याय से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द ग्रहण	
	- वीचितरङ्गन्याय से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द ग्रहण	
	- न्यायवैशेषिक मत में शब्द की अनित्यता	
३४.	बुद्धिगुणनिरूपणम्	८३
	- ज्ञान के भेद	
३५.	स्मृतिविवेचनम्	८४
	- स्मृति और प्रत्यभिज्ञा	

३६.	अनुभव-विवेचनम्	८५
	- यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान	
३७.	यथार्थानुभवस्य भेदानां विवेचनम्	८८
३८.	चतुर्विधयथार्थानुभवानां चतुर्विधकरणविवेचनम्	८९
३९.	करणलक्षणम्	८९
४०.	कारणलक्षणम्	९१
	- अन्यथासिद्ध विवेचन	
४१.	कार्यलक्षणम्	९५
	- प्रतियोगी एवं प्रतियोगिता	
	- कार्यकारण सम्बन्ध का विवेचन	
४२.	कारणविभागविवेचनम्	९८
४३.	समवायिकारणलक्षणम्	९८
४४.	असमवायिकारणलक्षणम्	१००
४५.	निमित्तकारणविवेचनम्	१०२
	- कारणों की सामान्य विशेषतायें	
४६.	करणस्य निष्कृष्टलक्षणम्	१०४
४७.	प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्	१०४
	- 'प्रत्यक्ष' पद की व्युत्पत्ति	
	- 'प्रत्यक्ष' पद का विभिन्न अर्थों में प्रयोग	
४८.	प्रत्यक्षज्ञानलक्षणम्	१०५
	- प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया व भेद	
४९.	निर्विकल्पक-सविकल्पकविवेचनम्	१०८
५०.	सन्निकर्ष-भेदविवेचनम्	११०
५१.	संयोगसन्निकर्षविवेचनम्	१११
५२.	संयुक्तसमवायसन्निकर्षविवेचनम्	११२
५३.	संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षविवेचनम्	११३
५४.	समवायसन्निकर्षविवेचनम्	११४
५५.	समवेतसमवायसन्निकर्षविवेचनम्	११५
५६.	विशेषण-विशेष्यभावसन्निकर्षविवेचनम्	११६
	- मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय का सन्निकर्ष	
	- मानसिकसन्निकर्ष	

- अलौकिकसन्निकर्ष

५७. प्रत्यक्षप्रमाणस्य निष्कृष्टं लक्षणम् १२०

अनुमानपरिच्छेदः

५८. अनुमानलक्षणनिरूपणम् १२२

- अनुमिति परामर्श, व्याप्ति व पक्षधर्मता का विवेचन
- अनुमान के भेद

५९. (क) - द्विविध-अनुमाननिरूपणम् १२८

(ख) - स्वार्थानुमाननिरूपणम् १२९

६०. परार्थानुमाननिरूपणम् १३०

६१. पञ्चावयवनिरूपणम् १३१

६२. अनुमानस्य निष्कृष्टं करणम् १३५

६३. लिङ्ग-भेदनिरूपणम् १३६

६४. केवलान्वयिनः लक्षणम् १३८

६५. केवलव्यतिरेकिणः लक्षणम् १३९

- व्याप्ति कहने के नियम

६६. पक्ष-सपक्ष-विपक्षनिरूपणम् १४२

६७. हेत्वाभासभेदनिरूपणम् १४५

६८. सव्यभिचारस्य लक्षणम् १४६

६९. साधारण-अनैकान्तिकस्य लक्षणम् १४७

७०. असाधारण-अनैकान्तिकस्य लक्षणम् १४८

७१. अनुपसंहारिणः लक्षणम् १४८

७२. विरुद्धस्य लक्षणम् १४९

७३. सत्प्रतिपक्षस्य लक्षणम् १५०

७४. असिद्ध-भेदविवेचनम् १५१

७५. आश्रयासिद्ध-विवेचनम् १५२

७६. स्वरूपासिद्ध-विवेचनम् १५३

७७. व्याप्यत्वासिद्ध-विवेचनम् १५४

- उपाधि का विवेचन
- व्याप्यत्वासिद्ध के भेद

७८. बाधितस्य लक्षणम् १६०

उपमानपरिच्छेदः

७९. उपमान-निरूपणम् १६२

शब्द-परिच्छेदः

८०.	शब्दप्रमाणलक्षणम्	१६५
८१.	वाक्यलक्षणम्	१६६
	- पद का लक्षण	
	- शक्ति का लक्षण	
	- शक्ति ग्रहण के उपाय	
८२.	आकाङ्क्षादि-विवेचनम्	१७१
८३.	वाक्य-भेदविवेचनम्	१७४
८४.	शाब्द-ज्ञानविवेचनम्	१७५
	- शाब्दबोध की प्रक्रिया	
	अवशिष्ट-परिच्छेदः	
८५.	अयथार्थानुभव-भेदनिरूपणम्	१८०
८६.	संशय-लक्षणम्	१८०
	- संशय के भेद	
८७.	विपर्यय-लक्षणम्	१८२
८८.	तर्क-लक्षणम्	१८३
८९.	स्मृति-भेदनिरूपणम्	१८४
९०.	सुखादीनां विवेचनम्	१८५
	- आत्मा के विशेष गुण	
९१.	संस्कार-निरूपणम्	१८९
	- संस्कार के भेद	
९२.	कर्मणः लक्षणम् भेदाश्च	१९२
९३.	सामान्य-लक्षणम् भेदाश्च	१९४
	- जाति-बाधकों का विवेचन	
९४.	विशेषपदार्थ-लक्षणम्	२००
९५.	समवायस्य लक्षणम्	२०१
	- अयुतसिद्ध का विवेचन	
९६.	प्रागभावस्य लक्षणम्	२०५
९७.	प्रध्वंसाभावस्य लक्षणम्	२०६
९८.	अत्यन्ताभावस्य लक्षणम्	२०७
९९.	पदार्थोपसंहारम्	२११

भूमिका

भारतीय दर्शन का सामान्य परिचय

मनुष्य संसार के समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, क्योंकि वह मननशील और बुद्धिजीवी है। मनुष्य अपने कार्यों को सोच-विचार कर सम्पादित करता है, इसलिए मनुष्य शब्द की निरुक्ति **"मत्वा कर्माणि षीव्यति इति मनुष्यः"** की जाती है। मानव मन में निरन्तर विभिन्न विषयों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती रहती है- मैं क्या हूँ? संसार क्या है? इसकी उत्पत्ति क्यों, कैसे और कब हुई? मानव मन की इन समस्त जिज्ञासाओं का समाधान जिस शास्त्र का विषय है वही दर्शनशास्त्र है। दर्शन शब्द का एक अर्थ दृष्टिकोज भी है। विभिन्न भारतीय दर्शन मानव की विभिन्न जिज्ञासाओं को समाधान करने के दृष्टिकोण मात्र ही हैं, क्योंकि परम-तत्त्व अथवा जीवन के विभिन्न तत्त्वों का आत्यन्तिक रूप में समाधान करना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है अतः उसका चिन्तन मात्र दृष्टिकोण होकर ही रह जाता है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विभिन्न तत्वों के सम्बन्ध में विभिन्न युक्तियाँ ही होती हैं। इस प्रकार युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने का नाम ही दर्शन है। इस प्रकार मानव जीवन से सम्बद्ध विभिन्न मान्यताएँ ही दर्शन नाम से व्यवहृत की जाती है।

भारतीय दर्शन की अनेक विशेषताएँ हैं। मानव के सर्वतोमुखी विकास को दृष्टि में रखकर ही भारतीय आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि में ही मानव-कर्तव्य की इतिश्री समझी है। इसी पुरुषार्थ चतुष्ट्य की साधना में संलग्न रहकर भारतीय अपने जीवन को सुखमय बनाता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। अतः भारतीय दर्शन की प्रथम विशेषता ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति है।

भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य मानव के समस्त दुःखों का विनाश एवं स्थायी सुखप्राप्ति स्वरूप मोक्ष है, इसलिए मानव उसको प्राप्त करने के लिए शुभ कर्म, तप और त्याग करता है। इस तप और त्याग के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन अष्टांग योग का विधान करता है।

भारतीय दर्शन में चार्वाक-दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शनों का ध्येय आध्यत्मपरक है। वैदिक साहित्य भारतीय दर्शन का उपजीव्य है। उपनिषदों का प्रधान वर्ण्य-विषय ब्रह्म एवं आत्मा है। आत्म-ज्ञान की जिज्ञासा-आत्मा क्या है? वह

नित्य है या अनित्य? वह एक है अथवा अनेक? आत्मा-परमात्मा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? आदि प्रश्न भारतीय-दर्शन के मौलिक तत्व हैं। भारतीय दर्शन का उद्देश्य जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करना है।

भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का शाश्वत सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है तथा इन दोनों का भारतीय जीवन पद्धति से साक्षात् सम्बन्ध है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध तापों से पीड़ित मानव को चिरशांति के लिए अर्थात् दु:ख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही दर्शनशास्त्र का उदय हुआ है। यह भी तय है कि भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा दार्शनिक अनुभूतियों के आधार पर ही प्रतिष्ठित है।

भारतीय-दर्शन में व्यवहार अर्थात् जीवन को उतना ही महत्व प्राप्त है, जितना विचार को। अत: यही कहना अधिक समीचीन है कि सिद्धान्त और व्यवहार दोनों का समन्वय इस दशर्रून की मौलिक विशेषता है। दोनों के विकास को समान महत्व प्राप्त है।

भारतीय-दर्शन सर्वथा आशावादी है। क्योंकि यह 'मोक्ष' के रूप में मनुष्य को आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक रूप से आनन्द दिलाने की बात करता है।

भारतीय दर्शन विद्या और अविद्या पर विस्तार से विचार करता है। यह दर्शन ज्ञान के महत्व को स्वीकार करता है। संसार में जन्म, मरण, लोभ, मोह रूपी बन्धनों का एकमात्र कारण अविद्या है, तथा मोक्ष का कारण ज्ञान, अर्थात् विद्या है। विद्या के कारण मानव संसार-चक्र के भोगों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् मानव इसी जन्म से ज्ञान की साधना से पूर्णत्व प्राप्त करता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मानव को साधना करनी पड़ती है- **"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यान-समाधि"** का अनुष्ठान अपेक्षित होता है। इन साधनों के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध कर मानव ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ज्ञान की प्राप्ति पर ही अविद्या का नाश तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह विवेक ज्ञान की अवस्था नितान्त आनन्दमयी होती है। यहाँ पर ब्रह्म एवं जीव की भेद भावना से उत्पन्न होने वाले दु:खों की केवल निवृत्ति ही नहीं होती, अपितु साधक को अलौकिक आनन्दानुभूति भी होती है।

विचारों, धर्मों एवं जीवन के व्यवहारों का एकमात्र लक्ष्य वह ब्रह्म ही है- **ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते**। प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक भारतीय धर्म की प्रवृत्ति उसी ब्रह्म की ओर रहती है, इसी ब्रह्म की भावना में ही अनेकत्व में एकत्व के दर्शन किये जाते हैं। यही भारतीय दर्शन का उद्देश्य है। इस प्रकार भारतीय दर्शन समन्वय प्रधान है। जिस प्रकार विभिन्न नाम वाली नदियाँ अन्तत: समुद्र में जाकर मिलकर एक हो जाती हैं- उसी प्रकार भारतीय दर्शन में समन्वय प्रधानता विद्यमान है।

भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शन पुनर्जन्म और परलोक पर आस्था और विश्वास प्रकट करते हैं। इसीलिए यहाँ के मनुष्य तथा दर्शन नैतिकता का विशेष ध्यान रखते हैं। इस नैतिकता के मूल में यह आस्था निहित है कि इस सृष्टि के मूल में एक शक्ति अपना कार्य संचालन करती रहती है। वह मानव के शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य सभी प्रकार के कर्मों की व्यवस्था करती है। उसी को ऋग्वेद में 'ऋत' की संज्ञा दी गई है, ऋत इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वह प्रत्येक तत्व को संचालित करता रहता है। इसी ऋत के आधार पर मानव अपने किये हुए कर्मों के अनुसार फल भोगता है। इसी को अपूर्व, अदृष्ट, प्रारब्ध आदि के नाम से भी कहा जाता है।

भारतीय दर्शन में ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रमाणों के महत्व को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। भौतिकवादी चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को; बौद्ध, जैन एवं वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान को, सांख्य प्रत्यक्षानुमान तथा शब्द प्रमाण को, न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान प्रमाण को, मीमांसा एवं वेदान्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव को भी स्वीकार करते हैं। पौराणिक सम्प्रदाय के लोग 'संभव' तथा 'ऐतिह्य' प्रमाणों सहित कुल आठ प्रमाण मानते हैं।

भारतीय दर्शन की धारा ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त, नासदीयसूक्त, हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है। यह धारा अथर्व एवं यजु के मन्त्रों से लेकर औपनिषदिक काल तथा कालक्रमेण पल्लवित होती हुई, दर्शन-शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

भारतीय दर्शन अपनी विवेचनात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। सभी विचारों को तर्क एवं बुद्धि की कसौटी पर परीक्षित कर ही मान्यता दी जाती है। भारतेतर देशों की भाँति धर्म दर्शन पर हावी नहीं हुआ, इसका कारण भी स्पष्ट है। क्योंकि भारतीय तत्व ज्ञान समीक्षात्मक है। ईश्वर जैसे तत्व को भी सभी भारतीय दार्शनिकों ने समीक्षा का विषय बनाया है। भारतीयदर्शन में जो सम्मान तथा महत्व चार्वाक दर्शन को प्राप्त है, वही नैयायिक को। निरीश्वरवादी सांख्य, ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार **समीक्षा, विवेचन और तर्क** भारतीय-दर्शन की कसौटी है।

भारतीय दर्शन-साहित्य विभिन्न विचारधाराओं की समष्टि है। परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक दर्शन की नितान्त अपेक्षा है और ये सभी दर्शन एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं। एक दूसरे के बिना अपने अस्तित्व का समर्थन ही नहीं कर सकते। आगे की अवस्था को समझने के लिए पूर्व-पूर्व की अवस्था का पूर्ण परिचय

रखना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्येक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ समन्वय है। इन सब में कोई भी वास्तविक विरोध नहीं है तथापि एक दर्शन दूसरे दर्शन से अत्यन्त भिन्न है। दो दर्शन कभी भी एक ही मत का प्रतिपादन नहीं करते और न करना उचित ही है। फिर भी स्थूल दृष्टि वालों को दर्शनों में जो परस्पर विरोध मालूम होता है, उसका पहला कारण है समझने वालों का 'अज्ञान' और दूसरा 'दृष्टिकोण का भेद'। पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्न: स्तोत्र' में दार्शनिक विचार को कितने सुन्दर शब्दों में कहा है-

'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,'
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि सभी दर्शन में परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है और परमानन्द की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के सहायक हैं। आलोचकों ने **भारतीय दर्शन की विचारधाराओं को दो रूपों में विभक्त किया है :- आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन।** जन-सामान्य आस्तिक शब्द का अर्थ ईश्वरवादी तथा नास्तिक शब्द का अर्थ अनीश्वरवादी करता है। किन्तु प्राचीन काल से दार्शनिक क्षेत्र में ये दोनों ही शब्द भिन्नार्थ द्योतक माने जाते रहे हैं। **'आस्तिक'** शब्द वेद के अनुयायी तथा **'नास्तिक'** शब्द वेद - विरोधी के लिए प्रयुक्त होता आया है।

न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त ये वैदिक एवं आस्तिदर्शन हैं। इन्हें षड्दर्शन भी कहते हैं। वेद विरोधी होने के कारण चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन नास्तिक कहे जाते हैं।

नास्तिक व आस्तिक दर्शनों की प्रमुख विशेषतायें

नास्तिक दर्शन

१. चार्वाक दर्शन

चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। अनुमान, उपमान, शब्द आदि जितने परोक्ष प्रमाण हैं, सभी संदिग्ध या भ्रमभूलक हैं। अत: प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात पदार्थों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: इसे जड़वादी दर्शन कहा जाता है। यह जड़ जगत् पाँच भूतों से नहीं अपितु चार प्रकार के भौतिक तत्वों से बना हुआ है। वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी - ये ही चार प्रकार के भौतिक तत्त्व हैं। चूँकि आकाश आदि अन्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से संभव नहीं है अत: यह दर्शन उनकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इन तत्वों का ज्ञान ही हमें इंद्रियों के द्वारा अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। संसार के जितने द्रव्य हैं सभी इन्हीं चार द्रव्यों से बने हुए हैं। आत्मा के अस्तित्व के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है।

मनुष्य पूर्णतया भूतों से ही बना हुआ है। 'मैं स्थूल हूँ' , 'मैं क्षीण हूँ', - इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य और उसके शरीर में कोई भेद नहीं है। मनुष्य में चैतन्य है, किंतु चैतन्य मनुष्य शरीर का विशेष गुण है। चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक तत्वों से ही होती है। जड़ पदार्थों से चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, इसकी युक्ति चार्वाक यह देते हैं कि जैसे गुड़ में मादक गुण नहीं है, फिर भी गुड़ के सड़ जाने से उसमें मादक गुण की उत्पत्ति हो सकती है। इसी तरह भौतिक तत्त्वों का जब विशेष ढंग से मिश्रण होता है, तब शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है और शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। अतः मृत्यु के बाद कर्मों के फल-भोग की कोई संभावना ही नहीं है।

ईश्वर का अस्तित्व भी नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व अप्रमाणित होने पर संसार की सृष्टि का कोई प्रश्न नहीं उठ सकता? चार्वाक मत के अनुसार संसार का निर्माण भूतों के सम्मिश्रण से स्वतः होता है। अतः ईश्वर की आराधना तथा स्वर्ग की कामना भी निरर्थक है। वेदों में तथा पुरोहितों में किसी प्रकार की श्रद्धा रखना मूर्खता है। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि अधिक-से-अधिक सुख-प्राप्ति ही अधिक निश्चित है। सुखों का परित्याग इसलिए नहीं करना चाहिए कि वे दुःखों से मिले रहते हैं। भूसे के कारण अन्न का परित्याग नहीं किया जा सकता है। पशुओं के द्वारा चरे जाने के डर से अनाज का बोना नहीं छोड़ा जा सकता है। जीवन को अधिक-से-अधिक सुखमय बनाने का तथा दुःखों से अधिक-से-अधिक दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। संक्षेप में उनका सिद्धान्त है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

२. जैन-दर्शन

ईश्वर तथा वेद को न मानने वाले दर्शनों में 'चार्वाक-दर्शन' के बाद 'जैन-दर्शन' का स्थान है। चार्वाक-सिद्धान्त के अनुसार 'आत्मा' का स्वरूप भौतिक है। भूतों से पृथक् 'आत्मा' की सत्ता चार्वाकों ने नहीं स्वीकार की। किन्तु जैनों ने 'आत्मा' का पृथक् अस्तित्व माना है। 'आत्मवाद' का यह क्रमिक विकसित रूप है। अतएव यह स्पष्ट है कि जैन लोग ज्ञान के मार्ग में चार्वाकों की अपेक्षा कुछ अग्रसर हुए हैं। जैनमत के प्रवर्तकों का एक लंबा क्रम है। उसमें २४ तीर्थंकर हैं। ये मुक्त होते थे तथा वे अपने मत का प्रचार किया करते थे। वर्द्धमान इस क्रम के २४ वें तीर्थंकर हैं। वे महावीर के नाम से विख्यात हैं तथा गौतम बुद्ध के समसामयिक माने जाते हैं।

जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और शब्द को भी प्रमाण मानते हैं। जैन परम्परा के अनुसार आध्यात्मिक विषयों का यथार्थज्ञान सामान्य जन को प्रारंभ

में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा संभव नहीं है। अत: सर्वज्ञ तथा मुक्त जिनों या तीर्थंकरों के उपदेश ही प्रमाण हैं।

इन्हीं तीन प्रमाणों के आधार पर जैन-दर्शन अवलंबित है। प्रत्यक्ष के द्वारा भौतिक द्रव्यों का ज्ञान होता है। चार्वाक की तरह जैन भी मानते हैं कि भौतिक द्रव्य चार प्रकार के तत्त्वों के मिश्रण से बनते हैं। इन तत्त्वों के अतिरिक्त अनुमान के द्वारा आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म का ज्ञान होता है। जीव, धर्म, अधर्म, काल तथा पुद्गलों को जो अपनी स्थिति के लिये स्थान दे वही आकाश है। इस युक्ति से आकाश की सत्ता सिद्ध है। द्रव्यों की अवस्थाओं का क्रमिक परिवर्तन काल के विना नहीं हो सकता। इस युक्ति से काल का अस्तित्व सिद्ध होता है। धर्म तथा अधर्म क्रमश: गति तथा स्थिति के कारण हैं। इनका भी अस्तित्व निर्विवाद है, क्योंकि किसी अनुकूल कारण के बिना द्रव्यों में गति या स्थिति नहीं आ सकती। यहाँ धर्म और अधर्म क्रमश: गति और स्थिति के कारण के अर्थ में व्यवहृत होते हैं। भौतिक द्रव्य (पुद्गल) आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म के अतिरिक्त और भी एक प्रकार का द्रव्य है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्रमाणित है कि प्रत्येक सजीव द्रव्य में एक चेतन वस्तु या जीव है। जब हम सुख, दु:ख आदि अनेक आत्मगत गुणों का अनुभव करते हैं तो हम कह सकते हैं कि हमें अपने जीव या आत्मा का प्रत्यक्षज्ञान होता है। चैतन्य की उत्पत्ति जड़ पदार्थ से नहीं हो सकती।

जितने सजीव शरीर हैं उतने ही जीव हैं। जैन दर्शन के अनुसार केवल मनुष्य तथा पशु-पक्षियों में ही जीव नहीं है, अपितु पेड़-पौधों तथा धूलि-कणों में भी जीव है। प्रत्येक जीव को अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य और अनंत सुख पाने की शक्ति है। ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। कर्म के अनुसार पुद्गल योग से जीव का बंधन होता है। कर्मों को हटाकर जीव बंधन-मुक्त हो सकता है तथा अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकाशित कर सकता है।

दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति या परम सुख की प्राप्ति, जैन दर्शन का भी चरम लक्ष्य है। कठोर तपस्या, साधना आदि के द्वारा कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण कर अन्त:करण की शुद्धि करना एवं परमात्मा का साक्षात्कार करना, इनका भी चरम उद्देश्य है। इसी के लिए जैन लोग 'सम्यक् दर्शन', 'सम्यक् ज्ञान' तथा 'सम्यक् चारित्र', इन तीन 'रत्नों' की प्राप्ति के लिए जीवन भर प्रयत्न करते हैं। ये सभी बातें आस्तिक दर्शनों में भी हैं। अतएव यद्यपि जैनों को आस्तिक लोग 'नास्तिक' कहते हैं, फिर भी दार्शनिक विचार में तथा ज्ञान के विकास में तो जैन दर्शन भी उसी सोपान-परम्परा पर चढ़ा है जिस पर आस्तिक लोग चढ़े हैं। भेद है स्वाभाविक दृष्टि-कोण का और एक ही मार्ग को अपने अपने ढंग से पार करने का।

जैन-दर्शन वस्तुवादी है क्योंकि यह बाह्य जगत् के अस्तित्व को मानता है। वह बहुसत्तावादी है क्योंकि वह अनेक तत्त्वों को मानता है। वह अनीश्वरवादी है, क्योंकि वह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता। ईश्वर के स्थान पर ये तीर्थङ्करों को मानते हैं।

किसी विषय के बारे में कोई एक मत ही एकांत सत्य नहीं हो सकता। हमलोगों को बहुत सतर्क होकर ही किसी विचार को प्रकट करना चाहिए, जिससे उसमें कोई असत्यता आ जाने की आशंका न रहे। बल्कि हमें अपनी उक्तियों के साथ 'स्यात्' जोड़ देना चाहिए, जिससे अशुद्धि की कोई संभावना ही न रहे। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि दूसरों के मत भी सत्य हो सकते हैं। जैन दर्शन का यह सिद्धान्त स्याद्वाद के नाम से प्रसिद्ध है।

३. बौद्ध दर्शन

गौतम बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध-दर्शन की परम्परा प्रारंभ हुई। गौतम बुद्ध मनुष्य के रोग, जरा, मृत्यु आदि दुःखों को देखकर अत्यंत दुःखी हुए। अतः उन्होंने वर्षों तक तपस्या की। अंत में उन्हें बोधि या ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसका सार इनके निम्न चार आर्यसत्यों में पाया जाता है :- *(१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का अन्त है तथा (४) दुःख दूर करने के उपाय है।*

बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख को दूर करने के आठ उपाय हैं। इन्हें अष्टमार्ग कहते हैं:- (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि। इनसे अविद्या तथा तृष्णा दूर होकर निर्मल बुद्धि, दृढ़ता तथा शांति मिलती है। इस प्रकार दुःख का पूर्ण विनाश होता है और पुनर्जन्म की संभावना नहीं रह जाती है। यह अवस्था 'निर्वाण' कहलाती है।

बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय :- भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में भी महात्मा बुद्ध के अनेक अनुयायी हुए हैं। अनुयायियों ने बुद्ध की शिक्षाओं के अंतर्निहित दार्शनिक विचारों की अपनी-अपनी समझ के अनुसार व्याख्या की है। इससे आगे चलकर इन अनुयायियों के सम्प्रदाय बन गए। उनमें भारत के चार सम्प्रदाय विख्यात हैं :-

(१) माध्यमिक मत या शून्यवाद। इस मत के अनुसार यह संसार शून्य है। बाह्य तथा अन्तर, सभी विषय असत् हैं, इसलिए इस मत को *शून्यवाद* कहते हैं।

(२) योगाचार मत या विज्ञानवाद। इस मत के अनुसार सभी बाह्य पदार्थ असत् है। जो वस्तु दिखाई देती है वह चित्त की एक प्रतीति मात्र है। किंतु चित्त के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं हो सकता। इस मत को *विज्ञानवाद* कहते हैं।

(३) सौत्रांतिक मत। इस मत के अनुसार बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार की प्रतीतियाँ सत् हैं। इस मत में किसी वस्तु को जब हम देखते हैं तब वस्तुतः वस्तु

के मानसिक आकार को ही प्रथमत: प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। उस आकार से उसके कारण अर्थात् बाह्य वस्तु का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार हम बाह्य वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं। इसे *बाह्यानुमेयवाद* कहते हैं।

(४) वैभाषिक मत। इस मत में तथा सौत्रांत्रिक मत में बहुत कुछ समानता है। दोनों मतों के अनुसार सभी प्रतीतियाँ सत् हैं। किंतु बाह्य पदार्थों के ज्ञान की प्रक्रिया में मतभेद है। वैभाषिकों के अनुसार बाह्य वस्तुओं को ही प्रत्यक्ष देखते हैं। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान हमें मानसिक चित्रों या प्रतिरूपों के द्वारा अनुमान से नहीं होता। इस मत को बाह्य प्रत्यक्षवाद कहते हैं।

धार्मिक प्रश्नों को लेकर बौद्ध मत में दो प्रसिद्ध संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है : *(१) हीनयान* तथा *(२) महायान*। हीनयान अधिकतर दक्षिण भारत, श्रीलंका, बर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों में प्रचलित है। महायान मुख्यत: तिब्बत, चीन तथा जापान में प्रचलित है। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद महायान के अंतर्गत और सौत्रांतिक तथा वैभाषिक हीनयान के अंतर्गत हैं। दोनों संप्रदायों में इस बात को लेकर मतभेद है कि निर्वाण का क्या उद्देश्य है? हीनयान के अनुसार निर्वाण इसलिए अभीष्ट है कि उसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने दु:खों का अंत कर सकता है। किंतु महायान के अनुसार निर्वाण का उद्देश्य केवल अपना ही अंत करना नहीं है, वरं पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है जिसकी सहायता से दु:ख-त्रस्त सभी प्राणियों को दु:ख से मुक्त किया जा सके।

आस्तिक दर्शन

१. न्याय-दर्शन

न्याय वस्तुवादी दर्शन है। इसके प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं। यह दर्शन सोलह पदार्थ मानता है। वे ये हैं :- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। इसके अनुसार चार प्रमाण हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। वस्तुओं के साक्षात् ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इसकी उत्पत्ति वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से होती है। प्रत्यक्षज्ञान बाह्य तथा अंतर के भेद से दो तरह का होता है। जिस विषय का प्रत्यक्ष होता है उसका संयोग आँख, कान जैसे बाह्य इंद्रियों से हो तो उसे बाह्य-प्रत्यक्ष कहते हैं। किंतु यदि केवल मन से संयोग हो, तो उसे अंतर या मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुमान केवल इंद्रिय के द्वारा नहीं होता। यह किसी ऐसे लिंग या साधन के ज्ञान पर निर्भर करता है, जिससे अनुमित वस्तु या साध्य का एक नियम संबद्ध रहता है। इस नियम या अव्यभिचारी संबंध को व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्ति के द्वारा उत्पन्न ज्ञान अनुमिति कहलाता है।

उपमान प्रमाण द्वारा संज्ञा तथा संज्ञी के संबंध का ज्ञान होता है। सादृश्य-ज्ञान के द्वारा जो संज्ञा और संज्ञी का संबंध स्थापित होता है उससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे उपमिति कहते हैं।

आप्त अर्थात् विश्वासयोग्य पुरुषों की उक्तियों से अज्ञात वस्तुओं के संबंध में जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे शाब्दबोध कहते हैं। यहाँ शब्द ही प्रमाण है। नैयायिक इन चार के अतिरिक्त और किसी प्रमाण को नहीं मानते। उनके अनुसार अन्य सभी प्रमाण इन्हीं चार प्रमाणों के अंतर्गत हैं।

न्याय-दर्शन के अनुसार निम्नोक्त विषय प्रमेय कहे जाते हैं- आत्मा, देह, इंद्रिय तथा उनके द्वारा ज्ञातव्य विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख तथा अपवर्ग (**आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन:प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम्** १/१/९ न्यायसूत्र)। अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह न्याय का भी लक्ष्य आत्मा को दु:खों से मुक्त करना है। आत्मा शरीर तथा मन से भिन्न है। शरीर का निर्माण पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण से होता है। मन अणु है- सूक्ष्म, नित्य तथा अविभाज्य। मन आत्मा के लिए सुख, दु:ख आदि मानसिक गुणों का अनुभव के निमित्त एक कारण है। अत: मन को अंतरिंद्रिय कहते हैं। चैतन्य आत्मा का कोई नित्य गुण नहीं है। यह आगंतुक गुण है। जब मन और इंद्रियों के द्वारा आत्मा किसी विषय से संबद्ध होता है तभी उस विषय का चैतन्य या ज्ञान आत्मा को होता है। मुक्त होने पर आत्मा इन संपर्कों से रहित हो जाता है। ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। मन परमाणु के सदृश सूक्ष्मतम हैं, किंतु आत्मा विभु, अमर तथा नित्य है। आत्मा ही सांसारिक विषयों में आसक्त या उनसे अनासक्त होता है। यही विषयों से राग या द्वेष करता है। कर्मों के अच्छे-बुरे फलों का उपभोग इसी को करना पड़ता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा जब सभी दु:खों का अंत हो जाता है तो मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था को अपवर्ग कहते हैं। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि यह अवस्था आनंदमय होती है। किंतु नैयायिक इसे नहीं मानते।

नैयायिक ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं। इनके अनुसार ईश्वर संसार के सृजन, पोषण तथा संहार आदि का निमित्त कारण है।

२. वैशेषिक-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। इसका न्याय-दर्शन के साथ बड़ा साम्य है। इसका उद्देश्य भी मनुष्य को अपवर्ग प्राप्त कराना है। इसके अनुसार इस संसार में सात पदार्थ हैं- *द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव।*

द्रव्य गुणों तथा कर्मों का आश्रय है तथा उनसे भिन्न है। द्रव्य नौ प्रकार के हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन। उनके गुण क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द हैं। पृथ्वी,जल, अग्नि तथा वायु क्रमशः चार प्रकार के परमाणुओं से बने हुए हैं। परमाणुओं की सृष्टि नहीं होती। वे शाश्वत हैं। किसी भौतिक पदार्थ के सबसे छोटे-छोटे टुकड़ों को, जिनका और अधिक विभाजन नहीं हो सकता, परमाणु कहते हैं। आकाश, दिक् तथा काल अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं। ये एक-एक, नित्य तथा विभु हैं। मन भी नित्य है किंतु विभु नहीं हैं। यह परमाणु स्वरूप तथा अंतरिन्द्रिय है। मन में एक साथ एक ही अनुभूति हो सकती है, क्योंकि यह परमाणु रूप है। आत्मा नित्य तथा सर्वव्यापी द्रव्य है। मनुष्य को मन के द्वारा अपने आत्मा की अनुभूति होती है। सांसारिक वस्तुओं के निर्माता के रूप में ईश्वर अर्थात् परमात्मा का अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है।

गुण उसे कहते हैं जो केवल द्रव्यों में पाया जाता है, गुण में गुण नहीं रहता, न उसमें कर्म ही रहता है। गुण चौबीस हैं- रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, संस्कार, धर्म तथा अधर्म।

समस्त क्रियायें **कर्म** नामक पदार्थ है। यह भी केवल द्रव्य में ही रहता है। पाँच प्रकार के कर्म होते हैं- उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

किसी वर्ग के साधारण धर्म को **सामान्य** कहते हैं। सभी गौओं में एक समानता है जिसके कारण उन सबों में एक जैसी प्रतीति होती है तथा उन्हें अन्य प्राणियों से पृथक् करती है। यह समानता है उन सबमें पाया जाने वाला गोत्व धर्म। इस समानता रूप गोत्व धर्म को ही सामान्य या जाति कहते हैं। यह सामान्य अथवा जाति पदार्थ नित्य माना गया है।

विशेष वह पदार्थ है जो नित्य द्रव्यों के पार्थक्य का मूल कारण है। साधारणतः वस्तुओं की भिन्नता उनके अवयवों तथा गुणों के द्वारा की जाती है। किंतु एक प्रकार के परमाणु का पारस्परिक विभेद किस तरह किया जायगा? प्रत्येक परमाणु की अपनी विशेषता होती है। अन्यथा सभी पार्थिव परमाणुओं के पार्थिव होने के कारण विभेद संभव नहीं होता। परमाणुओं की जो अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, उन्हें विशेष कहते हैं। विशेषों को मानने के कारण ही इस दर्शन को *'वैशेषिक दर्शन'* कहते हैं।

नित्य संबंध को **समवाय** कहते हैं। अवयवी का अवयवों के साथ, गुण या कर्म का द्रव्य के साथ, सामान्य का व्यक्तियों के साथ समवाय संबंध होता है। वस्त्र का अस्तित्व उसके धागों में है। धागों के बिना वस्त्र नहीं रह सकता है। हरित वर्ण,

मधुर स्वाद, सुगंध आदि गुण तथा सभी प्रकार के कर्म द्रव्य के ही आश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण तथा कर्म नहीं रह सकते हैं। इनके इस तरह के नित्य संबंध को समवाय कहते हैं।

किसी वस्तु के नहीं रहने को उसका '**अभाव**' कहते हैं। अभाव चार प्रकार के होते हैं- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव तथा अन्योन्याभाव। प्रथम तीन प्रकार के अभावों को संसर्गाभाव कहते हैं। संसर्गाभाव में दो वस्तुओं के संसर्ग का अभाव रहता है। किसी वस्तु की उत्पत्ति के पहले उपादान में जो उसका अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। किसी वस्तु के नष्ट हो जाने के बाद जो उस वस्तु का अभाव हो जाता है, उसे ध्वंसाभाव कहते हैं। दो वस्तुओं में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य अर्थात् सर्वदा के लिए जो संबंध का अभाव रहता है, उसे अत्यंताभाव कहते हैं। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव अन्योन्याभाव है।

यह दर्शन प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो प्रमाण ही मानता है। ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में वैशेषिक तथा न्याय मतों में पूरा साम्य है। **प्रस्तुत पुस्तक तर्कसंग्रह में न्याय-वैशेषिक दर्शनों का ही विवेचन है।**

३. सांख्य-दर्शन

महर्षि कपिल इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। सांख्य के अनुसार मूलतः दो प्रकार के तत्त्व हैं : पुरुष (आत्मा) और प्रकृति। पुरुष चेतन है। चैतन्य इसका आगंतुक गुण नहीं, वरं स्वरूप ही है। यह नित्य है। प्रकृति के परिणामों के उपभोग के लिए भोक्ताओं की आवश्यकता है। ये भोक्ता पुरुष ही हैं जो प्रकृति से भिन्न हैं। पुरुष एक नहीं, अनेक हैं।

प्रकृति इस संसार का आदि कारण है। यह एक नित्य और जड़ पदार्थ है तथा सर्वदा परिवर्तनशील है। इसका लक्ष्य पुरुष के उद्देश्य-साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सत्त्व, रज तथा तम, ये प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं। सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं। गुण पद यहाँ पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त है। जिस प्रकार कोई रस्सी तीन डोरियों की बनी होती है, उसी प्रकार प्रकृति तीन तरह के मौलिक तत्त्वों से बनी हुई है। ये तीनों गुण ही सुख, दुःख तथा मोह के जनक हैं। कारण तथा कार्य में वास्तविक भिन्नता नहीं है। कार्य कारण का परिणाम है। सांख्य का कार्य-कारण का यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है। संसार के सभी विषय परिणाम हैं जिनके कारण सुख, दुःख या विषाद का अनुभव होता है। प्रकृति ही जिसका दूसरा नाम प्रधान है, सांसारिक वस्तुओं का मूल कारण है। पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारंभ होता है। प्रकृति के तीन गुणों की साम्यावस्था पुरुष के संयोग होने से नष्ट होती है। जगत् की सृष्टि इस क्रम से होती है। सत्त्व का

आधिक्य होने से प्रकृति के सर्वप्रथम परिणाम महत् की उत्पत्ति होती है। महत् को बुद्धि भी कहते हैं। यही जगत् की सृष्टिकारिणी बुद्धि है। बुद्धि का परिणाम अहंकार है। आत्मा अहंकार का संयोग होने से अपने को 'कर्ता' समझता है। किंतु वस्तुत: आत्मा स्वयं कर्ता नहीं है। अहंकार में जब सत्त्वगुण का बाहुल्य होता है तो उसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन की सृष्टि होती है। अहंकार में जब तम की प्रचुरता रहती है तब उससे तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध पाँच तन्मात्र हैं। पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल तथा गंध से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सांख्य में सब मिलकार २५ तत्त्व हैं। इनमें पुरुष को छोड़कर सभी तत्त्व प्रकृति के अंतर्गत हैं, क्योंकि सभी भौतिक तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति ही है। प्रकृति का कोई कारण नहीं है। महत्, अहंकार तथा पंच तन्मात्रा अपने-अपने कारणों के परिणाम या कार्य भी हैं और अपने कार्यों के कारण भी हैं। ग्यारह इंद्रियाँ तथा पाँच महाभूत अपने-अपने कारण के केवल कार्य ही हैं। ये स्वयं किसी ऐसे परिणाम का कारण नहीं है, जिनका स्वरूप इनसे भिन्न हो। पुरुष न तो किसी का कारण है, न किसी का परिणाम ही है।

पुरुष निरपेक्ष तथा नित्य है। किंतु अविद्या के कारण वह अपने को शरीर, इंद्रिय तथा मन से पृथक् नहीं समझता। पुरुष और प्रकृति में अविवेक (अर्थात् विभेद नहीं करने) के कारण हमें दु:खों से पीड़ित होना पड़ता है। हमारे मनोगत सुख तथा दु:ख आत्मा को भी प्रभावित करते हैं, क्योंकि हम मन तथा आत्मा का भेद भली-भाँति समझ नहीं सकते। ज्यों ही हमें विवेक होता है अर्थात् ज्यों ही पुरुष का शरीर, इंद्रिय, मन, अहंकार तथा बुद्धि के भेद समझने लगते हैं, त्यों ही हमारे सुखों तथा दु:खों का अंत हो जाता है। तब पुरुष का संसार के साथ कोई अनुराग नहीं रहता और यह संसार के घटना-क्रम का साक्षी या द्रष्टामात्र रह जाता है। इस अवस्था को मुक्ति या कैवल्य कहते हैं। शरीर रहते हुए भी मुक्त पुरुष इससे ममत्व हटा लेते हैं। इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। देहांत के बाद, जब मुक्त पुरुष का शरीर भी नष्ट हो जाता है, तो उसे विदेह-मुक्ति कहते हैं। आत्मज्ञान के लिए जो साधना की आवश्यकता है उसका सांगोपांग वर्णन 'योग-दर्शन' में किया गया है।

सांख्य-दर्शन निरीश्वर है। यह दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों को मानता है।

४. योग-दर्शन

योग तथा सांख्य में बहुत अधिक साम्य है। महर्षि पतंजलि योग के प्रवर्तक हैं। यह सांख्य के २५ तत्त्वों के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है। योग-

दर्शन का प्रमुख विषय योगाभ्यास है। सांख्य के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख साधन विवेक-ज्ञान है। विवेक-ज्ञान की प्राप्ति प्रधानतः योगाभ्यास से ही हो सकती है। 'योग' चितवृत्ति के निरोध को कहते हैं। योग दो प्रकार के होते हैं : *संप्रज्ञात* तथा *असंप्रज्ञात*। 'संप्रज्ञात' उस योग या समाधि को कहते हैं जिसमें चित्त ध्येय-विषय में पूर्णतया तन्मय हो जाता है, जिससे चित्त को उस विषय का पूर्णतया स्पष्टज्ञान होता है। 'असंप्रज्ञात' उस योग को कहते हैं जिससे मन की सभी क्रियाओं का निरोध हो जाता है। फलस्वरूप ध्येय-विषय के साथ-साथ अन्य सभी विषयों के ज्ञान का लोप हो जाता है। केवल स्वप्रकाश आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

योगदर्शन भी सांख्य दर्शन के अनुसार तीन प्रमाण मानता है।

योगाभ्यास के आठ अंग हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अभ्यास करना ही *'यम'* है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान, इन आचारों का अभ्यास *'नियम'* कहलाता है। आनंदप्रद शारीरिक स्थिति को *'आसन'* कहते हैं। नियंत्रित रूप से श्वास के ग्रहण, धारण तथा त्याग को *'प्राणायाम'* कहते हैं। इंद्रियों को विषयों से हटाने का नाम *'इंद्रियसंयम'* अर्थात् *'प्रत्याहार'* है। चित्त को शरीर के अंदर या बाहर की किसी वस्तु पर केंद्रीभूत करने को *'धारणा'* कहते हैं। किसी विषय का सुदृढ़ तथा अविराम चिंतन *'ध्यान'* कहलाता है। *'समाधि'* चित्त की वह अवस्था है जिसमें ध्यानशील चित्त ध्येय-विषय में तल्लीन हो जाता है।

योग-दर्शन को *सेश्वर-सांख्य* भी कहते हैं। योग के अनुसार चित्त की एकाग्रता के लिए तथा आत्म-ज्ञान के लिए ईश्वर ही ध्यान का सर्वोत्तम विषय है। ईश्वर पूर्ण, नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वदोषरहित है।

५. मीमांसा-दर्शन

मीमांसासूत्र के रचयिता महर्षि जैमिनि हैं। मीमांसा को 'पूर्वमीमांसा' भी कहते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य वैदिक-कर्मकांड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करना है। कर्मकांड का आधार वेद है। मीमांसा के अनुसार वेद अपौरुषेय तथा नित्य है। वेद का प्रकाश ऋषियों के द्वारा हुआ है। वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए मीमांसा-दर्शन में प्रमाणों का सविस्तर विचार हुआ है। इस दर्शन के अनुसार सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण हैं। अतः वेद का भी स्वतःप्रामाण्य है। उनमें यदि कहीं किसी संदेह की उत्पत्ति होती है तो उसका निराकरण मीमांसा की युक्तियों के द्वारा होता है। बाधाओं के दूर हो जाने पर वैदिक ज्ञान स्वयं प्रकटित हो जाता है। अतः वेद की प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

वेद द्वारा विहित कर्म ही धर्म है। वेद जिस कर्म का निषेध करता है वह अधर्म है। विहित कर्मों का पालन तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग धर्म कहलाता है। नित्यकर्मों के निष्काम आचरण से पूर्वार्जित कर्मों का नाश होता है और देहांत होने पर मुक्ति मिलती है।

आत्मा नित्य है। वेद के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति के लिए धर्म का आचरण करना चाहिए। मीमांसक यह नहीं स्वीकार करते कि 'चैतन्य' आत्मा का स्वरूप लक्षण है। इनके मत में चैतन्य की उत्पत्ति शरीर के साथ आत्मा के संयोग से होती है।

मीमांसा की एक शाखा के प्रवर्तक प्रभाकर थे। प्राभाकर-मीमांसा के अनुसार प्रमाण पाँच प्रकार के हैं- *प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द* तथा *अर्थापत्ति*।

मीमांसा की एक दूसरी शाखा *कुमारिल भट्ट* की है। भाट्ट-मीमांसा के अनुसार उपर्युक्त पाँच प्रमाण के अतिरिक्त एक और प्रमाण है। इस छठे प्रमाण को *अनुपलब्धि* या *अभाव* कहते हैं।

मीमांसा दर्शन भौतिक जगत् को मानता है। मीमांसा बाह्य सत्तावादी है। यह दर्शन किसी जगत्-स्रष्टा, परमात्मा या ईश्वर को नहीं मानता। जगत् अनादि तथा अनंत है, न इसकी कभी सृष्टि हुई, न प्रलय होता है। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म एक स्वतंत्र शक्ति है जिससे संसार परिचालित होता है। मीमांसा के अनुसार,जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे '*अपूर्व*' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। अतः इस लोक में किए गए कर्मों के फल का उपभोग परलोक में किया जा सकता है।

६. वेदांत-दर्शन

वेदांत-दर्शन का बीज उपनिषद् साहित्य को माना जाता है। महर्षि बादरायण ने वेदान्तसूत्रों अथवा ब्रह्मसूत्रों की रचना की है। ब्रह्मसूत्रों पर अनेक भाष्यकारों ने भाष्य लिखे हैं। ब्रह्मसूत्रों पर लिखे गये भाष्यों के आधार पर वेदान्त दर्शन के कई सम्प्रदाय हो गये। इनमें शंकर तथा रामानुज के भाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में ऐसे पुरुष की कल्पना की गई है जो समूचे ब्रह्मांड में व्याप्त है तथा ब्रह्मांड से भी परे है। इस सूक्त में संसार के जड़ तथा चेतन सभी पदार्थों को, मनुष्यों को तथा देवताओं को उस परम पुरुष का अंग माना गया है। इस ऐक्य-भाव का विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में उसे सत्, आत्मन् या ब्रह्मन् कहा गया है। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित

है तथा प्रलय होने पर इसी में विलीन हो जाता है। संसार का नानात्व असत् है। उसकी एकता ही एकमात्र सत्य है। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति किञ्चन* इत्यादि उपनिषदों के वाक्य इसका प्रमाण हैं।

आचार्य शंकर के मतानुसार पारमार्थिक सत्ता एक है तथा संसार की सत्ता वास्तविक नही है। ईश्वर अपनी माया-शक्ति से संसार का इंद्रजाल रचता है। जैसे कभी-कभी रस्सी साँप के रूप में मालूम पड़ती है, सीप को देखकर रजत (चाँदी) का धोखा हो जाता है। ऐसे अनुभव भ्रम कहलाते हैं। सभी प्रकार की भ्रांतियों में एक अधिष्ठान रहता है जो सत्य होता है। ऊपर के उदाहरणों में रस्सी तथा सीप ऐसे अधिष्ठान हैं। अज्ञान के कारण ऐसे अधिष्ठानों पर अन्य वस्तुओं का अभ्यास या आरोप होता है। अध्यस्त वस्तु सत्य नहीं होती। ऊपर के उदाहरणों में साँप तथा रजत अध्यस्त हैं। अज्ञान से अधिष्ठान का केवल आवरण ही नहीं होता वरन् विक्षेप भी होता है। विश्व की अनेकरूपता की व्याख्या इसी प्रकार की जा सकती है। ब्रह्म एक है, अतः अविद्या के कारण उसमें अनेक की प्रतीति होती है।

उपर्युक्त विचारों को युक्तिपूर्ण बनाने के लिए शंकर दो दृष्टियों का विभेद करते हैं- व्यावहारिक सृष्टि तथा पारमार्थिक दृष्टि। व्यावहारिक दृष्टि साधारण मनुष्यों के लिए है, जो संसार को सत् मानते हैं। हमारा व्यावहारिक जीवन इसी दृष्टि पर निर्भर है। इसके अनुसार संसार सत्य है। ईश्वर इसका सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान स्रष्टा, रक्षक तथा संहारक है। इस दृष्टि से ईश्वर के अनेक गुण हैं, अर्थात् वह सगुण है। शंकर, इस दृष्टि के अनुसार, ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। इसके अनुसार आत्मा एक शरीर-बद्ध सत्ता है। इसमें अहंभाव की उत्पत्ति होती है।

पारमार्थिक दृष्टि ज्ञानियों की है जो यह समझ जाते हैं कि संसार मायिक है और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। संसार की असत्यता का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म को स्रष्टा नहीं माना जा सकता। ब्रह्म के लिए सर्वज्ञता का, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ब्रह्म में स्वगतभेद भी नहीं रहता है। इस पारमार्थिक दृष्टि के अनुसार ब्रह्म निर्विकल्प तथा निर्गुण हो जाता है। इसे निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। इसके अनुसार शरीर भी भ्रांति-मूलक हो जाता है और आत्मा तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता है।

रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता है। अचेतन प्रकृति और चित् या चेतन आत्मा ईश्वर के ही अंश हैं। ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। इसमें अच्छे-अच्छे सभी गुण वर्त्तमान हैं। ईश्वर में जड प्रकृति (माया) सर्वदा विद्यमान रहती है। ईश्वर में विद्यमान मायातत्त्व से इस संसार की उसी प्रकार उत्पत्ति

होती है जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से अपने जाले की सृष्टि करती है। आत्मा भी सर्वदा ईश्वर में वर्तमान रहते हैं। वे अणु हैं। उनका स्वरूप स्वभावतः चिन्मय है। वे स्वयं प्रकाशमान हैं। कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा को शरीर-धारण करना पड़ता है। शरीरयुक्त होना ही बंधन है। *आत्मा का शरीर से पूरा-पूरा संबंध-विच्छेद* 'मोक्ष' कहलाता है। अज्ञान से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म ही बंधन का कारण है। बंधन की अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहचानता। वह शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है। अतः उसके आचरण भी उसी प्रकार के होते हैं। वह इंद्रिय-सुख के लिए लालायित रहता है। वह संसार में आसक्त हो जाता है और इसी आसक्ति के कारण उसे बराबर जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। अनासक्त भाव से वेदविहित कर्मों का आचरण करने से कर्मों की संचित शक्ति नष्ट हो जाती है और अनंत ज्ञान प्राप्त होता है। साथ-साथ यह ज्ञान भी प्राप्त होता कि ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है जो प्रेम के योग्य है। मनुष्य अहर्निश ईश्वर की भक्ति करने लगता है तथा अपने को ईश्वर को अर्पित कर देता है। ईश्वर भक्ति से प्रसन्न होते हैं और भक्त को बंधन से मुक्त कर देते हैं। मुक्त आत्मा देहांत के बाद कभी जन्म ग्रहण नहीं करता, वह ईश्वर सदृश हो जाता है। ईश्वर के समान उसका भी चैतन्य विशुद्ध तथा दोषरहित हो जाता है, किंतु ये एक नहीं हो जाते, क्योंकि आत्मा अणु तथा ईश्वर विभु है। अणु विभु नहीं हो सकता।

रामानुज के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सत् है। ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत् नहीं है। किन्तु ईश्वर के अंतर्गत अनेक सत् हैं। संसार की सृष्टि सत्य है। अतः, रामानुजीय दर्शन विशुद्ध अद्वैत नहीं है। इसे 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। यह अद्वैतवाद इसलिए है कि एक ईश्वर को ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्य मानता है। किंतु ईश्वर अन्य सत्यों से, अर्थात्, चिन्मय आत्माओं से तथा अचित् पदार्थों से युक्त होकर एकमात्र सत्य है। अत एव इस दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

वेदान्त दर्शन में शांकर सम्प्रदाय तथा रामानुज सम्प्रदाय के अतिरिक्त निम्बार्क सम्प्रदाय, माधव सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय आदि भी हैं।

काश्मीरीय शैव दर्शन

शांकर वेदान्त में माया को अनिर्वचनीय कहा है। माया को अनिर्वचनीय कहने से जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त नहीं होती और वह इस पर पुनः गहन विचार करता है। तब उसे ज्ञात होता है कि परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक दर्शन की नितान्त अपेक्षा है और ये सभी दर्शन एक ही सूत्र में बंधे हुए हैं। एक दूसरे के बिना अपने अस्तित्व का समर्थन ही नहीं कर सकते। आगे की अवस्था को समझाने के लिए पूर्व-पूर्व की अवस्था का पूर्ण परिचय रखना नितान्त आवश्यक है? इस प्रकार

प्रत्येक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ समन्वय है। इन सब में कोई भी वास्तविक विरोध नहीं है तथापि एक दर्शन दूसरे दर्शन से अत्यन्त भिन्न है। दो दर्शन कभी भी एक ही मत का प्रतिपादन नहीं करते और न करना उचित ही है। फिर भी स्थूल दृष्टि वालों को दर्शनों में जो परस्पर विरोध मालूम होता है, उसका पहला कारण है समझने वालों का 'अज्ञान' और दूसरा है 'दृष्टिकोण का भेद'। पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में दार्शनिक विचार को कितने सुन्दर शब्दों में कहा है–

'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

इन बातों से यह स्पष्ट है कि सभी दर्शनों में परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है और परमानन्द की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के सहायक हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन 'समानतन्त्र' हैं

न्याय और वैशेषिक दर्शन मूलतः भिन्न होते हुए भी समानतन्त्र कहे जाते हैं। दोनों दर्शनों के आचार्यों ने इनके तत्वों का मिला जुला विवेचन किया है। दोनों के उद्देश्य समान हैं– दोनों ही निःश्रेयस् की प्राप्ति को अपना चरम लक्ष्य मानते हैं। दोनों दर्शनों का वर्ण्य–विषय भी लगभग समान है– अतः ईश्वर, आत्मा, मनस्, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि के परमाणुओं, दिक्, काल और आकाश के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। दोनों के पदार्थों का विवेचन, उनके सूत्र आदि में एक दूसरे के पूरक लक्षण विद्यमान हैं। न्यायसूत्रों में बहुत से सूत्र वैशेषिक दर्शन से गृहीत हैं–विशेष रूप से भौतिक पदार्थों के विवेचन करने वाले सूत्र। न्याय में मनस् इन्द्रिय का विवेचन वैशेषिक से गृहीत है। इसी प्रकार–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक छह तत्वों को न्याय ने वैशेषिक से ही लिया है। वात्स्यायन ने न्याय–भाष्य में लिखा भी है – **''अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्।''** 'षड्दर्शन समुच्चय' की 'तर्करहस्यदीपिका' नामक टीका में लिखा है – **''नैयायिक–वैशेषिकानां ही मिथः प्रमाणतत्वानां संख्याभेदेऽपि अन्योऽन्यं तत्त्वानामन्तर्भावनेऽल्पीयानेव भेदो जायते। तेनैतेषां प्रायो मततुल्यता।''** अर्थात् न्याय–वैशेषिक दर्शन के प्रमाण–तत्त्वों का परस्पर संख्या भेद होने पर भी परस्पर एक दूसरे से अन्तर्भूत होने से बहुत कम भेद है। अतः इन दोनों में साम्य है।

अतः कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल से ही दोनों दर्शनों में समानता रही है। दोनों विचारधारायें एक शास्त्र के दो प्रकरण के समान हैं। न्याय में प्रमाणमीमांसा पर अधिक आग्रह है और वैशेषिक में पदार्थ मीमांसा पर। दोनों ही–प्रमाण एवं पदार्थ मिलकर पूर्णता को प्राप्त करते हैं। क्योंकि बिना प्रमाणज्ञान के पदार्थज्ञान सम्भव नहीं है और पदार्थज्ञान के बिना प्रमाणज्ञान की उपयोगिता भी निरर्थक है।

यद्यपि दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सम्पर्क बहुत पुराने समय से है परन्तु बाह्य दृष्टि से एक ही ग्रन्थ में दोनों का मिश्रण कर देने का कार्य सर्वप्रथम संभवत: शिवादित्य ने किया। शिवादित्य ने 'सप्तपदार्थी', नामक ग्रन्थ लिखा, जिसको दोनों सम्प्रदायों का सबसे पहिला सम्मिलित प्रक्रिया ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके 'लक्षणावली', 'कुसुमाञ्जलि', 'आत्मतत्त्वविवेक' आदि उदयनाचार्य के ऐसे ग्रन्थ हैं, जो दोनों ही (न्याय और वैशेषिक) सम्प्रदायों के समान रूप से समझे जा सकते हैं। दसवीं शताब्दी में दोनों सम्प्रदायों की एकता इतनी पूर्ण हो चुकी थी कि श्रीधर ने वैशेषिक दर्शन सम्बन्धी प्रशस्तपाद की टीका का नाम 'न्याय' शब्द जोड़ते हुए 'न्यायकन्दली' रखा है। ११वीं सदी के बाद से दोनों सम्प्रदाय एक सामान्यदर्शन के रूप में रहे हैं जिसके लिए 'न्याय-वैशेषिक' सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग आवश्यक है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह दोनों ही समानतन्त्र दर्शन हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों में परस्पर भेद :-

समान तन्त्र हो हुए भी इन दोनों दर्शनों में जिन बातों में भेद हैं, वे द्रष्टव्य हैं:-

(क) न्याय-दर्शन में 'प्रमाणों' का विशेष विचार है। प्रमाणों के ही द्वारा तत्त्वज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। साधारण लौकिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर न्यायशास्त्र के द्वारा तत्त्वों का विचार किया जाता है। न्यायमत में सोलह 'पदार्थ' हैं और बारह 'प्रमेय' हैं।

वैशेषिक-दर्शन में 'प्रमेयों' का विशेष विचार है। इस शास्त्र के अनुसार तत्त्वों का विचार करने में लौकिक दृष्टि से दूर भी शास्त्रकार जाते हैं। इनकी दृष्टि सूक्ष्म जगत् के द्वार तक जाती है। इसलिए इस शास्त्र में प्रमाण का विचार गौण समझा जाता है। वैशेषिकमत में सात 'पदार्थ' हैं और नौ 'द्रव्य' हैं।

(ख) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चार प्रमाणों को न्याय-दर्शन मानता है, किन्तु वैशेषिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान इन्हीं, दो प्रमाणों को मानता है। इनके अनुसार 'शब्दप्रमाण' अनुमान में अन्तर्भूत है।

(ग) न्याय-दर्शन के अनुसार जितनी इन्द्रियाँ हैं उतने प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं; जैसे - चाक्षुष, श्रावण, रासन, घ्राणज तथा स्पार्शन। किन्तु वैशेषिक के मत में एकमात्र 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष ही माना जाता।

(घ) न्याय-दर्शन के मत में 'समवाय' का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वैशेषिक के अनुसार इसका ज्ञान अनुमान से होता है।

(ङ) न्याय-दर्शन 'पिठरपाकवादी' तथा वैशेषिक दर्शन 'पीलुपाकवादी' है। इस विषय का विवेचन तर्क संग्रह की प्रस्तुत हिन्दी टीका में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणों के विवेचन के प्रसंग में किया गया है।

(च) नैयायिक असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम तथा कालात्यया-पदिष्ट, ये पाँच 'हेत्वाभास' मानते हैं, किन्तु वैशेषिक विरुद्ध, असिद्ध तथा संदिग्ध ये ही तीन 'हेत्वाभास' मानते हैं।

(छ) नैयायिकों के मत में पुण्य से उत्पन्न 'स्वप्न' सत्य और पाप से उत्पन्न 'स्वप्न' असत्य होते हैं, किन्तु वैशेषिक के मत में सभी 'स्वप्न' असत्य हैं।

(ज) नैयायिक लोग 'शिव' के भक्त हैं और वैशेषिक 'महेश्वर' या 'पशुपति' के भक्त हैं। आगम-शास्त्र के अनुसार इन देवताओं में परस्पर भेद है।

(झ) इनके अतिरिक्त 'कर्म की स्थिति' में, 'वेगाख्य संस्कार' में, 'सखण्डोपाधि' में, 'विभागज विभाग' में, 'द्वित्व संख्या की उत्पत्ति' में, 'विभुओं के बीच अज संयोग में', 'आत्मा के स्वरूप' में, 'अर्थ-शब्द के अभिप्राय' में, 'सुकुमारत्व' और 'कर्कशत्व' जाति के विचार में, 'अनुमान के सम्बन्धों' में, 'स्मृति के स्वरूप' में, 'आर्ष-ज्ञान' में तथा 'पार्थिव शरीर के विभागों' में भी परस्पर इन दोनों शास्त्रों में मतभेद हैं।

इस प्रकार ये दोनों शास्त्र कतिपय सिद्धान्तों में भिन्न-भिन्न मत रखते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं। इनके अन्य सिद्धान्त परस्पर लागू होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ **तर्कसंग्रह के बारे में** - भारत में बौद्ध धर्म के पतन के बाद, भारतीय इतिहास के एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव भारतीय संस्कृति के अन्य भागों की भाँति दार्शनिक क्षेत्र पर भी पड़ा और न्याय साहित्य के निर्माण में उसने एक नवीन प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियाँ इस परिवर्तन का संक्रान्तिकाल थीं। उनमें निर्माण होनेवाले न्याय साहित्य की शैली भी बदली हुई है और १२वीं शताब्दी में तो उसमें अत्यधिक परिवर्तन हो गया है। इसीलिये इस काल के न्याय साहित्य को **'नव्य न्याय'** नाम से कहा जाता है।

नव्य न्याय की विशेषताओं में से प्रथम विशेषता यह है कि उसमें प्राचीन सूत्र पद्धति की उपेक्षा करके स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ किया गया।

नव्यन्याय पद्धति की दूसरी विशेषता है पदार्थों के महत्त्व में आपेक्षिक परिवर्तन। न्याय के षोडश पदार्थों में से जिनका महत्त्व प्राचीन पद्धति में अधिक था वह नव्य युग में बहुत कम हो गया है और जिनका महत्त्व कम था उनका बढ़ गया है।

नव्य न्याय की तीसरी विशेषता है **'प्रकरण ग्रंथ'**। प्रकरण ग्रंथ एक पारिभाषिक शब्द है जिसका लक्षण इस प्रकार है-

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

(पाराशर उपपुराण अ. २८/२१)

अर्थात् शास्त्र के एक अंश के प्रतिपादक और आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्र के उपयोगी अंश को भी प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ भेद को प्रकरण ग्रंथ कहते हैं।

नव्य न्याय में इस प्रकार के जिन अनेक प्रकरण ग्रंथों का निर्माण हुआ है, उनको हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) न्याय के वे प्रकरण ग्रंथ जो केवल एक प्रमाण पदार्थ का निरूपण करते हैं और शेष १५ पदार्थों को प्रमाण के भीतर ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में श्री भासर्वज्ञ (१००० ई.) का **'न्यायसार'** प्रमुख है।

(ख) दूसरे प्रकार के 'प्रकरण ग्रन्थ' वे हैं जो मुख्यत: न्याय के ग्रन्थ होते हुए भी वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का भी समावेश कर लेते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में श्री वरदराज की **'तार्किकरक्षा'** और केशवमिश्र की **'तर्कभाषा'** आदि प्रमुख हैं।

(ग) तीसरे प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं जो मुख्यत: वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थ हैं परन्तु न्यायदर्शन के 'प्रमाण' पदार्थ का पूर्णरूप से उनमें समावेश हो गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में १२ वीं शताब्दी के वल्लभाचार्य की **'न्यायलीलावती'**, **अन्नंभट्ट (१६२३) का 'तर्कसंग्रह'**, विश्वनाथ 'न्यायपञ्चानन' (१६३४) का **'भाषापरिच्छेद'**, लौगाक्षि भास्कर की **'तर्ककौमुदी'** के नाम लिये जा सकते हैं।

(घ) चौथे प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं जिनमें कुछ न्याय और कुछ वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण है जैसे शशधर (११२५) का **'न्यायसिद्धान्तदीप'**।

तर्कसंग्रह में भी अन्नम्भट्ट ने प्रारम्भ में वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों का विवेचन किया है और बुद्धि नामक गुण के विवेचन में न्यायदर्शन के चारों प्रमाणों का विवेचन कर दिया है। न्यायदर्शन के अन्य पदार्थों का समावेश वैशेषिक दर्शन के किन किन पदार्थों में किया गया है, इसका विवेचन इस ग्रन्थ के उद्देश प्रकरण की हिन्दी व्याख्या में किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में मूल तर्कसंग्रह की **'आशा' नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या** के साथ ही चन्द्रजसिंहविरचित संस्कृत भाषा में **'पदकृत्य' टीका** तथा **उसका हिन्दी अनुवाद** एवं स्वयं अन्नम्भट्ट द्वारा संस्कृत भाषा में लिखी गयी तर्कसंग्रह की **तर्कदीपिका** टीका भी मूल रूप में दी गयी है।

आशा है सभी स्तरों के विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा

॥ ॐ परमात्मने नमः॥

तर्कसंग्रहः

दीपिका-पदकृत्य-हिन्दी-टीकासहितः

अथ प्रत्यक्ष-परिच्छेदः

मंगलाचरणम्

१. निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रहः॥

विश्व के स्वामी ईश्वर को हृदय में धारण कर तथा गुरुजी के चरणों की वन्दना करके बालकों को सुख से तर्क शास्त्र का ज्ञान कराने के लिए तर्कसंग्रह ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

आशा मंगलाचरण - तर्क संग्रह का यह प्रथम श्लोक मङ्गल के लिये है। किसी भी कार्य के आरम्भ में मंगल अवश्य करना चाहिए-यह सिद्धान्त केवल नैयायिकों, वैशेषिकों आदि का ही नहीं, अपितु व्याकरण-महाभाष्यकार पतंजलि आदि का भी है। महाभाष्यकार कहते हैं- **'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाण्यध्येतारश्च बुद्धियुक्ता यथा स्युरिति'** (पस्पशाह्निक) अर्थात् ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मंगल अवश्य करना चाहिए। मंगल करने से रचे हुए शास्त्रों का प्रचार-प्रसार होता है। उन ग्रन्थों को पढ़नेवाले लोग वीरता से पूर्ण, दीर्घायु एवं बुद्धिमान होते हैं।

मंगलाचरण के संदर्भ में अन्नम्भट्ट **तर्कदीपिका** में लिखते हैं कि ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति रूप प्रयोजन-सिद्धि के लिये मंगल अवश्य करना चाहिये। ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरण करने का निर्देश वेद में यद्यपि शब्दशः नहीं पाया जाता, फिर भी शिष्ट व्यक्तियों के आचरण स्वरूप ज्ञापक हेतु से यह अनुमान किया जाता है कि मंगल की कर्तव्यता का

बोधक वेदवाक्य अवश्य ही रहा होगा। मीमांसा सूत्र के रचयिता महर्षि जैमिनि कहते हैं कि जहाँ श्रुति शब्दशः कुछ न कहे और शिष्ट लोग वैसा व्यवहार करते हों तो वहाँ श्रुति का अनुमान कर लेना चाहिये (मीमांसा सूत्र १.३३)। अतः मंगलाचरण द्वारा ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के संदर्भ में श्रुति तथा अनुमान इन दोनों को ही प्रमाण माना जा सकता है।

अन्नम्भट्ट ने लिखा है कि 'अलौकिक' तथा 'अविगीत' होने के कारण मंगलाचरण श्रुति सम्मत है। अलौकिक इसलिये है कि वह रागादि के वशीभूत होकर नहीं किया जाता तथा अविगीत इसलिये है कि श्रुति इसका निषेध नहीं करती। भोजन आदि का सेवन रागादि के वशीभूत होकर किया जाता है। अतः ये अलौकिक नहीं है और रात्रिश्राद्ध आदि श्रुति निषिद्ध होने के कारण विगीत ही हैं अविगीत नहीं। जिन ग्रन्थों में मंगलाचरण किया गया है वे निर्विघ्न पूर्ण हो गये अतः इनकी निर्विघ्न पूर्णता के लिये मंगलाचरण कारण है,यह अनुमिति होती है। तर्कदीपिका में इस संदर्भ में यह शंका उठाकर उसका समाधान भी किया गया है कि 'ऐसे उदाहरण विद्यमान है, जहाँ मंगलाचरण किये जाने पर भी ग्रन्थ की पूर्णता नहीं हुयी जैसे किरणावली तथा ऐसे उदाहरण भी विद्यमान है जहाँ मंगल के अभाव में भी ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हो गया जैसे कादम्बरी। इस तरह की आशंकाओं का समाधान करते हुये अन्नम्भट्ट लिखते हैं कि मंगलाचरण होने पर भी ग्रन्थ के पूर्ण न होने का कारण 'विघ्नबाहुल्य' है तथा मंगल के अभाव में ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्णता का कारण लेखक द्वारा ग्रन्थ से बाहर ही मंगलाचरण करना है।' इस प्रकार अनुमान प्रमाण भी मंगल की सार्थकता को सिद्ध करता है। **विशेष**-तर्कदीपिका में दिया गया कादम्बरी का उदाहरण उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि एक तो कादम्बरी के प्रारम्भ में विधिवत् मंगलाचरण विद्यमान है, दूसरा कादम्बरी की निर्विघ्न समाप्ति भी नहीं हुयी है। परन्तु इस सबका कारण तर्कदीपिका की पाण्डुलिपियों में पाठान्तर भी हो सकता है।

यह **मंगल तीन प्रकार** का होता है- १. **आशीर्वादात्मक**, २. **नमस्कारात्म** ३. **वस्तुनिर्देशात्मक**। अपने या अपने शिष्य के लिये वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति के निमित्त परमेश्वर से प्रार्थना करना **आशीर्वाद** है। रत्नावलि आदि ग्रन्थों में आशीर्वादात्मक मंगल है। प्रणाम के योग्य गुरु अथवा परमेश्वर के प्रति अपनी न्यूनता बोधन करने के लिए प्रणाम करने वाले पुरुष के शरीर-मन-वाणीकृत व्यापार विशेष को ही **नमस्कार** कहते हैं। इस तर्कसंग्रह में नमस्कारात्मक मङ्गल है। ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय-वस्तु का निर्देश मात्र करना ही **वस्तुनिर्देश** है। जैसे कुमारसम्भव काव्य के प्रारंभ में वस्तुनिर्देशात्मक मंगल है।

अनुबन्धचतुष्टय - मनुष्य सदा विचारपूर्वक कार्य करता है। **'मत्वा कर्माणि सीव्यति'** (अथर्ववेद १०/७/३२) इसी से मनुष्य कहलाता है। अतः सामान्यतः मनुष्य उस कार्य में प्रवृत्त होता है जिसमें उसे 'इष्टसाधनता' और 'कृतिसाध्यता' का ज्ञान हो। 'इदं मदिष्टसाधनम्' अर्थात् यह कार्य मेरा इष्टसाधन है (इससे मेरे प्रयोजन की सिद्धि होगी), और 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' अर्थात् यह कार्य मेरे प्रयत्न से साध्य है (इस कार्य को मैं कर सकता हूँ), ऐसा ज्ञान होने पर ही मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। यहाँ 'इदं' पद से 'विषय', 'मत्'

पद से 'अधिकारी', 'इष्ट' पद से 'प्रयोजन' और 'साधनम्' या 'साध्यम्' पद से 'सम्बन्ध' इन चारों का ज्ञान आ जाता है। इसलिए 'विषय' 'अधिकारी', 'सम्बन्ध' और 'प्रयोजन' इन चारों को 'अनुबन्धचतुष्टय' कहा जाता है। (**तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्ध-प्रयोजनानि।** *वेदान्तरसार*)। अनुबन्ध की परिभाषा है - **'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्'**, अर्थात् प्रवृत्ति कराने वाले जो; **विषय**, **अधिकारी**, **प्रयोजन** और **सम्बन्ध** हैं; **ये चारों 'अनुबन्धचतुष्टय' हैं**, और उनका ज्ञान ही मनुष्य को किसी भी कार्य में प्रवृत्त कराता है। 'अनुबन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति ही इसकी सार्थकता को सूचति करती है - **'पुरुषमनुबध्नाति स्वज्ञानेन प्रेरयति इति अनुबन्धः'**।

किसी ग्रन्थ के अध्ययन में भी मनुष्य तब ही प्रवृत्त होता है जब उसे उसके विषय आदि का ज्ञान हो, अत एव ग्रन्थ में अधिकारी पाठकों की अभिरुचि और प्रवृत्ति हो सके इसके लिए ग्रन्थ के आरम्भ में ही उसके विषय, प्रयोजन आदि का उल्लेख कर देना आवश्यक है। कहा भी गया है-

सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्।
बिनाऽनुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते ॥

इसीलिए प्राचीन संस्कृत साहित्य में सर्वत्र ग्रन्थारम्भ में 'अनुबन्धचतुष्टय' के निरूपण करने की परम्परा रही है-

'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः'॥

(मीमांसाश्लोकवार्तिकम् १/१७)

अर्थात् विषय, सम्बन्ध आदि का ज्ञान होने पर ही अधिकारी श्रोता व्यक्ति किसी शास्त्र आदि के श्रवण या अध्ययन आदि में प्रवृत्त होता है। इसलिए ग्रन्थ के आरम्भ में विषय, सम्बन्ध, अधिकारी, प्रयोजन आदि का प्रतिपादन कर देना चाहिए। चारों अनुबन्धों में 'प्रयोजन' सबसे प्रमुख है। किसी वस्तु अथवा कार्य के प्रयोजन को जाने बिना कोई भी व्यक्ति उसमें प्रवृत्त नहीं होता -

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापिकस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते॥

(मीमांसाश्लोकवार्तिकम् १/१२)

तर्कसंग्रह के अनुबन्ध-चतुष्टय :- इसी मर्यादा का अनुगमन करते हुये इस तर्कसंग्रह ग्रन्थ के रचयिता श्री अन्नम्भट्ट ने निम्नानुसार अनुबन्ध चतुष्टय बतलाये हैं- न्याय-वैशेषिक शास्त्रों के सिद्धान्तों का परिज्ञान कराना इसका **प्रयोजन** है। इन शास्त्रों के पदार्थ इसके **विषय** हैं, इन शास्त्रों के सिद्धान्तों का जिज्ञासु इसका **अधिकारी** है तथा ग्रन्थ का विषय के साथ प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव तथा अधिकारी के साथ बोध्यबोधकभाव **सम्बन्ध** है।

ग्रन्थ का नामकरण एवं मंगल श्लोक का भावार्थ - अन्नम्भट्ट ने अपने ग्रन्थ का नाम 'तर्कसंग्रह' रखा है। न्याय शास्त्र में व्याप्य के आरोप से किया जाने वाला व्यापक

का आरोप 'तर्क' कहलाता है, जो कि एक प्रकार का आपत्ति-स्वरूप होता है। उन आपत्तियों को यहाँ 'तर्कसंग्रह' शब्द से न समझ लिया जाय, इसलिए स्वयं अन्नम्भट्ट दीपिका टीका में 'तर्कसंग्रह' शब्द की व्याख्या करते हैं- जो तर्कित हो अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय बनाया जा सके उसे तर्क कहते हैं। फलत: द्रव्य आदि सात पदार्थ हैं तर्क। अभिप्राय यह है कि इस शास्त्र के अध्ययन से द्रव्य गुण आदि सात पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, इसलिए पदार्थ ज्ञान के विषय होने वाले द्रव्य आदि सात पदार्थ तर्क कहे जाते हैं। 'संग्रह' शब्द का अर्थ अधिकतर लेना, एकत्र करना यह हुआ करता है जो प्रकृत में संभव नहीं है इसलिए 'संग्रह' शब्द की व्याख्या की गयी है 'संक्षेपेण स्वरूपकथनम्'। उनका संग्रह अर्थात् संक्षेप से स्वरूप कथन किया जा रहा है। द्रव्य आदि पदार्थों का यह संक्षिप्त स्वरूप कथन क्यों किया जाता है? इस जिज्ञासा के निवृत्यर्थ कहा गया है 'सुखबोधाय'। सुख से अर्थात् अनायास जो बोध अर्थात् पदार्थतत्व का ज्ञान, उसके लिये। कोई शंका करे कि प्राचीन आचार्यों के बहुत से तर्क-ग्रंथ विद्यमान हैं, तब यह नवीन ग्रंथ क्यों रचा जा रहा है? इस जिज्ञासा के निवृत्यर्थ कहा गया है 'बालानां'। अभिप्राय यह है कि प्राचीन तर्क ग्रंथ अति विस्तृत होने के कारण, उनसे अल्पज्ञों को अनायास पदार्थ-तत्व का बोध नहीं हो सकता, अत: इस ग्रंथ की रचना आवश्यक है। 'बालानां' यहां पर 'बाल' पद से वे विवक्षित हैं जो उपदिष्ट तत्त्वों को समझकर उसे रखने की क्षमता रखते हों अर्थात् प्रकृत 'बाल' पद का अर्थ स्तनपानकर्ता बालक विवक्षित नहीं है। किस कृत्य को करके इस ग्रंथ का प्रणयन किया जा रहा है? इस जिज्ञासा के निवृत्यर्थ कहा गया है 'निधाय हृदि इत्यादि' अर्थात् जगन्नियन्ता परमेश्वर भगवान् शंकर को अपने हृदय में अच्छी तरह स्थापित करके और गुरुओं अर्थात् विद्यादाताओं की वन्दना करके इस ग्रन्थ को लिखा जा रहा है।

ग्रन्थ का स्वरूप :- तर्कसंग्रह एक **प्रकरण ग्रन्थ** है। सभी शास्त्रों में कुछ इस प्रकार के ग्रन्थ पाए जाते हैं जो उस शास्त्र के केवल एक देश (भाग) का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् शास्त्र के सम्पूर्ण विषय का प्रतिपादन नहीं करते हैं। ऐसे ग्रन्थों को **'प्रकरण ग्रन्थ'** कहा जाता है। इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है -

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहु: प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित:॥

(पाराशर उपपुराण अ. २८/२१)

तर्कसंग्रह में न्याय-वैशेषिक शास्त्रों के मुख्य मुख्य पदार्थों का प्रतिपादन किया है, उनके समस्त विषयों का पूर्ण रूप से वर्णन नहीं किया गया है, अतएव इसको न्याय वैशेषिक का **'प्रकरण ग्रन्थ'** कहना ही उचित है। तर्कसंग्रह के अतिरिक्त केशवमिश्र की तर्कभाषा, विश्वनाथ की 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' जगदीश तर्कालङ्कार का 'तर्कामृत', आदि अन्य ग्रन्थ भी इसी श्रेणी के हैं। इन प्रकरण ग्रन्थों में प्राय: न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों के पदार्थों का सम्मिलित रूप से वर्णन किया गया है। परन्तु उनमें से कुछ ग्रन्थों में न्याय को प्रधान और वैशेषिक को गौण और कुछ में वैशेषिक को प्रधान

आधार बना कर न्याय के पदार्थों का गौण रूप से विवेचन किया गया है। न्याय में प्रमाणादि सोलह पदार्थों का वर्णन है और वैशेषिक में द्रव्यादि सात पदार्थों का। न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थों में न्याय के प्रमाणादि सोलह पदार्थों का मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हुये उनमें से प्रमेय नामक द्वितीय पदार्थ के अन्तर्गत 'अर्थ' नामक प्रमेय में वैशेषिक में प्रतिपादित द्रव्यादि पदार्थों का अन्तर्भाव करके उनका वर्णन किया है। तर्कभाषा इसी पद्धति का ग्रन्थ है। अतएव वह न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ है। इसके विपरीत 'तर्कसंग्रह' 'न्यायमुक्तावली' आदि ग्रन्थों में वैशेषिक के द्रव्यादि पदार्थों का मुख्य रूप से वर्णन करते हुये गुण नामक द्वितीय पदार्थ के अन्तर्गत 'बुद्धि' नामक गुण में न्याय के प्रमाणादि पदार्थों का अन्तर्भाव दिखाया गया है। अतएव ये वैशेषिक प्रधान प्रकरण ग्रंथ हैं।

<u>**शास्त्र-विवेचन की पद्धति अर्थात् शास्त्र की प्रवृत्ति**</u> - किसी शास्त्र का विवेचन करने का निश्चय करने के पश्चात् शास्त्रकार के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस पद्धति से विवेचन किया जाये? यथा क्या सर्वप्रथम शास्त्र के विषयों का नाम से उल्लेख मात्र किया जाये, तदनन्तर उनके लक्षण या परिभाषायें बतायी जायें और बाद में वे लक्षण उन विषयों के लिये उचित हैं या नहीं, यह परीक्षा की जाये अथवा विषयों का उल्लेख करके तथा उनके लक्षण करके ही छोड़ दिया जाये अथवा केवल विषयों का उल्लेख मात्र ही कर दिया जावे। विषयों का नाम से उल्लेख मात्र करना 'उद्देश', उनकी परिभाषायें 'लक्षण' तथा उनकी परिभाषायें उचित हैं या नहीं यह विचार करना 'परीक्षा' कहलाता है। जहाँ उद्देश, लक्षण व परीक्षा तीनों हैं वहाँ उस शास्त्र की यह त्रिविध प्रवृत्ति मानी जाती है। न्यायसूत्र के टीकाकार वात्स्यायन ने शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति का उल्लेख किया है और वह मुख्यत: न्यायशास्त्र में ही लागू होता है। अन्य सब शास्त्रों में लागू नहीं होता। न्याय के 'समान-तंत्र' कहलाने वाले वैशेषिक में भी त्रिविध नहीं अपितु परीक्षा को छोड़ कर केवल उद्देश और लक्षण रूप द्विविध प्रवृत्ति का ही उल्लेख है। बौद्ध-जैनादिकों के धर्मसंग्रह आदि ग्रंथों में केवल उद्देश रूप एकविध प्रवृत्ति भी पायी जाती है। द्विविध प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए श्रीधराचार्य लिखते हैं - **"अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्तन्ते निर्विषयत्वात्। अलक्षितेषु च तत्त्वप्रतीत्यभाव: कारणाभावात्। अत: पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्ति: उद्देशो लक्षणं च। परीक्षायास्त्वनियम:। यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात् तत्त्वनिश्चयो न भवति तत्र परपक्षव्युदासार्थं परीक्षाविधिरधिक्रियते। यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्त्व-निश्चय: स्यात् तत्रायं व्यर्थो नार्थ्यते। योऽपि हि त्रिविधां शास्त्रस्य प्रवृत्तिमिच्छति, तस्यापि प्रयोजनादीनां नास्ति परीक्षा। तत् कस्य हेतो:? लक्षणमात्रादेव ते प्रतीयन्त इति। एवञ्चेदर्थप्रतीत्यनुरोधात् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न त्रिविधैव। नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देश:। उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्तको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणं विचार: परीक्षा।"**

(प्रशस्तपादभाष्य पर न्यायकन्दली टीका, साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरण) अर्थात् ''पदार्थों का उद्देश (नाममात्र के कथन) न करने पर उनके लक्षण नहीं हो सकते हैं क्योंकि लक्षण का कोई विषय उपस्थित नहीं है जिसका लक्षण किया जाय (अतएव उद्देश करना आवश्यक है)। यदि पदार्थों के लक्षण न किए जायँ तो तत्त्वज्ञान का कारण न होने से तत्त्वज्ञान नहीं होगा। इसलिए पदार्थ बोधन के लिए प्रवृत्त शास्त्र की उद्देश और लक्षण रूप दो प्रकार की प्रवृत्ति आवश्यक है। परन्तु परीक्षा रूप प्रवृत्ति का कोई नियम नहीं है।

जहाँ लक्षण कर देने पर भी अन्य मतों के आक्षेप के कारण तत्त्वनिर्णय नहीं हो पाता है वहाँ **परपक्ष के खण्डन** के लिये **परीक्षाविधि का अवलम्बन** किया जाता है। और जहाँ लक्षण कथन मात्र से ही तत्त्व का निश्चय हो जाता है वहाँ परीक्षाविधि के व्यर्थ होने से उसका अवलम्बन नहीं किया जाता। और जो (भाष्यकार वात्स्यायन) त्रिविध शास्त्र-प्रवृत्ति मानते हैं उनके यहाँ भी प्रयोजन आदि की परीक्षा नहीं की गई है। ऐसा क्यों है? इसका उत्तर है कि लक्षणमात्र से ही उनकी प्रतीति हो जाती है। जब ऐसा है तब ''अर्थ की प्रतीति के अनुसार प्रवृत्ति होती है न कि तीन ही प्रकार की'' यह कहना चाहिए।'' पदार्थों को केवल उनके नामों से निर्दिष्ट करना 'उद्देश' है। उद्दिष्ट पदार्थ को अपने से भिन्न सजातीय और विजातीय पदार्थों से भिन्न रूप में बताने वाला धर्म 'लक्षण' है। लक्षण के द्वारा समझाये गये पदार्थ का लक्षण के अनुसार विचार करना 'परीक्षा' है।

इस प्रकार **न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने त्रिविध प्रवृत्ति** का प्रतिपादन किया है और **वैशेषिक दर्शन के टीकाकार श्रीधराचार्य ने द्विविध प्रवृत्ति** का वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि न्याय दर्शन के अधिकांश विषयों के विवेचन में सूत्रकार ने ही परीक्षाविधि का भी अवलम्बन किया है। प्रयोजन आदि के वर्णन में यद्यपि परीक्षाविधि का प्रयोग न्यायसूत्रों में नहीं मिलता है फिर भी अधिकांश भाग में परीक्षा भी पाई जाती है। इसलिए वात्स्यायन ने सामान्य रूप से त्रिविध प्रवृत्ति का वर्णन किया है। न्याय की इस त्रिविध प्रवृत्ति के अतिरिक्त 'न्यायवर्तिककार' श्री उद्योतकराचार्य तथा 'न्यायमञ्जरीकार' जयन्त भट्ट ने शास्त्र-प्रवृत्ति के चतुर्थ प्रकार 'विभाग' का प्रश्न उठाकर और अन्त में उसका उद्देश में ही अन्तर्भाव दिखाकर त्रिविध प्रवृत्ति का ही समर्थन किया है। इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन में सूत्रकार ने परीक्षाविधि का अवलम्बन नहीं किया है। अधिकतर उद्देश और लक्षण ही किए गए हैं। तर्कसंग्रह में भी इस द्विविध प्रवृत्ति का ही अवलम्बन किया गया है।

उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा -

उद्देश - उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम् अर्थात् 'नाम मात्र से वस्तु का कथन' उद्देश कहलाता है। जैसे तर्कसंग्रह के प्रारम्भ में द्रव्य-गुण आदि पदार्थों का उल्लेख मात्र किया गया है, यही उद्देश है।

लक्षण - [illegible] अर्थात् 'पदार्थ के असाधारण धर्म का कथन' लक्षण कहलाता है। जैसे तर्कसंग्रह में ही 'गन्धवती पृथिवी' यह पृथिवी नामक द्रव्य का लक्षण किया गया है, क्योंकि गन्ध केवल पृथिवी में ही रहती है, इसके अतिरिक्त कहीं भी नहीं।

<u>परीक्षा</u> – लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा अर्थात् 'जिसका लक्षण किया गया है वह उसका सही लक्षण है या नहीं' इस चिन्तन का नाम परीक्षा है। तर्क संग्रह में परीक्षा का अवलम्बन नहीं किया गया है।

<u>लक्षण के दोष</u> – **१. अतिव्याप्ति** – असाधारण धर्म को लक्षण कहा गया है। जैसे गौ का विशेष धर्म वह कहलाता है जो केवल लक्ष्य (जैसे गौ) में रहे। जो धर्म लक्ष्य से भिन्न अलक्ष्य महिष आदि में भी पाया जाये वह लक्षण नहीं कहलाता है तब उसमें **'अतिव्याप्ति'** दोष होता है। अतः अतिव्याप्ति का लक्षण है – 'अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्ति' अर्थात् जो धर्म अलक्ष्य अर्थात् लक्ष्य से भिन्न में रहे वह 'अतिव्याप्ति' दोषग्रस्त होने से लक्षण नहीं होता। जैसे गौ का लक्षण शृङ्गित्व। सींग होने को गौ का लक्षण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि लक्ष्य गौ से भिन्न अर्थात् अलक्ष्य महिषादि में भी शृङ्गित्व धर्म पाया जाता है। अर्थात् सींग भैंस आदि के भी होते हैं, इसलिए 'शृङ्गित्व' गौ का लक्षण नहीं है।

२. अव्याप्ति – 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' अर्थात् जो धर्म लक्ष्य के एक अंश में न पाया जाये वह **'अव्याप्ति'** दोष ग्रस्त होने से लक्षण नहीं कहा जाता है। जैसे 'कपिलत्व' अर्थात् कपिल रंग होना गाय का लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि लक्ष्य-गौ के एक बहुत बड़े भाग में अर्थात् बहुत-सी गौओं में यह कपिल रंग नहीं पाया जाता है। अतएव यह 'कपिलत्व' धर्म 'अव्याप्ति' दोषग्रस्त होने से गौ का लक्षण नहीं हो सकता है।

३. असम्भव – 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः' अर्थात् जो धर्म लक्ष्यमात्र में न पाया जाये वह असम्भव दोष कहलाता है। जैसे 'एकशफवत्व' असम्भव दोषग्रस्त होने से गौ का लक्षण नहीं हो सकता है। गौ द्विशफ प्राणी है अर्थात् उसके खुर बीच से चिरे हुए होने से दो शफ (खुर) होते हैं। अतएव यदि कोई एकशफवत्व को गौ का लक्षण कहे तो यह लक्षण किसी भी गौ में नहीं मिलेगा। लक्ष्यमात्र सारी गौओं में अविद्यमान होगा। अतएव यह गौ का लक्षण नहीं हो सकता।

इस प्रकार 'अतिव्याप्ति', 'अव्याप्ति' और 'असम्भव' इन तीनों दोषों से रहित धर्म ही लक्षण होता है। ऐसे धर्म को ही असाधारण धर्म या 'लक्ष्यतावच्छेदकसमनियत' धर्म भी कहते हैं। इसलिए 'अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्' या 'लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्' अथवा 'असाधारणधर्मवचनम् लक्षणम्' ये तीनों ही 'लक्षण' के लक्षण हो सकते हैं।

<u>लक्षण के अन्य दोष</u> –

अन्योन्याश्रय-जो अन्योन्य (परस्पर) का आश्रय करे, उसे अन्योन्याश्रय कहते हैं। इसी भाव को लक्षण के माध्यम से बताते हैं– 'स्वग्रहसापेक्ष-ग्रहसापेक्षग्राहकत्वम् अन्योन्याश्रयत्वम्'-स्वग्रहः (स्वज्ञानम्) तस्य सापेक्षः (अपेक्षाकारी) यो ग्रहः (ज्ञानम्) तस्य सापेक्षः (अपेक्षाकारी) ग्रहो यस्य, तस्य भावः। अर्थात् स्वज्ञान के प्रति जो ज्ञान अपेक्षा करे, उसी ज्ञान के प्रति पुनः यदि स्वज्ञान अपेक्षा करे तो वहाँ पर अन्योन्याश्रय नाम का दोष समझा जाता है। जैसे– 'महिषभिन्नत्वं गोत्वम्' एवं 'गोभिन्नत्वं महिषत्वम्' यहाँ पर अन्योन्याश्रय

दोष है। क्योंकि यहाँ पर गो-ज्ञान करने के लिये महिषज्ञान आवश्यक है एवं महिषज्ञान करने के लिये पुन: गो का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार 'जो पिता से जन्य (पैदा) हो वह पुत्र एवं जो पुत्र का जनक हो वह पिता' - यहाँ पर भी अन्योन्याश्रय दोष है, क्योंकि पितृज्ञान का सापेक्ष पुत्रज्ञान है और पुत्रज्ञान का सापेक्ष पितृज्ञान है।

आत्माश्रय - जो अपना ही आश्रय करे उसे आत्माश्रय कहते हैं। 'स्वापेक्षापादकप्रसङ्गत्वम्' - आत्माश्रयत्वम्। अर्थात् जो स्व अपेक्षा का आपादक (जनक) हो उसको आत्माश्रय कहते हैं। जैसे - 'ज्वरघटित उपसर्गयुक्त रोग का नाम ज्वर है' यह ज्वर का लक्षण यदि किया जाये तो आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि यहाँ पर ज्वरज्ञानसापेक्ष ज्वरज्ञान है। अत: इस लक्षण में आत्माश्रय दोष है क्योंकि अपना ज्ञान कराने के हेतु अपना ही आश्रय करता है। **किसी भी वस्तु का लक्षण करते समय दोषों पर दृष्टि अवश्य देनी चाहिये, अन्यथा लक्षण दुष्ट होता है।**

लक्षण का प्रयोजन -

लक्षण के दो प्रयोजन माने गए हैं एक व्यावृत्ति अर्थात् सजातीय या विजातीय अन्य पदार्थों से भेद कराना और दूसरा व्यवहार को प्रवृत्त करना। **'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'**। गौ का लक्षण करने का प्रयोजन उसके समानजातीय महिषादि चतुष्पद और उसके असमानजातीय चतुष्पद भिन्न प्राणी तथा अचेतन पदार्थों से उसको भिन्न करना ही है। इसी को **'समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थ:'** कह कर लक्षण का प्रयोजन बताया जाता है। यही धर्म या लक्षण गौ व्यवहार का प्रवर्तक भी है। इसलिये व्यवहार भी लक्षण का प्रयोजन है। इस प्रकार लक्षण के द्विविध प्रयोजन माने गए हैं।

पदकृत्यम्

श्रीगणेशं नमस्कृत्य पार्वतीशङ्करं परम्।
मया चन्द्रजसिंहेन क्रियते पदकृत्यकम्॥ १॥
यस्मादिदमहं मन्ये बालानामुपकारकम्।
तस्माद्धितकरं वाक्यं वक्तव्यं विदुषा सदा॥ २॥

विश्वेशं जगत्कर्तारं श्रीसाम्बमूर्तिं हृदि मनसि निधाय नितरां धारयित्वा, गुरुवन्दनं च विधाय कृत्वेत्यर्थ:। बालेति। अत्राधीतव्याकरणकाव्यकोशोऽनधीत-न्यायशास्त्रो बाल:। व्यासादावतिव्याप्तिवारणायाऽनधीतन्यायेति। स्तनन्धयेऽति-प्रसक्तिवारणायाऽधीतव्याकरणेति। सुखेति। सुखेनानायासेन बोधाय पदार्थ-तत्त्वज्ञानायेत्यर्थ:। तर्क्यन्ते प्रमितिविषयीक्रियन्ते इति तर्का द्रव्यादिपदार्थास्तेषां संग्रह: सङ्क्षेपेणोद्देशलक्षणपरीक्षा यस्मिन् स ग्रन्थ:। नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन-मुद्देश:, यथा द्रव्यं गुण इति। असाधारणधर्मो लक्षणम्, यथा गन्धवत्त्वं पृथिव्या:। लक्षितस्य लक्षणं सम्भवति न वेति विचार: परीक्षा। अत्रोद्देशस्य पक्षज्ञानं फलं, लक्षणस्येतरभेदज्ञानं, परीक्षाया लक्षणे दोषपरिहार इति मन्तव्यम्॥

श्री गणेश जी को तथा सबसे श्रेष्ठ पार्वती और शंकर जी को नमस्कार करके मैं चन्द्रजसिंह पदकृत्य की रचना करता हूँ। क्योंकि मैं ऐसा मानता हूँ कि यह ग्रन्थ बालकों का परम उपकारक है, और हितकर वाक्य बोलना विद्वानों का कर्तव्य है, अत: मैं तर्कसंग्रह ग्रन्थ के प्रत्येक पद की सार्थकता बताने वाली पदकृत्य टीका की रचना करता हूँ।

विश्वेश जो जगत् के कर्ता हैं तथा अपनी अपरिमित शक्ति रूपा अम्बा से सदा युक्त रहते हैं, उनको हृदय (मन) में धारण कर तथा गुरु की वन्दना करके, व्याकरण, काव्य तथा कोष का अध्ययन करने के बाद न्याय शास्त्र से अनभिज्ञ बालकों को सुख पूर्वक बिना किसी कठिनाई का अनुभव किए ही पदार्थ तत्त्व के ज्ञान के लिए तर्कसंग्रह की रचना करता हूँ (ऐसा अन्नम्भट्ट मंगलाचरण में कहते हैं)। यहाँ बाल लक्षण अधीतव्याकरण-काव्यकोषोऽनधीतन्यायशास्त्रो बाल: में दो भाग हैं। एक 'अधीतव्याकरणकाव्यकोष:' इस भाग को यदि लक्षण में न रखा जाय तो अनधीत न्याय शास्त्र अबोध बालक भी होगा; उसके लिए तर्कसंग्रह ग्रन्थ लिखना व्यर्थ ही है। क्योंकि उसमें श्रवण मनन निदिध्यासन की योग्यता ही नहीं है। यदि प्रथम भाग ही लक्षण माना जाय तो अधीतव्याकरणकाव्यकोष व्यास प्रभृति महा मनीषियों के लिए इस ग्रन्थ की रचना व्यर्थ होगी। अत: बालक के लक्षण में दोनों अंश लिखे गये हैं। मङ्गल श्लोक में बाल शब्द से वय की दृष्टि से बालक अर्थ अभिप्रेत नहीं है किन्तु जिसने व्याकरण, काव्य और कोश का अध्ययन किया है तथा न्याय-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया है, वही यहाँ बाल है। व्याकरणादि के ज्ञाता व्यास आदि में इस बाललक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाय, इसलिये "अनधीतन्याय" यह पद दिया गया है। माता का स्तनपान करने वाले शिशु में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इसके लिए "अधीतव्याकरण" इत्यादि पद दिये गये हैं। "सुखबोधाय" का अर्थ है - बिना श्रम के द्रव्यादि-पदार्थों का तत्त्वज्ञान कराने के लिये। **तर्क शब्द का अर्थ है कि प्रमा के जो विषय हैं उन्हें तर्क कहते हैं, द्रव्यादि पदार्थ ही प्रमा के (ज्ञान के) विषय हैं अत: तर्क हैं।** उनका संग्रह अर्थात् संक्षेप से उद्देश लक्षण परीक्षा होने से इस ग्रन्थ का नाम तर्कसंग्रह है। वस्तुओं का नामोल्लेख उद्देश है। जैसे द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाय अभाव। लक्षण-असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। जैसे पृथ्वी का लक्षण गन्धवत्व है। परीक्षा-जिसका लक्षण बनाया गया है वह लक्षण उस लक्ष्य में सम्भव है या नहीं, इस विचार को परीक्षा कहते हैं। यहाँ उद्देश कहने का फल 'पक्षज्ञान' है। लक्षण बताने का फल इतर से भेदज्ञान है। 'लक्षण में दोषों का परिहार करना' परीक्षा का फल है।

तर्कदीपिका

विश्वेश्वरं साम्बमूर्तिं प्रणिपत्य गिरां गुरुम्।
टीकां शिशुहितां कुर्वे तर्कसंग्रहदीपिकाम्॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारानुमितश्रुति-बोधितकर्तव्यताकमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबध्नंश्चि-कीर्षितं ग्रंथादौ प्रतिजानीते-निधायेति।

ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वमेव नास्ति; मङ्गले कृतेऽपि किरणावल्यादौ समाप्त्यदर्शनात्, मङ्गलाभावेऽपि कादम्बर्यादौ समाप्तिदर्शनादन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादिति चेत्,-न; किरणावल्यादौ विघ्नबाहुल्यात्समाप्त्यभावः। कादम्बर्यादौ तु ग्रन्थाद् बहिरेव मङ्गलं कृतमतो न व्यभिचारः॥

ननु मङ्गलस्य कर्तव्यत्वे किं प्रमाणमिति चेत्,- न; शिष्टाचारानुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। (समाप्तिकामो मंगलमाचरेत् इति श्रुतेः)। तथाहि-मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिका-विगीतशिष्टाचारविषयत्वाद् दर्शादिवत्। भोजनादौ व्यभिचारवारणाय अलौकिकेति। रात्रिश्राद्धादौ व्यभिचारवारणाय अविगीतेति। 'शिष्ट' पदं स्पष्टार्थम्। "न कुर्यान्निष्फलं कर्म" इति जलताडनादेरपि निषिद्धत्वादिति॥

तर्कसंग्रह इति। तर्क्यन्ते = प्रतिपाद्यन्त (प्रमिति विषयी क्रियन्ते) इति तर्का = द्रव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषां संग्रहः = संक्षेपेण स्वरूपकथनं क्रियत इत्यर्थः। कस्मै प्रयोजनायेत्यत आह- सुखबोधायेति। सुखेनानायासेन बोधः = पदार्थतत्त्वज्ञानं तस्मादित्यर्थः॥ ननु बहुषु तर्कग्रन्थेषु सत्सु किमर्थमपूर्वग्रन्थः क्रियत इत्यत आह-बालानामिति। तेषामतिविस्तृतत्वाद् बालानां बोधो न भवतीत्यर्थः। ग्रहणधारणपटुर्बालः, न तु स्तनन्धयः। किं कृत्वा क्रियत इत्यत आह-निधायेति। विश्वेशं = जगन्नियन्तारं शिवं हृदि निधाय = नितरां स्थापयित्वा, सर्वदा तद्ध्यानपरो भूत्वेत्यर्थः। गुरूणां = विद्यागुरूणां वन्दनं = नमस्कारं विधाय = कृत्वेत्यर्थः॥

उद्देशप्रकरणम्।

<u>पदार्थाः कति कानि च तेषां नामानि?</u>

२. द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाऽभावाः सप्त पदार्थाः।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव-ये सात पदार्थ हैं।

आशा द्रव्य गुण कर्म इत्यादि ग्रंथ से पदार्थों का विभाजन बताया गया है। पदार्थ का लक्षण है-**पदस्यार्थः पदार्थः अर्थात् अभिधेयत्वं पदार्थत्वम्**। 'पद का अर्थ है पदार्थ'। पदार्थ शब्द की इस व्याख्या के अनुसार 'अभिधेयत्व' सामान्यतः पदार्थ मात्र का लक्षण है। फलितार्थ यह कि अभिधेय ही पदार्थ है। '**पदस्यार्थः**' यहाँ पर '**अर्थ**' शब्द का अर्थ है '**अभिधेय**'। अभिधेय का अर्थ होता है अभिधा का विषय। अभिधा कहते हैं संकेत को। तदनुसार 'जिस अर्थ में किसी पद का संकेत हो, वह कहलाता है अभिधेय'। संसार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं पायी

जाती, जिसमें किसी पद का संकेत न हो, जिसका कोई नाम न हो। पद के अर्थ का नाम 'पदार्थ' है। विश्व में असंख्य पद हैं किन्तु 'अर्थ' तो इन सात के सिवाय अन्य कोई भी नहीं है। जितने भी अर्थ हैं, सब इन्हीं सात पदार्थों के अन्तर्गत हैं। ईश्वर के ज्ञान का जो विषय है, वही सात पदार्थों का सामान्य लक्षण है। सृष्टि-निर्माण के समय ये ही सात पदार्थ ईश्वर के संकल्प के विषय होते हैं। द्रव्यादि सात पदार्थों के अतिरिक्त हमारे ज्ञान का भी कोई विषय नहीं है।

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि प्रकृत ग्रन्थ वैशेषिक दर्शन के पदार्थों को प्रधान आधार मानकर लिखा गया है तथा न्याय दर्शन के पदार्थों का इसमें गौण रूप से वर्णन किया गया है, अत: ग्रन्थ के प्रारम्भ में द्रव्य आदि वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों के नाम गिनाये गये हैं।

मीमांसक उपर्युक्त सात पदार्थों के अतिरिक्त "शक्ति" तथा "सादृश्य" को भी पदार्थ मानते हैं परन्तु वैशेषिक मतानुयायी इन दोनों पदार्थों को उपर्युक्त सप्त पदार्थों से भिन्न नहीं मानते।

समान तंत्र होने से वैशेषिक दर्शन में वर्णित ये सात पदार्थ न्यायदर्शन में भी मान्य हैं। यद्यपि न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों को मानते हैं, तथापि दोनों दर्शनों में विरोध नहीं है। प्रशस्तपादभाष्य में इन सोलह पदार्थों का द्रव्य गुण कर्म इत्यादि सात पदार्थों में ही अन्तर्भाव किया गया है। यथा- इन्द्रियादि प्रमाण का द्रव्य में, व्याप्तिज्ञानादि का गुण में, आत्मेन्द्रियादि प्रमेयों का द्रव्य में, रूपादि अर्थों का गुण में, संशय का गुण में, प्रयोजन, दृष्टान्त व सिद्धान्त का द्रव्यादि में, अवयव, तर्क, निर्णयादि का गुण में, हेत्वाभासों का द्रव्यादि में, छल व जाति का गुण में, एवं निग्रहस्थानों का क्रमश: द्रव्यादि पदार्थों में ही अन्तर्भाव किया गया है। पदार्थों के परस्पर अन्तर्भाव की विस्तृत सूची निम्नानुसार है अर्थात् कणाद के ७ पदार्थों में गौतम के १६ पदार्थों का अन्तर्भाव निम्नानुसार समझा जा सकता है।

१. द्रव्य - प्रत्यक्ष, आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, हेत्वाभास।

२. गुण - अनुमान, उपमान, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, सुख, दु:ख, संशय, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्त काल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, विक्षेप, मतानुज्ञा निरनुयोज्यानियोग।

३. अभाव - अपवर्ग, प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञासंन्यास, अननुभाषण, अप्रतिज्ञा, पर्यनियोज्योपेक्षण, अपसिद्धान्त।

इस विषय का विस्तृत विवेचन मूल ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

तर्कदीपिका

पदार्थान्विभजते-द्रव्येति। 'पदस्यार्थः = पदार्थः' इति व्युत्पत्त्याभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्॥ नन्वत्र विभागादेव सप्तत्वे सिद्धे 'सप्त' ग्रहणं व्यर्थमिति चेत्-न; अधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थत्वात्॥ नन्वतिरिक्तः पदार्थः प्रमितो वा न वा?। नाद्यः; प्रमितस्या निषेधायोगात्। नान्त्यः; प्रतियोगिप्रमितिं विना निषेधानुपपत्तेरिति चेत्,-न; पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमिति व्यवच्छेदार्थत्वात्॥ ननु सप्तान्यतमत्वं सप्तभिन्नभिन्नत्वमिति वक्तव्यम्। एवं च सप्तभिन्नस्याप्रसिद्ध-त्वात्सप्तान्यतमत्वं कथम्? इति चेत्,-न; द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं द्रव्यादिभेदसप्तका-भाववत्त्वमित्युक्तत्वात्। एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम्॥

द्रव्याणि कति, कानि च तानि?

३. तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ ही द्रव्य होते हैं।

आशा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में द्रव्य को अनेक प्रकारसे परिभाषित किया गया है। यथा - १. द्रव्यत्वजातिमत्त्वम् द्रव्यम् २. गुणवत्त्वम् द्रव्यम् ३. क्रियावत्त्वम् द्रव्यम् ४. **समवायिकारणत्वम् द्रव्यम्।** इनमें से प्रथम परिभाषा से तो द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। दूसरी परिभाषा भी अव्याप्ति दोष से दूषित है। इसके अनुसार द्रव्य जिस क्षण उत्पन्न होगा, उस क्षण वह निर्गुण होने के कारण द्रव्य नहीं हो सकेगा क्योंकि **नैयायिकों** के अनुसार उत्पन्न होते समय द्रव्य निर्गुण होता है- **द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते (तर्कभाषा)।** अतः इस परिभाषा में अव्याप्ति दोष आ जाता है। इस दोष का निवारण यह कहकर किया जाता है :- **'गुणसमानाधिकरण-सत्ताभिन्न-जातिमत्त्वं द्रव्यत्वम्'।** अर्थात् यद्यपि प्रथम क्षण में द्रव्य में गुण नहीं होते किन्तु उसमें द्रव्यत्व जाति अवश्य होती है। यहाँ कोई यह शंका करे कि सत्ता भी एक जाति है जिसमें गुण रहते हैं, इस प्रकार उसमें द्रव्य लक्षण की अतिव्याप्ति होगी? इसका उत्तर यह है कि उसमें अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए यहाँ 'सत्ताभिन्न' पद का निवेश किया गया है। तृतीय परिभाषा का विवेचन भी द्वितीय परिभाषा के समान ही है। **चतुर्थ परिभाषा है- समवायिकारणत्वम् द्रव्यत्वम्।** यह परिभाषा उपर्युक्त तीन परिभाषाओं से अधिक परिष्कृत मानी जाती है। क्योंकि द्रव्य का यह लक्षण उत्पत्ति के प्रथम क्षण में निर्गुण या क्रियाहीन रहने वाले घटादि द्रव्य में भी समायोजित हो जाता है। इस बात को सरल शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है कि - द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण या क्रिया हो। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी द्रव्यों में सभी अवस्थाओं में गुण या कर्म रहते ही हैं, क्योंकि उत्पत्ति के समय उत्पत्तिशील पृथिव्यादि द्रव्यों में भी गुण या कर्म नहीं रहते। गुण और

कर्म का समवायिकारण आश्रयीभूत द्रव्य ही हैं जो अपनी उत्पत्ति से पहले नहीं रह सकता। अत: उत्पत्ति के समय द्रव्य बिना गुण या बिना कर्म के ही रहते हैं। उत्पत्ति के बाद उनमें गुण या क्रिया की उत्पत्ति होती है। आकाशादि विभु द्रव्यों में तो क्रियायें कभी रहती ही नहीं। अत: 'गुण या क्रिया से युक्त जो पदार्थ वही द्रव्य है' इस लक्षण का अर्थ इतना ही है कि गुण और कर्म द्रव्यों में ही रहते हैं, द्रव्य से भिन्न गुणादि में नहीं।

वस्तुत: 'द्रव्यत्व' जाति ही द्रव्य का लक्षण है। यह द्रव्यत्व जाति कहाँ रहती है? इसी को समझाने के लिए कर्म का, विशेषत: गुण का सहारा लिया जाता है। विभिन्न व्यक्तियों को किसी एक रूप से समझने के लिए उन सभी व्यक्तियों में किसी सादृश्य की आवश्यकता होती है। सभी मनुष्य परस्पर भिन्न हैं, किन्तु ठीक एक ही आकार के दो मनुष्य नहीं मिल सकते। किन्तु सभी मनुष्यों में कुछ आन्तरिक और बाह्य सादृश्य भी हैं, जिनके चलते सभी मनुष्यों में 'यह मनुष्य है' ऐसा एक जैसा व्यवहार होता है। इस प्रकार जिन सभी व्यक्तियों में 'यह द्रव्य है' इस प्रकार का व्यवहार होता है, उन सभी द्रव्यों में कोई सादृश्य अवश्य ही होना चाहिये, इस सादृश्य के लिये संयोग और विभाग नाम के गुण को आचार्यों ने उपस्थित किया है। संयोग सभी द्रव्यों में समान रूप से रहने वाला गुण है और विभाग भी। अत: सभी द्रव्य संयोग या विभाग के समवायिकारण हैं। संयोग और विभाग का समवायिकारण होना या समवायिकारणत्व नाम का धर्म ही द्रव्यत्वजाति का ज्ञापक है :-**कार्यसमवायिकारणताऽवच्छेकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणताऽच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेरिति** (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)। संयोग और विभाग का यह समवायिकारणत्व गुणादि पदार्थों में नहीं है, अत: गुणादि पदार्थ संयोग और विभाग के समवायिकारण नहीं हैं, अत: उनमें द्रव्यत्व नहीं है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य के नौ भेद हैं। इन सभी द्रव्यों को पुन: नित्य और अनित्य भेद से दो भागों में बांटा जा सकता है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु इन चार द्रव्यों के परमाणु और आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये सभी द्रव्य नित्य हैं तथा कथित परमाणुओं से भिन्न पृथिव्यादि चारों द्रव्यों के सभी प्रभेद उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य हैं। अनित्य द्रव्यों में से पृथिव्यादि तीन द्रव्यों को शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन विभागों में विभक्त किया गया है। किन्तु वायु का इन तीनों से भिन्न 'प्राण' नाम का एक चतुर्थ भेद भी है।

'....द्रव्याणि.... नवैव' इस मूल ग्रन्थ में 'एव' के प्रयोग से अन्नम्भट्ट का आशय नौ से अधिक (तथा कम भी) द्रव्यों के होने का निषेध करने से है। यह अधिक संख्या का निषेध मुख्यत: मीमांसकों के 'तम' पदार्थ के खण्डन के लिए किया गया है। मीमांसक इन नौ द्रव्यों के अतिरिक्त **'तम:'** अर्थात् अन्धकार को भी दशम द्रव्य मानते हैं। मींमासकों का कथन है कि- तम में चलन क्रिया, नील रूप, परत्व, अपरत्व, विभाग आदि गुण रहते हैं इसलिए उसको द्रव्य मानना चाहिए और उसका अन्तर्भाव पृथिवी आदि द्रव्यों में नहीं हो सकता है इसलिए उसे इन नौ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य मानना चाहिए। **'नीलं तमश्चलति'** यह

प्रतीति होती है। इस प्रतीति से तम में नील गुण और चलन क्रिया सिद्ध है। गुणाश्रय तथा क्रिया का आश्रय द्रव्य ही होता है इसलिए 'तम' का द्रव्यत्व सिद्ध है। उस 'तम' में गन्ध गुण नहीं रहता है इसलिए वह पृथिवी के अन्तर्गत नहीं हो सकता है। उसमें नील रूप रहता है इसलिए जल, वायु, आकाश, अग्नि, काल, दिक्, आत्मा आदि में अन्तर्भूत नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें से किसी में भी नील रूप नहीं रहता है। जल का रूप अभास्वर शुक्ल और अग्नि का रूप भास्वर शुक्ल है नीला नहीं। शेष वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन छ: द्रव्यों में किसी प्रकार का रूप नहीं रहता है और तम में नील रूप रहता है। इसलिए तम का अन्तर्भाव इन नौ द्रव्यों में नहीं हो सकता है। अत: तम को नौ द्रव्यों से भिन्न दशम द्रव्य मानना चाहिये। इसके उत्तर में **न्यायवैशेषिक दर्शन** कहते हैं कि - **आवश्यकतेजोऽभाव** से ही तम का उपपादन हो जाने से उसको अलग पदार्थ मानना उचित नहीं है। अर्थात् तेज पदार्थ माना ही है। उसके अनित्य होने से उसका अभाव मानना भी आवश्यक है। उस तेजोऽभाव का नाम ही तम है। इसलिए तम को अलग द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। तम में नीलरूप गुण तथा चलन रूप क्रिया ये दोनों प्रतीतियाँ भी वस्तुत: भ्रम हैं। तम में नील रूप की प्रतीति उसी प्रकार भ्रम है जिस प्रकार आकाश में नील रूप की प्रतीति। आकाश वस्तुत: निराकार है अतएव रूप रहित है। फिर भी स्वच्छ आकाश को देख कर 'नीलं नभ:' इस प्रकार की प्रतीति का व्यवहार होता है। परन्तु आकाश के नीलरूप न होने से इस प्रतीति को भ्रम मानने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। इसलिये जिस प्रकार आकाश में 'नीलं नभ:' यह प्रतीति भ्रान्त है, उसी प्रकार 'नीलं तम:' यह प्रतीति भी भ्रान्त है। तम में चलन क्रिया की प्रतीति भी औपचारिक होने से भ्रान्ति है। जहाँ 'तमश्चलति' ऐसी प्रतीति होती है वहाँ वस्तुत: तम नहीं चलता है, अपितु प्रकाश अथवा आवश्यक द्रव्य चलता है। उसके चलने से जो तेज का भाग आवरण में आ जाता है अर्थात् जहाँ-जहाँ तेज नहीं पहुँच पाता है वही तेजोऽभाव वाला स्थल चलता हुआ प्रतीत होता है। इसलिए तम में गति की प्रतीति भी भ्रान्ति रूप ही है। अतएव तम को द्रव्य सिद्ध करने वाले दोनों हेतुओं के भ्रमरूप होने से तम द्रव्य नहीं है :- **द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भावस्तम:। तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च** (वैशेषिक सूत्र)।

पदकृत्यम्

तत्रेति। तत्र सप्तपदार्थमध्ये इत्यर्थ:। द्रव्याणि नवैवेत्यन्वय:। एवं तत्रेतिपदं चतुर्विंशतिर्गुणा इत्यादिनाऽप्यन्वेति द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्।

तत्र इति। उन पूर्वोक्त सात पदार्थों में से द्रव्य नौ प्रकार के ही होते हैं यह अन्वितार्थ है। यहाँ पर लिखे गये तत्र पद का आगे भी अन्वय होगा। अर्थात् तत्र पद का सम्बन्ध 'चतुर्विंशतिर्गुणा:' 'पञ्चकर्माणि' इत्यादि के साथ है (उक्त सात पदार्थों में गुण रूप, रस आदि चौबीस हैं, कर्म उत्क्षेपण आदि पाँच है, इत्यादि)। 'द्रव्यत्वजातिमत्वं' 'गुणवत्वं द्रव्यं' अथवा 'समवायिकारणत्वं द्रव्यत्वं' यह द्रव्य का सामान्य लक्षण है।

तर्कदीपिका

द्रव्यं विभजते-तत्रेति। तत्र द्रव्यादिमध्ये द्रव्याणि नवैवैत्य-न्वयः। कानि तानीत्यत आह-पृथिवीत्यादि। ननु तमसो दशमद्रव्यस्य विद्यमानत्वात्कथं नवैव द्रव्याणि? । तथाहि-'नीलं तमश्चलति' इत्यबाधित-प्रतीतिबलान्नीलरूपाधारतया क्रियाधारतया च द्रव्यत्वं तावत्सिद्धम्। तत्र तमसो नाकाशादिपञ्चकेऽन्तर्भावः; रूपवत्त्वात्। अत एव न वायौ; स्पर्शाभावात् सदागतिमत्त्वाभावाच्च। नापि तेजसि; भास्वररूपाभावादुष्णस्पर्शाभावाच्च। नापि जले; शीतस्पर्शाभावान्नीलरूपाश्रयत्वाच्च। नापि पृथिव्याम्; गन्धवत्त्वाभावात् स्पर्शरहितत्वाच्च। तस्मात्तमो दशमद्रव्यमिति चेत्-न; तमसस्तेजोऽभावरूपत्वात्। तथाहि-तमो हि न रूपवद्द्रव्यमालोकासहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वादालोकाभाववत्। रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रमायामालोकस्य कारणत्वात्। तस्मात्प्रौढप्रकाशकतेजः सामान्याभावस्तमः। तत्र 'नीलं तमश्चलति' इति प्रत्ययो भ्रमः। अतो नव द्रव्याणीति सिद्धम्॥

द्रव्यत्वजातिमत्वं गुणवत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्। लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः। यथा गोः कपिलत्म्। अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः, यथा गोः शृंगित्वम्। लक्ष्यमात्रावर्त्तनमसम्भवः। यथा गोरेकशफवत्वम्। एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मोलक्षणम्। यथा गौः सास्नादिमत्त्वम्। स एवासाधारण धर्म इत्युच्यते। लक्ष्यातावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्। व्यावर्त्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृत्तावभिधेयत्वादौचातिव्याप्तिवारणाय तद्भिन्नत्वं, धर्मविशेषणं देयम्। व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयम्। व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात्।

ननु गुणवत्वं न द्रव्य सामान्यलक्षणम्, आद्यक्षणे उत्पन्नविनष्टद्रव्ये चाव्याप्तेरितिचेन्न। गुणसामानाधिकरण-सत्ताभिन्न-जातिमत्वस्य विवक्षितत्वात्। नन्वेवमत्येकं रूपं रसात्पृथगिति व्यवहाराद्रूपादावतिव्याप्तिरितिचेन्न, एकार्थ समवायादेव तादृशव्यहारोपपत्तौ गुण गुणानंगीकारात्।

<u>कति गुणाः, के च ते?</u>

४. रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग- परत्वाऽपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दु:खेच्छा-द्वेष प्रयत्न-धर्माऽधर्म-संस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः।

१-रूप, २-रस, ३-गन्ध, ४-स्पर्श, ५-संख्या, ६-परिमाण, ७-पृथक्त्व, ८-संयोग, ९-विभाग, १०-परत्व, ११-अपरत्व, १२-गुरुत्व, १३-द्रवत्व, १४-स्नेह, १५-शब्द, १६-बुद्धि, १७-सुख, १८-दु:ख, १९-इच्छा, २०-द्वेष, २१-प्रयत्न, २२-धर्म, २३-अधर्म और २४ संस्कार ये चौबीस गुण हैं।

आशा **अन्नम्भट्ट** ने **दीपिका** टीका में गुण की परिभाषा इस प्रकार दी है :- **द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः, गुणत्वजातिमान्वा** अर्थात् जो द्रव्य और कर्म नामक पदार्थों से भिन्न हो तथा जिसमें सामान्य (जाति) नामक पदार्थ रहता हो वह पदार्थ गुण है अथवा गुणत्व जाति से युक्त पदार्थ गुण है। **वैशेषिक सूत्र में महर्षि कणाद ने द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति** अर्थात् जो द्रव्य में रहता है और स्वयं अगुणवान् है तथा जो संयोग तथा विभाग का कारण नहीं है वही गुण है यह परिभाषा दी है। **विश्वनाथ** ने **भाषापरिच्छेद** में गुण को इस प्रकार परिभाषित किया है :- **द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः** अर्थात् जो द्रव्य में रहते हैं, स्वयं गुण तथा क्रिया से रहित हैं वे गुण हैं। उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष ज्ञात होता है कि जो पदार्थ केवल द्रव्य में रहता है, जिस पदार्थ में गुण व कर्म नहीं रहते परन्तु जिसमें गुणत्व जाति रहती है वह पदार्थ गुण कहलाता है।

इन गुणों को सामान्यगुण तथा विशेषगुण के रूप में भी विभाजित किया जाता है। अन्नम्भट्ट ने दीपिका टीका में विशेषगुण को न्यायशैली में इस प्रकार परिभाषित किया है- **द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्ति-द्रव्यकर्मावृत्ति-जातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम्** (संस्कार प्रकरण)। इसका सरलार्थ यह है कि जो गुण एक समय में एक ही द्रव्य में रहता है वह विशेषगुण कहलाता है। इसके विपरीत सामान्यगुण दो या दो से अधिक द्रव्यों में एक साथ रहते हैं। 'विशेष' शब्द का अर्थ है 'व्यवच्छेद' अर्थात् विशेष गुण भेद ज्ञान कराने में समर्थ होता है। संख्यादि सामान्य गुण अपने आश्रयों का अन्यों से भिन्न रूप में ज्ञान करने में समर्थ नहीं होते हैं।

ये सभी पूर्वोक्त चोबीस गुण नौ द्रव्यों में ही पाये जाते हैं। किस द्रव्य में कितने गुण पाये जाते हैं इसका विवरण निम्नानुसार है :- वायु में नौ गुण रहते हैं, तेज में ग्यारह गुण रहते हैं, जल, पृथिवी तथा जीवात्मा में चौदह गुण रहते हैं, दिक् और काल में पाँच गुण रहते हैं, आकाश में छह गुण रहते हैं, ईश्वर में आठ गुण रहते हैं, मन में भी आठ गुण रहते हैं। विस्तृत विवरण इस प्रकार है :- (१) स्पर्श (२) संख्या (३) परिमाण (४) पृथक्त्व (५) संयोग (६) विभाग (७) परत्व (८) अपरत्व (९) वेगाख्य संस्कार - ये नौ गुण **वायु** के हैं। इनमें 'स्पर्श' विशेष गुण है और शेष सामान्य गुण हैं। (१) स्पर्श (२) संख्या (३) परिमाण (४) पृथक्त्व (५) संयोग (६) विभाग (७) परत्व (८) अपरत्व (९) रूप (१०) वेगाख्यसंस्कार (११) नैमित्तिकद्रवत्व - ये ग्यारह गुण **तेज** के हैं। इनमें स्पर्श और रूप विशेषगुण हैं तथा शेष सामान्यगुण हैं। (१) स्पर्श, (२) संख्या (३) परिमाण (४) पृथक्त्व (५) संयोग (६) विभाग (७) परत्व (८) अपरत्व (९) वेगाख्यसंस्कार (१०) सांसिद्धिक द्रवत्व (११) गुरुत्व (१२) रूप (१३) रस (१४) स्नेह - ये चौदह गुण **जल** के हैं। इनमें स्पर्श, सांसिद्धिकद्रवत्व, रूप, रस और स्नेह विशेषगुण हैं तथा शेष सामान्यगुण हैं। उपर्युक्त चौदह गुणों में से 'स्नेह' के स्थान पर 'गन्ध' को रख देने से चौदह गुण पृथिवी के हो जाते हैं। जैसे - (१) स्पर्श (२) संख्या (३) परिमाण (४) पृथक्त्व (५) संयोग (६) विभाग

(७) परत्व (८) अपरत्व (९) वेग (१०) नैमित्तिकद्रवत्व (११) गुरुत्व (१२) रूप (१३) रस (१४) गन्ध – ये चौदह गुण **पृथ्वी** के हैं। उनमें से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विशेषगुण हैं तथा शेष सामान्यगुण हैं। (१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख (४) इच्छा (५) द्वेष (६) प्रयत्न (७) संख्या (८) परिमाण (९) पृथक्त्व (१०) संयोग (११) विभाग (१२) भावनाख्यसंस्कार (१३) धर्म (१४) अधर्म – ये चौदह गुण **जीवात्मा** के हैं, इनमें से बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना, धर्म तथा अधर्म विशेष गुण हैं, शेष सामान्य गुण हैं। (१) संख्या (२) परिमाण (३) पृथक्त्व (४) संयोग (५) विभाग – ये पाँच गुण **काल** के और दिक् के सामान्यगुण हैं, क्योंकि काल और दिक् के विशेषगुण नहीं होते। (१) संख्या (२) परिमाण (३) पृथक्त्व (४) संयोग (५) विभाग (६) शब्द – ये छह गुण **आकाश** के हैं। इनमें से 'शब्द' विशेषगुण है तथा शेष सामान्यगुण हैं। (१) संख्या (२) परिमाण (३) पृथक्त्व (४) संयोग (५) विभाग (६) बुद्धि (७) इच्छा (८) प्रयत्न – ये आठ गुण **ईश्वर** के हैं। इनमें से बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न विशेषगुण हैं तथा शेष सामान्यगुण हैं। (१) परत्व (२) अपरत्व (३) संख्या (४) परिमाण (५) पृथक्त्व (६) संयोग (७) विभाग (८) वेग – ये आठ गुण 'मन' के हैं। ये सब सामान्यगुण हैं, क्योंकि 'मन के विशेषगुण नहीं होते। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनारूपसंस्कार, शब्द, स्नेह तथा सांसिद्धिकद्रवत्व – ये विशेषगुण कहे जाते हैं और संख्या, परिमाण,पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग तथा स्थितिस्थापकसंस्कार – ये सामान्यगुण कहे जाते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच में से प्रत्येक एक ही इन्द्रिय से गृहीत होता है, एवं बाह्य इन्द्रिय से ही गृहीत होता है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग ये नौ गुण दो इन्द्रियों अर्थात् चक्षु तथा त्वचा से भी गृहीत हो सकते हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये छः गुण 'अन्तःकरण' अर्थात् मन से गृहीत होते हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म और भावना ये चार गुण किसी भी इन्द्रिय से गृहीत नहीं होते अर्थात् अतीन्द्रिय हैं (संदर्भ–प्रशस्तपादभाष्य)।

तर्कदीपिका

गुणं विभजते–रूपेति। द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः। गुणत्वजातिमान्वा। ननु लघुत्वमृदुत्वकठिनत्वादीनां विद्यमानत्वात्कथं चतुर्विंशतिगुणा इति चेत्, न; लघुत्वस्य गुरुत्वाभावरूपत्वात्, मृदुत्व–कठिनत्व–योरवयवसंयोगविशेषरूपत्वात्॥

कियन्ति कर्माणि कानि च तानि?

५. उत्क्षेपणाऽपक्षेपणाऽऽकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि।

उत्क्षेपण (ऊपर की ओर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे की ओर गिराना), आकुञ्चन (बटोरना), प्रसारण (फैलाना) और गमन ये पाँच कर्म हैं।

आशा मूल में कर्म के पाँच भेद बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन तथा तिर्यग्गमन ये पाँच अन्य कर्म भी हैं तथापि इन सबका गमन में ही अन्तर्भाव माना गया है।

कर्म का सामान्य लक्षण व विस्तृत विवेचन आगे कर्म-प्रकरण में द्रष्टव्य है।

तर्कदीपिका

कर्म विभजते - उत्क्षेपणेति। संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म, कर्मत्वजातिमद्वा॥ ननु भ्रमणादेरप्यतिरिक्तस्य कर्मणः सत्त्वात् पञ्चेत्यनुपपन्नमिति चेत्,-न; भ्रमणादीनामपि गमनेऽन्तर्भावान्न पञ्चविधत्वविरोधः॥

<u>सामान्यं कतिविधम्?</u>

६. परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।

सामान्य दो प्रकार का है। एक पर सामान्य दूसरा अपर सामान्य।

आशा सामान्यम् = जातिः, 'पर' एवं 'अपर' ये दो भेद 'जाति' के हैं। 'पर' शब्द का अर्थ यहाँ उत्कृष्ट है। 'अपर' की अपेक्षा से 'पर' बहुत पदार्थों में रहता है, यही 'पर' की उत्कृष्टता है। 'अपर' शब्द का अर्थ निकृष्ट है। 'पर' की अपेक्षा 'अपर' कम पदार्थ में रहता है। यही 'अपर' के निकृष्ट होने का कारण है। आशय यह है कि 'जाति' पदार्थ दो प्रकार का होता है, 'पर' और 'अपर'। द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली (तीनों में समवेत) सत्ता जाति को 'परा' कहते हैं। जो 'जाति' 'परा' नहीं है, उसे 'अपरा' कहते हैं। द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, प्रभृति जाति 'परा' होती है। इसी प्रकार 'द्रव्य के अन्तर्गत जो पृथ्वी, जल आदि नौ द्रव्य हैं, तथा 'गुणों' के अन्तर्गत जो रूप, रस आदि चौबीस गुण हैं, उनमें से प्रत्येक में रहने वाली जैसे पृथ्वीत्व, जलत्व आदि, इसी तरह रूपत्व, रसत्व आदि जाति अपरा समझी जाती हैं। इस प्रकार 'परा' और 'अपरा' ये दो जातियाँ हैं।

परत्व और अपरत्व अपेक्षा दृष्टि से होता है। 'सत्ता' द्रव्य तथा गुण में रहने के कारण पर जाति है और द्रव्यत्व उसकी अपेक्षा न्यून देश केवल द्रव्य मात्र में रहने से अपर जाति है। वैसे ही पृथ्वीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व पर जाति है और पृथ्वीत्व अपर जाति है।

सामान्य (जाति) के लक्षण तथा विस्तृत विवेचन हेतु आगे सामान्य प्रकरण द्रष्टव्य है।

पदकृत्यम्

परमपरं चेति। परसामान्यमपरसामान्यमित्यर्थः। परत्वं चाधिकदेशवृत्तित्वम्। अपरत्वं न्यूनदेशवृत्तित्वम्।

तदेव हि लक्षणं यदव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवरूपदोषत्रयशून्यम्। यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्। अव्याप्तिश्च लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम् अत एव गोर्न कपिलत्वं लक्षणं

तस्याव्याप्तिग्रस्तत्वात्। अतिव्याप्तिश्च लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वम् अत एव गोर्न श्रृङ्गित्वं लक्षणं तस्यातिव्याप्तिग्रस्तत्वात्। असम्भवश्च लक्ष्यमात्रावृत्तित्वम्। यथा गोरेकशफवत्त्वं न लक्षणं तस्यासम्भवग्रस्तत्वात्।

परमपरम् = परसामान्य, अपरसामान्य। जो अधिक देश में रहे उसे परसामान्य कहते हैं। जो कुछ कम देश में रहे उसे अपरसामान्य कहते हैं।

यहाँ प्रसंगतः लक्षण का स्वरूप बताते हैं। वही लक्षण कहलाता है, जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव नाम के तीन दोषों से रहित हो। जैसे गो का 'सास्नादिमत्व' लक्षण है। लक्ष्य के एक देश में लक्षण के न रहने को अव्याप्ति कहते हैं। जैसे गो का 'कपिलत्वं गोत्वम्' लक्षण कहने पर जो गो कपिल नहीं है, उनमें गो का लक्षण नहीं जायेगा। अतः कपिलत्व लक्षण अव्याप्तिग्रस्त होने से लक्षण नहीं माना जाता। जो लक्षण में रहता हुआ यदि अलक्ष्य में भी रह जाय तो अतिव्याप्ति नाम का दोष माना जाता है। जैसे 'शृङ्गित्वं गोत्वम्' कहने पर समस्त गायों में सींग होने के नाते लक्षण समन्वित होता है। किन्तु साथ ही भैंस, बकरी, मृग आदि के भी सींग होने के कारण उनमें गो का लक्षण अतिव्याप्त है, जबकि वे गो नहीं है। अतः शृङ्गित्व लक्षण नहीं माना जाता क्योंकि वह अतिव्याप्ति ग्रस्त है। लक्ष्यमात्र में लक्षण का न रहना असम्भव दोष माना जाता है। जैसे गो का लक्षण 'एकशफवत्वं गोत्वम्' कहने पर अलक्ष्य घोड़े तथा गधे में लक्षण जाता है, किन्तु लक्ष्य किसी गो में नहीं। अतः असम्भवग्रस्त होने के कारण एकशफवत्व गो का लक्षण नहीं है।

तर्कदीपिका

सामान्यं विभजते – परमिति। परमधिकदेशवृत्ति। अपरं न्यूनदेशवृत्ति। सामान्यादिचतुष्टये जातिर्नास्ति॥

<u>कियन्तो विशेषाः?</u>

७. नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।

नित्य द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु तथा आकाश) में रहने वाले विशेष नाम के पदार्थ हैं जो (परमाणु आदि के अनन्त होने के कारण) अनन्त हैं।

आशा 'विशेष' पदार्थ वैशेषिक दर्शन का सबसे मुख्य पदार्थ है। इसी के आधार पर कदाचित् इस दर्शन का 'वैशेषिक' नाम पड़ा है।

विस्तृत विवेचन आगे विशेष प्रकरण में द्रष्टव्य है।

पदकृत्यम्

नित्येति। ध्वंसभिन्नत्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्। ध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ध्वंसभिन्नेति विशेषणम्। घटादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम्। ध्वंसप्रतियोगित्वं प्रागभावप्रतियोगित्वं वाऽनित्यत्वम्।

जो ध्वंस से भिन्न हो और ध्वंस का अप्रतियोगी हो उसे नित्य कहते हैं। ध्वंस का अप्रतियोगी ध्वंस भी है, क्योंकि ध्वंस का ध्वंस नहीं होता है, अतः ध्वंस में नित्य का लक्षण अतिव्याप्त न हो, इसलिये "ध्वंस भिन्न" यह विशेषण दिया है। ध्वंस से भिन्न घटादि में नित्यलक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण के लिये "ध्वंसाप्रतियोगित्व" यह विशेष्यदल दिया है, क्योंकि घट तो ध्वंस का प्रतियोगी होता है। (जिसका अभाव होता है, उसे प्रतियोगी कहते हैं) ध्वंस का अथवा प्रागभाव जो प्रतियोगी हो उसे अनित्य कहते हैं।

तर्कदीपिका

विशेषं विभजते – नित्येति। पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणव आकाशा-दिपञ्चकञ्च नित्यद्रव्याणि॥

<u>समवाय: कतिविध:?</u>

८. समवायस्त्वेक एव।

समवाय तो एक ही प्रकार का होता है।

आशा नित्यसम्बन्ध को समवाय कहते हैं। समवाय का यह लक्षण इसी ग्रन्थ में आगे दिया गया है। जैसे – अवयव (कपाल आदि) और अवयवी (घटादि द्रव्य), जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी (द्रव्य), क्रिया (कर्म) और क्रियावान् (द्रव्य), विशेष और नित्यद्रव्य (परमाणु आदि) इनका परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं। यह देखा जाता है कि 'विशिष्टज्ञान में विशेषणयुक्त विशेष्य का बोध होता है। जैसे – 'दण्डवान् पुरुष:' यह ज्ञान, विशिष्ट ज्ञान है। अत: यह ज्ञान विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध (विशेषण दण्ड का विशेष्य पुरुष के साथ संयोग सम्बन्ध) विषयक है। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि जो विशिष्टज्ञान होता है, वह विशेषणविशेष्य और सम्बन्ध इन तीनों को विषय बनाता है। इसी तरह 'गुणवान् अथवा क्रियावान् घट:' यह ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान है, अत: यह भी विशेषण-विशेष्य सम्बन्धविषयक है – यह अनुमान होता है। यहाँ पर वह सम्बन्ध (विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध) समवाय के अतिरिक्त (दूसरा कोई संयोगादि) सम्भव हो नहीं सकता। 'दण्डी पुरुष:' यहाँ पर जैसे विशिष्टज्ञान, विशेषण-विशेष्य के संयोग सम्बन्ध को विषय बनाता है, उसी तरह 'अवयववान् अवयवी, गुणवान् गुणी, क्रियावत् द्रव्यम्, जातिमती व्यक्ति:, विशेषवत् नित्यद्रव्यम्' – आदि विशिष्टज्ञानों का विषय भी विशेषण-विशेष्य दोनों का सम्बन्ध ही होगा। वह सम्बन्ध 'समवाय' से भिन्न कोई हो ही नहीं सकता। क्योंकि अवयव, जाति, गुण, क्रिया, विशेष आदि का अपने-अपने द्रव्य के साथ 'संयोग' सम्बन्ध तो होता नहीं है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध तो द्रव्य-द्रव्य का ही होता है – **'द्रव्य-द्रव्ययोरेव संयोग:'** यह नियम है। इस प्रकार से 'समवाय' की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

समवाय की प्रतीति – नैयायिक मत में समवाय का प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञान होता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान में विशेषण-विशेष्यभावसन्निकर्ष कारण होता है। वैशेषिक मत में,

जिसमें अन्नम्भट्ट भी शामिल हैं, समवाय की प्रतीति अनुमान प्रमाण द्वारा होती है। अनुमान द्वारा इसकी प्रतीति का उल्लेख समवाय प्रकरण की दीपिका टीका में अन्नम्भट्ट ने किया है।

वैशेषिक सम्प्रदाय से भिन्न नैयायिक और मीमांसक (प्रभाकर) भी इसे मानते हैं। किन्तु इसके स्वरूप में कुछ मतभेद हैं। वैशेषिकगण इसे अतीन्द्रिय और नित्य मानते हैं, किन्तु नैयायिक इसे नित्य मानते हुए भी प्रत्यक्षवेद्य मानते हैं। प्रभाकर इसकी नित्यता को ही अस्वीकार करते हैं। वेदान्ती और सांख्यदर्शन के अनुयायी इसको नहीं मानते।

सभी सम्बन्धों के प्रतियोगी और अनुयोगी होते हैं। तदनुसार इसके भी प्रतियोगी और अनुयोगी हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इसके प्रतियोगी हैं तथा द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही इसके अनुयोगी हैं। इसका आशय यह है कि कथित द्रव्यादि पाँच पदार्थ ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और द्रव्य, गुण और कर्म में ही रहते हैं।

ग्रन्थकार ने यहाँ समवाय को केवल एक ही बताया है। प्रश्न उठता है **समवाय एक है या अनेक?** प्राचीन नैयायिकों के मत में समवाय एक ही है। गुण द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं यह पूर्व में कहा जा चुका है। स्पर्श नाम का गुण वायु में समवायसम्बन्ध से रहता है तथा रूप नामक गुण घट आदि में समवायसम्बन्ध से रहता है। समवाय के एक होने के कारण रूप का जो समवाय है वही स्पर्श का समवाय है। वायु में चूंकि स्पर्श का समवाय है अतः रूप का भी समवायसम्बन्ध है ही। अतः यह शंका होती है कि यदि समवाय एक ही है तो वायु में भी रूप की प्रतीति होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः समवाय एक कैसे हो सकता है? **समवायस्यैकत्वे वायौरूपवत्ताबुद्धिप्रसंगः** (न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली)।

इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन नैयायिक इस तरह देते हैं- **वायौ रूपसमवायसत्त्वेऽपि रूपाभावात्** (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)। अर्थात् वायु में रूप का समवायसम्बन्ध तो है परन्तु रूप की प्रतीति इसलिये नहीं होती है क्योंकि वायु में रूप का अभाव है। केवल सम्बन्ध के रहने से ही विशिष्टबुद्धि नहीं होती है, **विशिष्ट बुद्धि होने के लिये सम्बन्ध और सम्बन्धी दोनों का होना आवश्यक है।** वायु में रूप का सम्बन्ध तो है, परन्तु सम्बन्धी रूप स्वयं नहीं है, अतः वायु रूपवान्, इत्याकारक विशिष्ट प्रतीति नहीं हो सकती है। परन्तु **नव्यनैयायिक समवाय को एक न मानकर अनेक मानते हैं- पृथिव्यां गन्धस्य समवायो न जले इत्यादिप्रतीतेः समवायस्य नानात्वमिति नव्याः** (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली की दिनकरी टीका)। अर्थात् यदि समवाय एक है तो "पृथ्वी में गन्ध का समवाय है, जल में नहीं" इत्यादि प्रतीति क्यों होती है (समवाय एक है तो जल में भी गन्ध की प्रतीति होनी चाहिये)? इस आपत्ति के कारण नव्यनैयायिकों के मत में समवाय अनेक है- **समवायोऽपि नैको जलादेर्गन्धादिमत्त्वप्रसंगात्** (पदार्थतत्त्वनिरूपण)।

न्यायवैशेषिक दर्शनों में समवाय का अत्यधिक महत्त्व है। उनका कार्यकारण सिद्धान्त इसी पर आधारित है और यही सिद्धान्त उन्हें वस्तुवादी बनाता है।

विस्तृत विवेचन हेतु आगे समवाय प्रकरण द्रष्टव्य है।

तर्कदीपिका

समवायस्य भेदो नास्तीत्याह-समवायस्त्विति॥

<u>अभाव: कतिविध:?</u>

९. अभावश्चतुर्विध:-प्रागभाव: प्रध्वंसाऽभावोऽत्यन्ताभावो-ऽन्योन्याऽभावश्चेति।

अभाव चार प्रकार का होता है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

आशा अन्नम्भट्ट ने अभाव का लक्षण नहीं बताया है। सिद्धान्तचन्द्रोदय के अनुसार अभाव का लक्षण है - **'प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्वम्'** अर्थात् जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी अर्थात् विरोधी पदार्थ के ज्ञान पर आधारित हो वह अभाव है। यथा जब हम कहते हैं कि 'घट का अभाव है' तो हमारी यह प्रतीति घट के ज्ञान पर आधारित है। यदि हमें 'घट' नामक पदार्थ का कभी भी ज्ञान नहीं हुआ है तो हमें घटाभाव का ज्ञान भी नहीं होगा। 'प्रतियोगी' पद न्यायशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। इसका विवेचन इसी हिन्दी टीका में यथा स्थान किया गया है, जैसे कार्य-लक्षण के प्रसंग आदि स्थानों पर। मूल में अभाव के चार भेद बताये गये हैं। वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाला अभाव प्रागभाव है। वस्तु के नष्ट हो जाने पर उत्पन्न होने वाला अभाव प्रध्वंसाभाव है। अत्यन्ताभाव वस्तु का आत्यन्तिक अभाव है, और अन्योन्याभाव पारस्परिक अभाव। **कारिकावली** आदि ग्रन्थों में इन चार अभावों को प्रथमत: दो भागों में विभाजित कर दिया है :- संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन रूप हैं :- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। यथा **इह भूतले घटो नास्ति**- इस ज्ञान में हम भूतल में घट के संसर्ग का अभाव बताते हैं। इसी प्रकार प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव भी अधिकरण में पदार्थ का अभाव सूचित करते हैं। जबकि अन्योन्याभाव दो पदार्थों का पारस्परिक अभाव है। वस्तुत: अन्योन्याभाव दो संसर्गाभावों को मिलाकर बनता है- **घट: पटो नास्ति**। इसके दो अर्थ हैं- **घटे पटत्वं नास्ति** और **पटे घटत्वं नास्ति**। अन्योन्याभाव में दोनों पदार्थ समानाधिकरण होते हैं और प्रथमा विभक्ति में रखे जाते हैं जबकि संसर्गाभाव में एक आधार होता है और एक आधेय।

महर्षि कणाद ने **"धर्मप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम्"** (१/१/४) इस पदार्थोद्देश सूत्र में अभाव पदार्थ का उल्लेख नहीं किया है। इसी तरह वैशेषिक दर्शन के सब से प्रामाणिक भाष्यकार **प्रशस्तपाद** ने भी अभाव पदार्थ का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु टीकाकारों ने कणाद के अन्य सूत्रों यथा **क्रियागुणव्यपदेशाभावात्** (९/१/१), **सदसत्** (९/१/२), **सच्चासत्** (९/१/४) इत्यादि के आधार पर अभाव को एक पृथक् पदार्थ स्वीकार कर लिया है।

अभाव प्रकरण भी द्रष्टव्य है।

तर्कदीपिका

अभावं विभजते – अभावेति।

द्रव्यलक्षणप्रकरणम्।

पृथिव्याः किं लक्षणं, कति च भेदाः।

१०. तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा शरीरेन्द्रिय-विषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादि।

द्रव्यों में पृथ्वी वह द्रव्य है जिसमें गन्धगुण रहता है। पृथ्वी दो प्रकार की है। एक नित्य और दूसरी अनित्य। नित्य परमाणु रूप है और अनित्य कार्य रूप। (अनित्य पृथ्वी) पुनः तीन प्रकार की है :- शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से। हम लोगों का शरीर पार्थिव है। हम लोग के नासा के अग्र-भाग में रहने वाली और गन्ध का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय पार्थिव है, उसे घ्राण कहते हैं। मिट्टी और पत्थर आदि पृथ्वी का विषय रूप भेद है।

आशा यहाँ पृथ्वी का लक्षण 'गन्ध से युक्त' होना बताया गया है अर्थात् जिसमें गन्ध रहे वह पृथ्वी नामक द्रव्य है। चूँकि 'काल' एवं 'दिक्' में भी गन्ध कालिक व दैशिक सम्बन्ध से रहती है, अतः पृथ्वी का लक्षण काल व दिक् में अतिव्याप्त हो जायेगा? इस शंका के समाधान हेतु यहाँ 'गन्धवती' पद का अर्थ 'गन्धसमवायिकारणम्' यह समझना चाहिये। यहाँ वत् का अर्थ है – समवाय अर्थात् 'समवायेन गन्धकारणं पृथ्वीलक्षणम्' (समवायसम्बन्ध से जो गन्ध का कारण हो, उसे 'पृथ्वी' कहेंगे)। कालः कालिकसम्बन्धेन गन्धहेतुः अर्थात् काल, कालिकसम्बन्ध से गन्ध का कारण होता है, समवायसम्बन्ध से नहीं। इसी तरह दिक् दैशिकसम्बन्ध से गन्ध की हेतु होती है, समवायसम्बन्ध से नहीं। अतः दोनों में पृथ्वीलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। नौ द्रव्यों में से यह 'पृथ्वी' ही 'गन्ध' के प्रति समवायिकारण है। पृथ्वी से गन्ध उत्पन्न होता है, वह 'गन्ध' समवायसम्बन्ध से पृथ्वी में रहता है, अतः 'गन्धवत्त्व' यह लक्षण 'पृथ्वी' का किया गया है। सारांश यह है कि 'जिसमें गन्ध हो वही पृथ्वी है' यह समझना चाहिये। यहाँ एक शंका यह की जाती है कि यह नियम है कि द्रव्य उत्पत्ति के प्रथम क्षण में निर्गुण होता है तब घट आदि कार्यरूप पृथ्वी में प्रथम क्षण में गन्ध के नहीं रहने के कारण उपर्युक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी? इसके समाधान हेतु पृथ्वी का जाति घटित लक्षण किया गया है। जातिघटित लक्षण करने से अव्याप्ति नहीं होगी। आशय यह है कि 'गन्धवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्' ऐसा अर्थ 'गन्धवत्' पद का करने पर अव्याप्ति नहीं होगी। गन्धवान् जो कपालादि उनमें रहनेवाली (तद्वृत्ति) जो द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजाति, यानी 'पृथ्वीत्व' जाति, 'तादृशजातिमत्त्व' 'गन्धवत्' पद से विवक्षित किया गया है। अतः

सुरभ्यसुरभिकपालारब्ध तथा प्रथमक्षण के निर्गन्धिघट में भी पृथ्वीत्व के होने से लक्षणसमन्वय हो जाता है।

जलादि द्रव्यों में जो गन्ध का अनुभव होता है वह पार्थिव कणों के संयोग से ही है तथा पाषाण आदि रूप पृथ्वी जो निर्गन्ध प्रतीत होती है उसका कारण उनमें गन्धका अनुद्भूत होना है, इनमें गन्ध की सत्ता निश्चित रूप से होती है।

पृथ्वी में गुणों की संख्या - यह पृथ्वी नामक द्रव्य १. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. संख्या, ६. परिमाण, ७. पृथक्त्व, ८. संयोग, ९. विभाग, १०. परत्व, ११. अपरत्व, १२. गुरुत्व, १३. द्रवत्व तथा १४. संस्कार इन चौदह गुणों से युक्त हैं। पृथ्वी में पाये जाने वाले इन चौदह गुणों में से रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चारों गुण पाकज व अनित्य होते हैं, चाहे ये चारों गुण परमाणु रूप नित्य पृथ्वी में रहें या कार्यरूप अनित्य पृथ्वी में। इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे गुण प्रकरण में किया गया है।

पृथ्वी के भेद - यह पृथ्वी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। परमाणुरूपा पृथ्वी नित्य है, क्योंकि अणु या परमाणु को निरवयव माना गया है। 'अणु' रूप पृथ्वी का (अवयवनाश या अवयवों के संयोग का) नाश सम्भव न हो सकने से उसे नित्य कहा गया है और अणु से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि जो स्थूलकार्य बनते हैं, वे सावयव होते हैं, अतः सावयव पृथ्वी को अनित्य कहा गया है। आशय यह है कि जिसकी उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता और जो निरवयव होती है उस पृथिवी को नित्य कहते हैं और जिसकी उत्पत्ति और नाश होता है तथा जो सावयव है उस पृथ्वी को 'अनित्य' कहते हैं।

नव्यन्यायशैली में **नित्य पदार्थ** की परिभाषा यह है कि जो पदार्थ प्रागभाव का अप्रतियोगी हो तथा साथ ही ध्वंस का भी अप्रतियोगी हो उसे नित्य कहते हैं- **प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्।** परमाणु आदि नित्य पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती अतः उन नित्य पदार्थों में प्रागभाव का प्रतियोगित्व (प्रतियोगिता) नहीं रहता तथा नित्य पदार्थों का विनाश भी नहीं होता, इस कारण नित्य पदार्थों में ध्वंस (प्रध्वंसाभाव) का प्रतियोगित्व भी नहीं रहता, यही नित्यता का तात्पर्य है। **अनित्य पदार्थ** का का लक्षण है - **प्रागभावप्रतियोगित्वं ध्वंसप्रतियोगित्वाऽन्यतरवत्त्वं अनित्यत्वम्।** जो पदार्थ प्रागभाव का प्रतियोगी हो या ध्वंस का प्रतियोगी हो अथवा प्रागभाव और ध्वंस दोनों का प्रतियोगी हो, उसे अनित्य कहते हैं। घट,पट आदि कार्य रूप पृथ्वी अपने प्रागभाव व ध्वंसाभाव दोनों की प्रतियोगी होती है अतः यही कार्य रूप पृथ्वी की अनित्यता है।

अनित्य पृथ्वी के भेद - परमाणुरूप पृथ्वी से भिन्न द्व्यणुकादिरूप समस्त पृथ्वी कार्यरूप है और वही अनित्य अर्थात् सावयवा है। वह कार्यरूप पृथ्वी शरीर, इन्द्रिय तथा विषय के भेद से तीन प्रकार की है :-

शरीर - न्यायसूत्रकार गौतम ने शरीर का लक्षण इस प्रकार किया है - **चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्** (१/१/११) अर्थात् चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थ के आश्रय को शरीर कहते हैं। आत्मा के प्रयत्न से शरीर में जो क्रिया उत्पन्न होती है उसी क्रिया का नाम चेष्टा है। इसी

से चेष्टाश्रयत्व शरीर का लक्षण होता है। इसी तरह घ्राण आदि इन्द्रिय समूह भी शरीर को ही आश्रय बनाकर रहता है अतएव शरीराश्रित है। शरीर के साथ इन इन्द्रियों की सत्ता है। अतएव अवच्छेदकता सम्बन्ध से शरीर के साथ इन इन्द्रियों की सत्ता है। इसी से इन्द्रियाश्रयत्व भी शरीर का लक्षण है। इसी सूत्र के अन्त में गौतम कहते हैं कि अर्थाश्रयत्व भी शरीर का लक्षण होता है। भाष्यकार आदि आचार्यगण इसकी व्याख्या में कहते हैं कि अर्थ पद का अर्थ सुख और दु:ख है। यह पारिभाषिक शब्द है। इसीलए सुखाश्रयत्त्र तथा दु:खाश्रयत्व भी शरीर का लक्षण होता है।

प्रशस्तपादभाष्य की न्यायकन्दली टीका में शरीर की परिभाषा दी है - **भोक्तुर्भोगायतनं शरीरम्** अर्थात् भोग करने वाला आत्मा जिस आश्रय में भोग करे उसे शरीर कहते हैं। आत्मा विभु है, अत: समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ उसका संयोग है परन्तु सुख, दु:ख आदि का अनुभव अर्थात् भोग वह शरीर में रहकर ही करता है। अत: आत्मा का शरीर के साथ विशेष सम्बन्ध है, जिसके कारण ही शरीर को आत्मा के भोग करने का 'आयतन' कहा जाता है। न्यायसूत्र के टीकाकार वात्स्यायन ने भी शरीर को इसी तरह परिभाषिति किया है (न्यायसूत्र १/१/९)। अन्नम्भट्ट ने दीपिका टीका में इसी लक्षण का उल्लेख किया है। शरीर की एक अन्य परिभाषा है - **अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयम्** (वैशेषिकसूत्रोपस्कार ४/२/१)। अर्थात् जिसमें स्वतन्त्र चेष्टा है और जो अन्तिम अवयवी हो, वह शरीर है। सिद्धान्त चन्द्रोदय में अन्तिम अवयवी की परिभाषा दी है- **अवयवजन्यत्वे सत्यवयव्यजनकत्वम्**। अर्थात् जो स्वयं किन्हीं अवयवों से मिलकर बना है किन्तु स्वयं किसी अवयवी का जनक न हो। जैसे घट और हमारा शरीर। हमारा शरीर स्वयं एक अवयवी है किन्तु अन्य अवयवी का अवयव नहीं है। चेष्टा की परिभाषा है- **हिताहितप्रासिपरिहारार्थ: स्पन्द:**। अर्थात् जो हित की प्रासि और अहित की निवृत्ति के लिए की जाने वाली क्रिया चेष्टा है। हाथ और पैर भी ऐसी चेष्टा करते हैं किन्तु वे स्वयं शरीर के अवयव हैं। अत: अन्तिम अवयवी नहीं हो सकते। ऐसी चेष्टा का जो आश्रय है तथा जो अन्तिम अवयवी है वही शरीर है।

पार्थिव शरीर के दो भेद माने गये हैं :- **योनिज तथा अयोनिज**। शुक्र-शोणित के परस्पर सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले शरीर को 'योनिज' कहते हैं और उससे भिन्न (पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न न होने वाले) शरीर को 'अयोनिज' कहते हैं। योनिज शरीर दो प्रकार का है :- (१) जरायुज और (२) अण्डज। गर्भवेष्टनचर्मपुटक (झिल्ली) को 'जरा' कहते हैं, उससे उत्पन्न होने वाले 'शरीर' को 'जरायुज' कहते हैं। (२) गर्भवेष्टनशुक्तिकटाह को 'अण्ड' कहते हैं। उससे उत्पन्न होने वाले शरीर को 'अण्डज' कहते हैं। जरायुज शरीर मनुष्य, पशु, मृग आदि का होता है और अण्डज शरीर सांप, पक्षी, आदि का होता है। अयोनिज शरीर भी अनेक प्रकार के होते हैं- (१) शरीर से निकलने वाले जल बिंदु को 'स्वेद' (पसीना) कहते हैं, उससे उत्पन्न होने वाले शरीर को 'स्वेदज' कहते हैं। जैसे - खटमल, मच्छर, जूँ आदि के शरीर 'स्वेदज' हैं। जमीन को फाड़कर उत्पन्न होनेवाले शरीर

को 'उद्भिज्ज' कहते हैं। जैसे - पेड़, लता, झाड़ी आदि के शरीर 'उद्भिज्य' हैं। देवताओं तथा नरकवासियों के शरीर भी अयोनिज ही माने गये हैं। धर्मविशेष सहित अणुओं से देवशरीर तथा अधर्मविशेष सहित अणुओं से नारकीय शरीर उत्पन्न होते हैं। मनुष्य आदि का शरीर पार्थिव है, इसका प्रमाण यह है कि उसमें गन्ध आदि गुण पाये जाते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शनों में गन्ध केवल पृथ्वी नामक द्रव्य में ही रहता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है।

इन्द्रिय - अन्नम्भट्ट ने दीपिका टीका में इन्द्रिय की यह परिभाषा दी है- **शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयम्**। अर्थात् जो मन के संयोग से ज्ञान का कारण बने, किन्तु स्वयं शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य विशेष गुण का आश्रय न हो। न्यायमत में प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया इस प्रकार है- **आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेन** (तर्कभाषा)। अर्थात् पहले आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रिय के साथ, इसके बाद इन्द्रिय का अर्थ अर्थात् विषय के साथ सम्बन्ध होता है। इन्द्रियाँ एक ओर बाह्य विषयों से सम्बद्ध होती हैं, और दूसरी ओर मन से। अतः मन, आत्मा और इन्द्रिय दोनों से सम्बन्ध रखता है और ये दोनों ही सम्बन्ध ज्ञान का कारण हैं। उपर्युक्त परिभाषा में **शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति** इसलिए कहा गया है कि इन्द्रिय का लक्षण आत्मा में अतिव्याप्त न हो जाए, क्योंकि आत्मा ज्ञान, इच्छा आदि शब्देतर उद्भुत विशेष गुण का आश्रय ही है अनाश्रय नहीं। किन्तु इस पर यह शंका की जा सकती है, कि इन्द्रियाँ भी जिन जिन पदार्थों से बनती हैं, उन-उन के गुणों का आश्रय होती ही है। उदाहरणतः पृथ्वी से निर्मित इन्द्रिय में गन्ध और तेज से निर्मित इन्द्रिय में रूप होना ही चाहिए। उत्तर यह है कि उनमें गुण रहते अवश्य हैं, किन्तु व्यक्त नहीं होते। इसीलिये परिभाषा में विशेष का उद्भूत विशेषण दिया गया है। किन्तु इस प्रकार यह परिभाषा अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जाएगी, क्योंकि श्रोत्र में जोकि आकाश स्वरूप है, शब्द गुण उद्भूत ही रहता है। इसके निवारण हेतु परिभाषा में 'शब्देतर' पद जोड़ दिया गया है।

तर्कभाषा में इन्द्रिय का लक्षण **शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियं इन्द्रियम्** किया गया है। इसका अर्थ है - जो शरीर से संयुक्त हो, ज्ञान का करण हो तथा स्वयं अतीन्द्रिय हो वह इन्द्रिय कहलाता है। लक्षण में ज्ञानकरणम् पद इसलिये दिया गया है, जिससे काल आदि में इन्द्रिय लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, क्योंकि काल, आकाश आदि पदार्थ भी अतीन्द्रिय हैं अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते हैं। इसलिये यदि 'अतीन्द्रियम्' इतना ही इन्द्रिय का लक्षण किया जाये तो काल आदि भी इन्द्रिय कहलाने लगेंगे। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उसके साथ 'ज्ञानकरणम्' यह पद जोड़ दिया गया है। काल आदि ज्ञान के करण नहीं हैं अतः अतीन्द्रिय होने पर इन्द्रिय नहीं कहलाते हैं। इन्द्रिय का लक्षण यदि 'ज्ञानकरणमतीन्द्रियम्' इतना ही कहा जाये तो 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष' में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि इन्द्रिय का अर्थ (विषय) के साथ जो सन्निकर्ष होता है वह भी ज्ञान का कारण है ही तथा वह भी अतीन्द्रिय है। (इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्ष को अतीन्द्रिय इसलिये कहा गया है कि जिन पदार्थों का संयोग सम्बन्ध होता है, वे दोनों पदार्थ यदि प्रत्यक्षगोचर हैं तो उन दोनों का संयोग

भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु यदि वे दोनों पदार्थ या उन दोनों में से कोई एक पदार्थ अप्रत्यक्ष हो तो उनका संयोग भी अप्रत्यक्ष होता है। जैसे वायु का चक्षु से ग्रहण नहीं होता अत: पुस्तक के साथ वायु के संयोग का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार इन्द्रियों के अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अतीन्द्रिय है।) इस अतिव्याप्ति के निवारण हेतु 'शरीरसंयुक्त' यह पद दिया गया है। इन्द्रियसन्निकर्ष का शरीर के साथ संयोग नहीं होता है क्योंकि संयोगादि सन्निकर्ष, द्रव्य रूप नहीं हैं और संयोग केवल द्रव्यों का ही होता है। अब इन्द्रिय के लक्षण में दिये गये 'अतीन्द्रियम्' पद का महत्त्व स्पष्ट करते हैं- इस लक्षण को केवल 'शरीरसंयुक्त ज्ञानकरणं इन्द्रियम्' इतना ही कहें तो आलोक आदि में इसकी अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि आलोक का शरीर के साथ संयोग भी है और वह ज्ञान का कारण भी है। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ अतीन्द्रियम् यह पद इन्द्रिय लक्षण में दिया गया है।

विषय :- अनित्यसंज्ञक पृथ्वी के भागों में से जो 'विषय' संज्ञक भाग है, उसका निरूपण करते हैं- **'विषयोमृत्पाषाणादि'** इति। जिस वस्तु से सुख-दु:ख का उपभोग होता है उस वस्तु को **'विषय'** कहते हैं। अर्थात् सुख-दु:ख साक्षात्कार के प्रयोजक को 'विषय' कहते हैं। साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से कार्यसम्पादक का नाम 'प्रयोजक' है। द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जितनी पृथिवी है, वह सब 'विषय' है। इस विषय से उत्पन्न हुए सुख या दु:ख के उपभोग का प्रकार यह है कि इस लोक या परलोक में जो वस्तु उत्पन्न हुई है, या उत्पन्न होगी अथवा उत्पन्न हो रही है वह वस्तु-समुदाय जीवों के अदृष्ट (पाप-पुण्य) के अधीन है? जो वस्तु (कार्य) जिस जीव के जिस अदृष्ट के अधीन है, वह वस्तु (कार्य) उसी जीव को उसी के अदृष्ट के अनुसार साक्षात् अथवा परम्परासम्बन्ध से सुख दु:ख के भोग की प्रयोजक होती है। वह वस्तु (कार्य) तत्तत् जीवों के अदृष्ट से उत्पन्न हो चुकी है या होगी या हो रही है- ऐसा माना जाता है। 'सर्वं कार्यं धर्माधर्माधीनं भवति' ऐसा कहा जाता है। इसमें प्रमाण यह है- जो वस्तु (विषय,कार्य) उत्पन्न होती है, उसकी उत्पत्ति का बीज (कारण) तथा प्रयोजन (उपयोग अथवा फल) आवश्यक मानने पड़ते हैं। इन दो कारणों के बिना कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। अर्थात् प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में कोई न कोई समवायि-असमवायि या निमित्त कारणों में से कोई भी एक अवश्य ही होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि द्व्यणुक से ब्रह्माण्ड तक जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सभी वस्तुएँ उनके विषय हैं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि शरीर तथा इन्द्रिय इन दो से ही सुख-दु:ख का उपभोग होता है। अत: शरीर और इन्द्रिय ये ही दो विषय कहे जा सकते हैं, तब शरीर, इन्द्रिय और विषय-ये तीन भेद क्यों किये गये हैं? इसका उत्तर यह है कि शिष्यों की बुद्धि को विशद बनाने के लिए (पदार्थों के सूक्ष्म भेद जानने की शक्ति प्राप्त कराने के लिये) उक्त तीन भेद किये जाते हैं। वस्तुत: शरीर और इन्द्रिय का पृथक् विभाग करने की आवश्यकता नहीं थी, तथापि ये शरीर हैं, ये इन्द्रियाँ हैं उनसे भिन्न ये विषय भी हैं, इस प्रकार से शिष्यों की बुद्धि को विकसित करना यही एक मात्र प्रयोजन ग्रन्थकार का है। विषय की उपर्युक्त व्याख्या न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ न्याय पञ्चानन के मतानुसार की गयी है। स्वयं

अन्नम्भट्ट ने तर्कदीपिका में विषय को शरीर तथा इन्द्रिय से भिन्न कहा है। **वस्तुतः विषय पद का तात्पर्य यहाँ पर उन पदार्थों से है जो हर स्थिति में विषय ही बने रहते हैं, कभी भी विषयी नहीं बन सकते हैं।**

ऊपर द्व्यणुक व उससे लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त पदार्थों को पार्थिव विषय बताया गया है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि परमाणुओं को विषय के अन्तर्गत क्यों नहीं लिया गया है? ऊपर जिन भेदों का विवेचन किया जा रहा है वे अनित्य पृथ्वी के भेद हैं, परमाणु तो नित्य माने गये हैं। दूसरी बात यह भी है कि परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण हमारे भोग के विषय नहीं बनते हैं, अतः **कारिकावली** में परमाणुओं को विषय से बाहर बताया गया है- **विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः** (३८)। वृक्षों को शरीर के अन्तर्गत माना जाये या विषय के अन्तर्गत? इस संदर्भ में भी मत भिन्नता है :- **प्रशस्तपादभाष्य** में वृक्ष को विषय के अन्तर्गत माना है जबकि **विश्वनाथ** ने **मुक्तावली** में वृक्ष को शरीर के अन्तर्गत रखा है। अन्नम्भट्ट भी संभवतः वृक्ष को विषय के अन्तर्गत ही मानते हैं।

पदकृत्यम्

शरीरेति। यद्भोगायतनं तदेव शरीरं,चेष्टाश्रयो वा। इन्द्रियमिति। चक्षुरादावतिव्याप्तिवारणाय गन्धग्राहकमिति। कालादावतिप्रसक्तिवारणाये-न्द्रियमिति। विषय इति। शरीरेन्द्रियभिन्नत्वे सत्युपभोगसाधनं विषयः। शरीरादावतिव्याप्ति-निरासाय सत्यन्तम्। परमाण्वादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम्। कालादिवारणाय जन्यत्वे सतीत्यपि बोध्यम्।

भोग के आयतन अथवा चेष्टा के आश्रय को शरीर कहते हैं। (किन्तु हस्तमात्र में शरीर के लक्षण की अतिव्याप्ति रोकने के लिए **अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयत्वं** लक्षण माना जाता है।) चक्षु आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिए इन्द्रिय लक्षण में गन्धग्राहक यह विशेषण दिया गया है। काल में अतिव्याप्ति वारण के इन्द्रियं पद है क्योंकि जन्य मात्र का जनक होने से काल भी गन्धग्रहण का कारण है। शरीर और इन्द्रिय से भिन्न तथा उपभोग के साधन को विषय कहते हैं। उपभोग का साधन शरीरादि भी हैं, अतः उनमें विषयलक्षण के अतिव्याप्तिनिवारण के लिये 'शरीरेन्द्रियभिन्नत्वे सति' यह विशेषण दिया। शरीरेन्द्रिय से भिन्न परमाणु आदि में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'उपभोगसाधनम्' यह विशेष्यदल दिया। अतीन्द्रिय परमाणु का उपभोग नहीं होता है। काल भी शरीर इन्द्रिय से भिन्न होता हुआ उपभोग के प्रति कारण है, अतः उसमें विषयत्व का वारण करने के लिये 'जन्यत्वे सति' यह भी विशेषण जोड़ देना चाहिये क्योंकि काल तो नित्य है, जन्य नहीं।

तर्कदीपिका

तत्रोद्देशादिक्रमानुसारात्पृथिव्या लक्षणमाह - गन्धवतीति। नाम्ना पदार्थसंकीर्तनमुद्देशः। उद्देशक्रमे च सर्वत्रेच्छैव नियामिका। ननु सुरभ्य-सुरभ्यवयवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः। न च तत्र

गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्; अवयवगन्धस्यैव तत्र प्रतीतिसंभवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात्॥ किञ्चोत्पन्नविनष्टघटादावव्याप्तिरिति चेत्, न; गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्यैव विवक्षितत्वात्। ननु जलादावपि गन्धप्रतीतेरतिव्याप्तिरिति चेत्,-न; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्यैव तत्र भानाङ्गीकारात्। ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां कालेऽतिव्याप्तिरिति चेत्-न; सर्वाधारताप्रयोजकसंबन्धभिन्नासंबन्धेन लक्षणस्याभिमतत्त्वात्॥

पृथिवीं विभजते-सा द्विविधेति। नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। ध्वंसप्रतियोगित्वमनित्यत्वम्॥ प्रकारान्तरेण विभजते-पुनरिति। आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनम्। सुखदु:खान्यतरसाक्षात्कारो भोगः॥ शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः-संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः। एवञ्च गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्, गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्, गन्धवान्विषयः पार्थिवविषय इति तत्तल्लक्षणं बोध्यम्॥ पार्थिवशरीरं दर्शयति-शरीरमिति। पार्थिवेन्द्रियं दर्शयति-इन्द्रियमिति। गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम्। घ्राणमिति संज्ञा। नासाग्रेत्या-श्रयोक्तिः। एवमत्रापि ज्ञेयम्। पार्थिवविषयं दर्शयति-विषयेति॥

<u>जलस्य किं लक्षणं, कति च भेदाः?</u>

११. शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधा नित्या-अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः। अनित्याः कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।

शीत स्पर्श का आश्रय जल होता है। वह दो प्रकार का है एक नित्य, दूसरा अनित्य। परमाणु रूप जल नित्य है और कार्य रूप जल अनित्य। पुनः (कार्य रूप जल) शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का है। शरीर वरुण लोक में हैं। रस का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय रसना है, जो जिह्वा के अग्रभाग में रहती है। नदी और समुद्रादि विषय रूप जल हैं।

आशा शीतल स्पर्श युक्त द्रव्य को जल कहते हैं। **कणाद** ने आपः की यह परिभाषा दी है- **रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः;** (वैशेषिक सूत्र २/१/२)। अर्थात् रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्नेह से युक्त वस्तु ही जल है। कणाद ने इसका कोई वर्गीकरण नहीं किया है। इसका विभाजन भी पृथ्वी की भांति पहले नित्य, अनित्य और फिर शरीर, इन्द्रिय और विषय के रूप में किया गया है।

जलीय शरीर वरुण लोक में माना गया है। जलीय शरीर के बारे में यह शंका हो सकती है कि जलीय शरीर में मुख, दांत आदि अवयवों की संभावना नहीं हो सकती, और अवयवों के बिना आहार, विहार आदि नहीं हो सकते, तथा आहार, विहार के बिना भोगायतनत्व नहीं बन सकता और उसके बिना शरीरत्व का होना भी संभव नहीं। इसका समाधान यह है कि वरुणलोकस्थित जलीय-शरीर में पृथ्वी आदि भूतों का भी भाग मिला रहता है। इस कारण मुख, दांत आदि तथा आहार विहार और भोगायतनत्व के बनने से शरीरत्व भी संभव है। सभी भूतों के मिश्रित रहने पर भी जलतत्त्व की प्रधानता रहने से ही उसे 'जलीय शरीर' कहा जाता है। जल के अधिष्ठाता देव को '**वरुण**' कहते हैं। जलीय शरीर केवल अयोनिज माने जाते हैं।

जिह्वा का अग्रभाग जो स्वाद ग्रहण करता है इसकी इन्द्रिय है रसनेन्द्रिय जलीय होने योग्य है, क्योंकि गन्ध आदि गुणों की व्यञ्जक न होकर रसगुण की व्यञ्जक होती है। जो जो द्रव्य गन्धादि गुणों का व्यंजक न होकर रस गुण का व्यंजक होता है, वह वह द्रव्य जलीय होता है। जैसे - जल, सक्तु के गन्ध आदि गुण का व्यञ्जक न होकर सक्तु के केवल रस का व्यञ्जक होता है, इस कारण उसमें (जल में) जलीयत्व प्रसिद्ध है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी अन्न आदि पदार्थों के गन्ध आदि का व्यञ्जक न होकर केवल रसका ही व्यञ्जक होता है, अतः रसनेन्द्रिय में जलीयत्व स्पष्ट है।

नदी, समुद्र, तडाग, ओले आदि **विषय रूप जल हैं**। पाषाण में जो हमे शीतलता का अनुभव होता है, वह उसमें जलीय तत्त्व की सत्ता के कारण ही है।

पूर्व में पृथिवी के जो १४ गुण बताये गये हैं, उनमें से गन्ध को हटा कर उसके स्थान पर स्नेह को रख देने से गन्ध रहित और स्नेह युक्त पूर्वोक्त चौदह गुण (अर्थात १. रूप, २. रस, ३. स्नेह, ४. स्पर्श, ५. संख्या, ६. परिमाण, ७. पृथक्त्व, ८. संयोग, ९. विभाग १०. परत्व, ११. अपरत्व १२. गुरुत्व, १३. द्रवत्व और १४. संस्कार) जल में पाये जाते हैं। जल में अभास्वर शुक्ल रूप पाया जाता है। 'शुक्लरूप' भास्वर तथा अभास्वर दो प्रकार का है। उनमें से 'भास्वर' तो स्पष्ट दिखाई देता है और 'अभास्वर' स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता है। 'भास्वर शुक्लरूप' तेज में रहता है और 'अभास्वर शुक्लरूप' जल में रहता है। अभास्वर शुक्लरूप के अतिरिक्त अन्य कोई भी रूप 'जल' में नहीं रहता। रसों में से मधुर रस ही जल में रहता है तथा स्नेह एवं सांसिद्धिक द्रवत्व केवल जल में ही पाये जाते हैं। स्पर्श भी इसका शीतल ही होता है।

पदकृत्यम्

शीतेति। तेजसादावतिव्याप्तिवारणाय शीतेति। आकाशेतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शेति कालादावतिप्रसक्तिवारणाय समवायसम्बन्धेनेति पदं देयम्। इन्द्रियमिति। त्वगादावतिव्याप्तिवारणाय रसग्राहकमिति। रसनेन्द्रियरससन्निकर्षादावति-व्याप्तिनिरासायेन्द्रियमिति। सरिदिति। आदिना तडागहिमकरकादीनां संग्रहः।

जल का लक्षण 'यदि स्पर्शवत्यः आपः' इतना ही कहा जाय तो स्पर्शवान् तेज में अतिव्याप्ति होगी। अतः 'शीतस्पर्शवत्वं जलत्वम्' लक्षण किया गया है। शीतवत्यः आपः मात्र लक्षण मानने से जगत् के आश्रय आकाश में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि आकाश भी शीत द्रव्य का आश्रय है अतः स्पर्श पद दिया है। शीत स्पर्श किसी काल में ही होता है, अर्थात् कालिकसम्बन्ध से काल भी शीतस्पर्श का आश्रय है अतः वह काल भी शीत स्पर्शवान् होगा। अतः इस लक्षण की काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'समवायसम्बन्धेन शीतस्पर्शवत्वम् जलस्य लक्षणम्' कहना चाहिए। शीत स्पर्श काल में समवायसम्बन्ध से नहीं रहता। त्वक् आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'ग्राहकं रसनं' न कह कर 'रसग्राहकं रसनं' कहा है। रसनेन्द्रिय सन्निकर्ष भी रसग्राहक है। अतः उसमें अतिव्याप्ति वारणके लिए 'इन्द्रियं' पद दिया है। (यहाँ इन्द्रियं लक्ष्य है रसग्राहकं लक्षण है। रसना नाम है और जिह्वा का अग्रभाग उसका स्थान है)। सरित समुद्रादि में आदि पद से तडाग हिमकरक आदि का भी संग्रह किया गया है।

तर्कदीपिका

अपां लक्षणमाह - शीतेति। उत्पन्नविनष्टजलेऽव्याप्तिवारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वे तात्पर्यम्। 'शीतं शिलातलम्' इत्यादौ जलसंबन्धादेव शीतस्पर्शभानमिति नातिव्याप्तिः। अन्यत्सर्वं पूर्वरीत्या व्याख्येयम्॥

<u>तेजसः किं लक्षणं, कति च भेदाः?</u>

१२. उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधं नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रिय-विषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधो। भौमदिव्योदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतु-रुदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

उष्णस्पर्श का आश्रय तेज है। वह तेज दो प्रकार है एक नित्य और दूसरा अनित्य। परमाणुरूप तेज नित्य है तथा कार्यरूप तेज अनित्य है। अनित्य तेज भी तीन प्रकार का होता है- शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से। शरीर आदित्य लोक में प्रसिद्ध है। रूप का ग्रहण करने वाली चक्षु तेज स्वरूप इन्द्रिय है जो नेत्र की काली पुतली में नील वर्ण से झलकने वाले अग्रभाग में रहती है। विषय चार प्रकार का है :- भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज के भेद से। लकड़ी आदि इन्धन से उत्पन्न तेज भौम है। जो पानी रूपी इन्धन से उत्पन्न होता है वह विद्युत् (बादल में चमकने वाली) दिव्य तेज है। भोजन के पाचन की निमित्त अग्नि उदर्य है अर्थात् जो पेट में खाये हुए अन्न को पकाता है वह तेज। सुवर्ण आदि भी तेज हैं, ये यह खान (आकर) से उत्पन्न होते हैं। अतः आकरज कहलाते हैं।

आशा तेज (अग्नि) नामक द्रव्य का विवेचन करते हुये मूल में अनित्य तेज को जो तीन भागों में विभाजित किया गया है। उनमें से प्रथम **तैजस शरीर** भी अयोनिज ही है एवं आदित्यलोक में प्रसिद्ध है। पार्थिव अवयवों के सम्बन्ध से यह सुख दुःख के अनुभव की क्षमता प्राप्त करता है।

सभी प्राणियों को रूप का प्रत्यक्ष जिससे होता है, वही **तैजस इन्द्रिय** है। जिनकी शक्ति विजातीय द्रव्यों की शक्ति से पराभूत नहीं हुई है, उन तैजस अवयवों से तैजस इन्द्रिय की सृष्टि होती है। इस इन्द्रिय का नाम है 'चक्षु'।

विषय नामक तेज के भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज भेद से चार प्रकार हैं। इनमें लकड़ी प्रभृति इन्धन से उत्पन्न तेज 'भौम' है। ऊपर की ओर प्रज्वलित होना उसका स्वभाव है। भौम तेज पाक, दाह एवं वस्तुओं के काठिन्य को दूर कर कोमल बनाने की शक्ति रखता है। जिसमें अप्, अर्थात् जल ही इन्धन का काम देवे, उस विषय रूपी तेज को 'दिव्य' कहते हैं, इसके अन्तर्गत सौर तेज और विद्युत् प्रभृति आते हैं। खाये हुए द्रव्य को पचानेवाला उदर का तेज ही 'उदर्य्य' तेज है। सुवर्ण प्रभृति 'आकरज' तेज हैं। उनमें रस की उपलब्धि संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से होती है।

न्याय-वैशेषिक मत में स्वर्ण भी तैजस ही है। इसकी उष्णता पार्थिव पदार्थों के आधिक्य से छिप गयी है। सुवर्ण को तैजस पदार्थ मानने में उनकी युक्ति यह है कि शुद्ध सुवर्ण को किसी भी तापमान तक गरम किया जाय, वह जल आदि के समान वाष्प आदि के रूप में परिवर्तित नहीं होगा अपितु वैसा ही रहेगा। इसलिए वह तेजोरूप अथवा तैजस पदार्थ है।

तेजस नामक यह द्रव्य १. रूप, २. स्पर्श, ३. संख्या, ४. परिमाण, ५. पृथक्त्व, ६. संयोग, ७. विभाग, ८. परत्व, ९. अपरत्व, १०. द्रवत्व, ११. संस्कार इन ग्यारह गुणों से युक्त होता है। तेज में रूपों में से भास्वर शुक्ल रूप तथा स्पर्शों में से उष्णस्पर्श ही रहता है।

पदकृत्यम्

उष्णेति। जलादावतिव्याप्तिनिरासायोष्णेति। कालादावतिप्रसङ्गवारणाय समवायसम्बन्धेनेति पदं देयम्। इन्द्रियमिति। घ्राणादावतिव्याप्तिवारणाय रूपग्राहकमिति। भेदादितिपदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते। भौममिति। आदिपदेन भुक्तेति। भुक्तस्यान्नादेः पीतस्य जलस्य परिणामो जीर्णता तस्य हेतुरुदर्यमित्यर्थः। सुवर्णेति। आदिना रजतादिपरिग्रहः।

तेज का लक्षण यदि 'स्पर्शवत्' इतना ही कहा जाय तो स्पर्श वाले पृथ्वी, जल तथा वायु में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी अतः उष्णस्पर्शवत्तेज कहा गया है। उष्णस्पर्श भी किसी काल में होगा अर्थात् कालिक सम्बन्ध से उष्णस्पर्श वाला काल भी होगा। अतः काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'समवायसम्बन्धेन उष्णस्पर्शवत्वं तेजस्त्वं' लक्षण कहना चाहिए। घ्राणेन्द्रिय भी गन्ध की ग्राहक है। अतः उसमें अतिव्याप्तिवारणार्थ रूपग्राहक पद दिया है। भेदात् पद का सबके साथ अन्वय है। जैसे भौमभेदात्, दिव्यभेदात्, उदर्यभेदात्, आकरजभेदात्।

इस प्रकार द्वन्द्वान्त में पठित भेद पद का सबके साथ सम्बन्ध है। वह्न्यादि में आदि पद से खद्योत आदि के भी तेज का संग्रह है। विद्युदादि में आदि पद से सूर्य, चन्द्र, तारागण का संग्रह है। खाये हुये अन्नादि तथा पीये हुये जलादि को पचाने का जो हेतु है वह उदर्य तेज है। सुवर्णादि में आदि पद से रजत का भी संग्रह है।

तर्कदीपिका

तेजसो लक्षणमाह – उष्णस्पर्शवदिति। 'उष्णं जलम्।' इति प्रतीतेस्तेजः संबन्धानुविधायित्वान्नातिव्याप्तिः। विषयं विभजते – भौमेति। ननु सुवर्णं पार्थिवं, पीतत्वाद्गुरुत्वाद्धरिद्रादिवदिति चेत्–न; अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघृतादौ द्रवत्वनाशादर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रव्यद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधारणात्। सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः। तस्मात्पीतद्रव्यद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधिकरणतया जलत्वानुपपत्तेः, रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्तर्भावात्, तैजसत्वसिद्धिः। तत्रोष्णस्पर्शभास्वररूपयोरुपष्टम्भकपार्थिवरूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धादनुपलब्धिः। तस्मात्सुवर्णं तैजसमिति सिद्धम्॥

वायोः किं लक्षणं कति च भेदाः?

१३. रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः–नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनं हेतुः। शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभते।

रूप रहित और स्पर्शवान् को वायु कहते हैं। यह दो प्रकार का है :- नित्य और अनित्य। नित्य परमाणु रूप है तथा अनित्य कार्य रूप है। अनित्य वायु भी तीन प्रकार का है :- शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से। शरीर वायुलोक में है। इन्द्रिय स्पर्श की ग्राहक त्वक् समग्र शरीर में व्याप्त रहती है। वृक्ष आदि के कम्पन का हेतु वायु विषयरूप वायु है। शरीर के अन्दर सञ्चरण करने वाले वायु को प्राण कहते हैं। यह प्राणवायु एक होता हुआ भी शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने के कारण प्राण, अपान, उदान, समान तथा व्यान रूप में पाँच प्रकार की संज्ञा को प्राप्त करता है।

आशा जल के भेद आदि के समान ही वायु नामक द्रव्य के भेद आदि भी समझने चाहिये, अर्थात् वायु नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। परमाणु स्वरूप वायु नित्य है और उससे भिन्न द्व्यणुक से लेकर महावायु तक जो वायु है, वह अनित्य तथा अवयवीरूप वायु है, अर्थात्

उसके अवयव भी हैं। यह अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, तथा विषय के भेद से तीन प्रकार का है।

इन तीन प्रकार के वायु में से '**शरीर**' संज्ञक जो वायु है, वह अयोनिज है। अर्थात् 'वायवीय शरीर' अयोनिज ही होता है, वह पिशाच, भूत आदि का होता है तथा मरुत्लोक में हुआ करता है। इस शरीर में पार्थिव अवयवों के विलक्षण संयोग से सुख और दुःख के अनुभव की क्षमता रहती है। यही बात जलीय तथा तैजस शरीरों के बारें में पूर्व में कही गयी है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि उन शरीरों में यदि पार्थिवभाग भी सम्मिलित है, तो उन्हें 'पार्थिवशरीर' न कहकर केवल 'जलीय', 'तैजस' और 'वायवीय' शरीर क्यों कहा जाता है? इसका समाधान यह है कि उन शरीरों को 'पार्थिवशरीर' इसलिये नहीं कहा जाता क्योंकि उनमें 'पार्थिव' (पृथ्वी का) भाग की अप्रधानता रहती है, और स्व-स्व (अपने अपने) अंश की प्रधानता रहती है। अर्थात् 'जलीयशरीर' में जल की, 'तैजसशरीर' में तेज की और 'वायवीयशरीर' में वायु की प्रधानता रहने से उन उन शरीरों को जलीय, तैजस तथा वायवीय शरीर कहा जाता है।

सभी प्राणियों के स्पर्श के प्रत्यक्ष का साधन द्रव्य ही **इन्द्रिय** रूप वायु है। वायु के जिन अवयवों का बल पार्थिवादि विरोधी शक्तियों से नष्ट नहीं हुआ है, उन वायवीय अवयवों से इसकी सृष्टि होती है। यह शरीर सभी अंशों में रहती है। इस इन्द्रिय का नाम है त्वचा। यह त्वगिन्द्रिय, शरीर के समस्त अवयवों पर रहती हुई स्पर्श का ज्ञान कराती है। शरीर के समस्त अवयव इस त्वक् से ढके रहते हैं। यह 'इन्द्रिय' वायवीय है। यह त्वगिन्द्रिय वायु का कार्य होने से उसे वायवीय कहा गया है। उसके वायवीय होने की सिद्धि न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में अनुमान प्रमाण द्वारा इस तरह की गयी है:- **तच्च वायवीयं रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत्।** इस अनुमानप्रयोग में 'तच्च' (त्वगिन्द्रिय) - यह पक्ष है, 'वायवीयं'-यह साध्य है तथा 'रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैव अभिव्यञ्जकत्वात्' यह 'हेतु' है, और 'अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभि-व्यंजकव्यजनपवनवत्' यह दृष्टान्त है। जैसे पंखे की वायु हमारे शरीर के अंगों से निकलने वाले स्वेद (पसीना) रूप जल में रहने वाले शैत्य (शीतलता) का ही ज्ञापक (अभिव्यंजक) होता है, अर्थात् पंखे की हवा, उस पसीने के तापमान के रूप आदि गुणों का ज्ञापक नहीं होती, अपितु उस गर्मी के केवल 'शीतस्पर्श' रूपी गुण की ही ज्ञापक होती है। उसी प्रकार 'जो द्रव्य, रूपादि गुणों में से केवल 'स्पर्श' का ही ज्ञापक हो उसे 'वायवीय' ही समझना चाहिये। इसी प्रकार पंखे की हवा जैसे वायुपरमाणुसमवेत है, वैसे ही त्वगिन्द्रिय भी वायुपरमाणुओं से आरब्ध है। वह त्वगिन्द्रिय ताप के रूपादि गुणों का ज्ञापक न होकर उस ताप (गर्मी) के स्पर्शमात्र का ही ज्ञापक होता है, इस कारण वह त्वगिन्द्रिय वायवीय है, यह सिद्ध होता है।

विषय रूप वायु उसे कहा गया है जो वृक्षादिकम्पनं की हेतु है। विषयरूप वायु प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात स्पर्श का आश्रय एवं स्पर्श, शब्द, धृति और कम्पन इन चार हेतुओं से

अनुमेय और कुटिल गति से चलने वाला है। मेघ आदि वस्तुओं को इधर उधर जाने में प्रेरित करना और उनको गिरने न देना विषयरूप वायु के कार्य हैं।

वायु के ज्ञान में प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में मतभेद है। नवीन नैयायिक वायु के स्पार्शन प्रत्यक्ष में स्पर्श को कारण मानते हैं, इसलिये वे वायु का प्रत्यक्ष मानते हैं, परन्तु प्राचीन नैयायिक बहिरिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में 'उद्भूतरूप' को कारण मानते हैं, इसलिये वे वायु को अनुमेय कहते हैं। वायु का स्पर्श, शब्द, धृति, कम्पन इन चार हेतुओं से अनुमान किया जाता है। जैसे- प्रथम हेतु **स्पर्श** है। एक प्रकार का विलक्षण स्पर्श अपने शरीर से ज्ञात होता है। अतः रूपरहित द्रव्य के स्पर्श का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय से होने के कारण वह स्पर्श जिस रूपरहित द्रव्य के आश्रित है, वही रूपरहितद्रव्य वायु है। उसी प्रकार द्वितीय हेतु **शब्द** है। वायु के चलने पर पेड़ के पत्तों से जो विलक्षण 'मर्मर' शब्द सुनाई पड़ता है, वह शब्द यदि किसी रूपवाले द्रव्य के अभिघात से होता, तो उस रूपवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष होता, किन्तु नहों हो रहा है। अतः उस अभिघात का कारण कोई रूपरहित द्रव्य ही होगा, वही रूपरहितद्रव्य वायु है। तृतीय हेतु **धृति** है। आकाश में तृण, मेघ, रुई, धूलिकण आदि उड़ते रहते हैं, उन्हें धारण करनेवाला जो रूपरहित द्रव्य है, वही वायु है। इसी प्रकार चतुर्थ हेतु **कम्पन** है। जिस रूपरहित द्रव्य के अभिघात से शाखा, पत्ते, आदि में जो कम्पन होता है, वही रूपरहित द्रव्य वायु है। उसका त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता।

अनित्य वायु का एक अन्य भेद **प्राण** वायु है जिसका मूल में उल्लेख किया गया है। प्रशस्तपादभाष्य में इसे अनित्य वायु का चतुर्थ भेद बताया गया है। यह शरीर में विचरण करता है। इस विषय में पर्याप्त मतभेद है कि प्राण को किस प्रकार के वायु के अन्तर्गत माना जाये।

स्वयं अन्नम्भट्ट ने भी दीपिका टीका में इस विषय का विशेष विवेचन नहीं किया है और प्राण को पांच 'प्राण', 'अपान', 'व्यान', 'समान', और 'उदान', के अन्तर्गत ही मान लिया और यह भी कहा कि प्राण इन पाँचों का सामूहिक नाम ही है। वस्तुतः यह एक ही प्राण वायु है जो शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में संचरण करने के कारण और भिन्न-भिन्न क्रिया में सहायक होने के कारण भिन्न-भिन्न का कहलाता है। अमरकोश में इन पांचों वायु के स्थान बताये गये हैं-

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठे देशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥

मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमण-प्रवेशनात् प्राणः मुख और नासिका के द्वारा निष्क्रमण और प्रवेशन क्रिया के कारण - उसे 'प्राण' कहते हैं। 'मलादीनामधोनयनात्' - 'अपानः' अर्थात् मल आदि की अधोनयन क्रियाके कारण - उसे 'अपान' कहते हैं। भुक्तस्य पाकार्थं जाठराग्नेः समुन्नयनात् - समान अर्थात् भक्षित वस्तु का परिपाक करने के लिये जाठराग्नि की समुन्नयन क्रिया करने के कारण - उसे 'समान' कहते हैं। 'रसादेः उर्ध्वनयनात् - उदानः।' रसादि की उर्ध्वनयनक्रिया करने के कारण - उसे 'उदान' कहते हैं। नाडीमुखेषु

वितननात् – व्यान: अर्थात नाडियों के मुखभागों में वायु की वितनन (फैलने की) क्रिया के कारण–उसे 'व्यान' कहते हैं।

वायु में १. स्पर्श, २. संख्या, ३. परिमाण, ४. पृथक्त्व, ५. संयोग, ६. विभाग, ७. परत्व, ८. अपरत्व और ९. संस्कार (वेग) ये नौ गुण पाये जाते हैं। स्पर्श के भेदों में से वायु में अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श ही रहता है और संस्कार के भेदों में से केवल वेग नामक संस्कार।

ध्यातव्य – नौ द्रव्यों के विवेचन के क्रम में अब तक प्रथम चार द्रव्यों का विवेचन किया जा चुका है। इन चार द्रव्यों के ही नित्य और अनित्य के नाम से भेद होते हैं। आकाशादि शेष पाँच द्रव्य नित्य ही माने गये हैं। प्रथम चार पृथ्वी आदि द्रव्य इन्द्रियगम्य तथा मूर्त हैं। इन चारों के मेल से ही अनित्य स्थूल जगत् की सृष्टि होती है। **इस अनित्य स्थूल जगत् की उत्पत्ति और विनाश का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है** ईश्वर की चिकीर्षा से 'परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है,तब परमाणुद्वयसंयोग होने पर 'द्व्यणुक' उत्पन्न होता है। द्व्यणुकोत्पत्ति में 'परमाणु' समवायिकारण है, 'परमाणुद्वयसंयोग' असमवायिकारण है, और परमेश्वर, उसका ज्ञान, इच्छा, उसकी कृति, काल, दिक्, प्रागभाव, अदृष्ट (धर्माधर्म), प्रतिबन्धकाभाव ये सब निमित्तकारण हैं। कार्यमात्र के प्रति ये सब साधारणरूप से निमित्तकारण हुआ करते हैं। तब तीन द्व्यणुकों से 'त्र्यणुक' उत्पन्न होता है, यहाँ भी पूर्ववत् द्व्यणुकों को समवायिकारण, उनके संयोग को असमवायिकारण, ईश्वरेच्छादि को निमित्तकारण समझना चाहिये। इसी प्रकार सजातीय त्र्यणुकों में क्रिया, चार त्र्यणुकों से एक चतुरणुक, वे चतुरणुक भी असंख्य उत्पन्न होते हैं। तब पाँच चतुरणुक मिलकर एक स्थूलतर कार्य का आरम्भ होता है, तब स्थूलतर पाँच पंचाणु मिलकर एक स्थूलतम पञ्चाणुकसंज्ञक कार्य का आरम्भ करते हैं। इसी प्रकार पूर्वकार्य की अपेक्षया उत्तरोत्तर स्थूल की उत्पत्ति के क्रम से महती पृथ्वी, महान् जल, महान् तेज तथा महान् वायु उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जब उत्पन्न किये गये कार्यों के संहार की इच्छा ईश्वर में उत्पन्न होती है तब उसकी इच्छा से ही परमाणुओं में क्रिया, क्रिया से परमाणुद्वयविभाग, तब दो परमाणुओं के संयोग का नाश, तब द्व्यणुक का नाश, तब त्र्यणुक का, तब चतुरणुक का नाश, इस प्रकार महती पृथ्वी आदि का विनाश होता है।

कार्य के विनाश के दो प्रकार हैं :– एक समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश और दूसरा असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश। साधारणत: घट आदि कार्यों का नाश उसके असमवायिकारण अर्थात् अवयव–संयोग के विनाश से ही होता है। परन्तु प्रलय काल में संसार का नाश प्राय: समवायिकारण के नाश से होता है। उस समय परमात्मा की संहारेच्छा से विश्व के कारणभूत परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। उससे द्व्यणुकों के बनाने वाले संयुक्त परमाणुओं में विभाग और विभाग से द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश हो जाने से द्व्यणुकों का नाश तो परमाणु संयोग रूप असमवायिकारण के नाश से होता है। परन्तु द्व्यणुक के बाद जो त्र्यणुक आदि का नाश होता है वह समवायिकारण रूप द्व्यणुक आदि के

नाश से होता है। इसलिए समवायिकारण और असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होने से कार्य के नाश की दो प्रकार की प्रक्रियाएँ आगे दिखाते हैं। इनमें पहले असमवायिकारण के नाश से कार्यनाश की प्रक्रिया दिखलाते हैं :-

इस प्रकार उत्पन्न हुए रूपादिमान् कार्यद्रव्य घट आदि के अवयव रूप कपाल आदि में नोदन (चेतन-प्रदत्त प्रेरणा) अथवा अभिघात (अचेतन पदार्थ के साथ संघर्ष) से क्रिया उत्पन्न होती है। उससे संयुक्त कपाल आदि अवयवों में विभाग उत्पन्न होता है उस विभाग से अवयवी घट आदि के आरम्भक असमवायि कारण संयोग का नाश होता है। उससे कार्यद्रव्य घटादि अवयवी का नाश होता है। इस उदाहरण में अवयवी घट आदि के आरम्भक कपाल आदि के संयोग रूप असमवायि कारण के नाश होने से द्रव्य का नाश दिखलाया गया है।

कहीं समवायिकारण के नाश से भी द्रव्य का नाश होता है। जैसे पूर्वोक्त पृथिवी आदि के संहार में ही संहारेच्छुक परमात्मा में संहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उससे द्व्यणुकों के आरम्भक परमाणुओं में क्रिया, और उससे विभाग उत्पन्न होता है। उसके बाद उन दोनों (परमाणुओं) के संयोग का नाश होने पर द्व्यणुकों के नष्ट हो जाने पर, अपने आश्रय (अर्थात् त्र्यणुक के आश्रय द्व्यणुक) के नाश होने से त्र्यणुक आदि का नाश हो जाता है। इस प्रकार (त्र्यणुक के नाश से चतुरणुक आदि के नाश) क्रम से (स्थूल) पृथिवी आदि का नाश होता है। अथवा जैसे तन्तुओं का नाश हो जाने पर (होने वाला) पट का नाश। (दोनों उदाहरण समवायिकारण के नाश से कार्य के नाश को दिखलाने वाले उदाहरण हैं। इन दोनों में) उन (त्र्यणुकादि अथवा पट आदि) में रहने वाले रूपादि (गुणों) का अपने आश्रय (समवायिकारण) के नाश से ही नाश होता है। और अन्यत्र (घट आदि में) तो आश्रय (घटादि) के विद्यमान रहते हुए ही विरोधी गुण (पाकज रक्त रूपादि) के प्रादुर्भाव से ही (पूर्ववर्ती रूपादि का) नाश होता है। जैसे पाक से घटादि में रूपादि का नाश होता है।

प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि असमवायिकारण के नाश से द्व्यणुक का नाश और समवायिकारण के नाश से त्र्यणुक का नाश होता है। परन्तु नवीन नैयायिक सर्वत्र असमवायिकारण के नाश से ही द्रव्य का नाश मानते हैं (द्रष्टव्य तर्कदीपिका आदि)।

परमाणु की सत्ता में प्रमाण :- उपर्युक्त सृष्टि व विनाश का विवेचन न्यायवैशेषिक दर्शन के परमाणु सिद्धान्त पर निर्भर है। पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के जो अनित्य भेद बताये गये हैं वे भी इन दर्शनों के परमाणुवाद पर ही आधारित है, अतः इसे समझना आवश्यक है। संसार के दृष्टिगोचर होने वाले समस्त पदार्थ अवयव युक्त होते हैं। जैसे घट के अवयव कपाल हैं और पट के अवयव तन्तु। इन अवयवों के भी अवयवों की कल्पना करना भी सहज ही है। किन्तु कहीं न कहीं इन अवयवों की परम्परा को विराम देना ही होगा, अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। "यदि अवयव धारा का अवसान न मानकर अनन्त-अवयव परम्परा स्वीकार की जायगी, तो पर्वत तथा राई दोनों के परमाणुओं में समानता होने लगेगी।" इस परम्परा के

अन्त न मानने पर पर्वत और राई दोनों के अनन्त अवयव होंगे और नियामक के अभाव में दोनों बराबर होने लगेंगे। अत: इस दोष से बचने के लिए कहीं न कहीं विराम स्वीकार करना होगा, यह विराम जहाँ स्वीकार किया जायगा "वे स्वयं अवयव रहित होंगे तथा स्वयं उपादान होने से नित्य द्रव्य कहलायेंगे। इस प्रकार सबसे सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव नित्य द्रव्य का नाम परमाणु है। परमाणु से आशय है कि -

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रज:।
तस्य षष्ठतमो भाग: परमाणु: स उच्यते॥

अर्थात् रोशनदान आदि में से आने वाली सूर्य की किरणों में चारों ओर सूक्ष्मतम धूलि के जो कण उपलब्ध होते हैं वे त्रसरेणु या त्र्यणुक कहलाते हैं। उनका षष्ठ भाग परमाणु होता है। एक द्व्यणुक दो परमाणुओं से मिलकर बनता है। एक त्र्यणुक तीन द्व्यणुकों से मिलकर बनता है। त्र्यणुक का परिमाण महत् परिमाण कहलाता है। न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में इस विषय का और विस्तार किया गया है।

विशेष - पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय भेद से शरीर के जो चार प्रकार बताये गये हैं, इनमें से प्रत्येक के क्रमश: पृथिवी, जल, तेज और वायु इनमें से एक एक ही समवायिकारण हैं। चारों में से तीन और आकाश ये सभी निमित्तकारण हैं। इसी से शरीरों में पाञ्चभौतिकत्व का व्यवहार होता है।

पदकृत्यम्

रूपेति। घटादिवारणाय विशेषणम्। आकाशादिवारणाय विशेष्यम्। इन्द्रियमिति। चक्षुरादिवारणाय स्पर्शग्राहकमिति। कालादावतिव्याप्ति-वारणायेन्द्रियमिति। वृक्षेति। आदिपदेन जलादिपरिग्रह:।

शरीरान्तरिति। महावाय्वादावतिव्याप्तिवारणाय विशेषणम्। मनआदिवारणाय विशेष्यम्। धनञ्जयवारणाय सञ्चारीति। उपाधीति। मुखनासिकाभ्यां निर्गमनप्रवेशनात्प्राण:, जलादेरधोनयनादपान:, भुक्तपरिणामाय जाठरानलस्य समुन्नयनात्समान:, अन्नादेरूर्ध्वनयनादुदान:। नाडीमुखेषु विततनाद् व्यान:, इति क्रियारूपोपाधि-भेदात्तथा व्यवह्रियत इत्यर्थ:।

'रूपरहित स्पर्शवान् वायु' इस लक्षण में 'रूपरहित' यह पद घट आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए है। यदि 'स्पर्शवान् वायु:' इतना ही लक्षण करते, तब घटादि में भी स्पर्श होने से लक्षण में अतिव्याप्ति हो जाती। घट रूपवान् है, अत: अतिव्याप्ति नहीं हुई। स्पर्शवान् यह विशेष्यपद लक्षण में नहीं देने पर आकाश आदि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि रूपरहित तो आकाश भी है। परन्तु आकाश स्पर्शवान् नहीं है अत: अतिव्याप्ति नहीं हुई। वायव्य इन्द्रिय त्वक् के लक्षण 'स्पर्शग्राहकं त्वक्' में यदि 'स्पर्श' पद नहीं दें और केवल 'ग्राहकम्' इतना ही लिखें तब चक्षु आदि इन्द्रिय के भी रूपग्राहक होने से वहाँ अतिव्याप्ति होगी। स्पर्श पद के देने से चक्षु आदि में अतिव्याप्ति नहीं हुई, क्योंकि चक्षु रूप-ग्राहक है, स्पर्शग्राहक नहीं। यदि

'इन्द्रियं स्पर्श-ग्राहकम्' इस वाक्य में इन्द्रिय पद नहीं देवें तो कालादि के स्पर्शग्राहक होने से कालादि में अतिव्याप्ति होगी। उसके वारण हेतु इन्द्रिय पद दिया गया है क्योंकि काल इन्द्रिय नहीं है। 'वायव्य विषय वृक्षादि कम्पन का हेतु है' विषय के इस लक्षण में आदि पद से जल आदि का भी ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि जल में उठने वाली लहर का कारण भी वायु को माना गया है।

'शरीरान्तः सञ्चारी वायुः प्राणः' इस लक्षण में केवल 'वायुः प्राणः' इतना ही कहा जाये तो महावायु आदि में अतिव्याप्ति होगी। अतः शरीरान्तःसञ्चारी पद दिया है क्योंकि शरीर के भीतर संचार करने वाला वायु प्राण ही है, महावायु नहीं। यदि 'शरीरान्तः संचारी' इतना ही लक्षण लिखा जाये तब मन आदि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि शरीर के भीतर मन भी सञ्चरण करता है। 'वायुः प्राणः' इस विशेष्य के देने से अतिव्याप्ति नहीं हुयी क्योंकि मन वायु नहीं है। यदि सञ्चारी पद नहीं लिखें तब धनञ्जय वायु जो मस्तक में स्थित रहता है में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि धनञ्जय वायु भी शरीर के भीतर रहती है। परन्तु यह सञ्चारी वायु नहीं है, अतः दोष नहीं हुआ। मुख और नासिका के भीतर जाने वाले वायु को प्राण, पीये गये जल एवं खाए गये अन्न को नीचे ले जाने वाले वायु को अपान, खाये गये अन्नादि पदार्थों के पाचन के लिए उदर की अग्नि को दीप्त करने वाले वायु को समान, अन्न आदि को ऊपर की ओर ले जाने वाले वायु को उदान और नाड़ी मुखों में व्याप्त रहने वाले वायु को व्यान कहते हैं।

तर्कदीपिका

वायुं लक्षयति – रूपरहितेति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय – स्पर्शवानिति। पृथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय – रूपरहितेति। ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव इत्यत आह – शरीरेति। स चेति। एक एव प्राणः स्थानभेदात्प्राणापानादिशब्दैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः। स्पर्शानुमेयो वायुः। तथाहि – योऽयं वायौ वाति सत्यनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स स्पर्शः क्वचिदाश्रितो गुणत्वाद्रूपवत्। न चास्य पृथिव्याश्रय उद्भूतस्पर्शवतः पार्थिवस्योद्भूतरूपवत्त्वनियमात्। न जलतेजसी; अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वात्। न विभु चतुष्टयम्; सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात्। न मनः; परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात्। तस्माद्यः प्रतीयमानस्पर्शाश्रयः स वायुः॥ ननु वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद् घटवदिति चेत्,–न; उद्भूतरूपवत्त्वस्योपाधित्वात्। यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति घटादौ साध्यव्यापकत्वम्। यत्र प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नास्तीति पक्षे साधनाव्यापकत्वम्। न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोऽप्यप्रत्यक्षत्वापत्तिः; इष्टत्वात्। तस्माद्रूपरहितत्वाद्वायुरप्रत्यक्षः॥

इदानीं कार्यरूपपृथिव्यादिचतुष्टयस्योत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। ईश्वरस्य चिकीर्षावशात्परमाणुषु क्रिया जायते। ततः परमाणुद्वयसंयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकम्। एवं चतुरणुकादिक्रमेण महती पृथिवी

महत्य आपो महत्तेजो महान्वायुरुत्पद्यते। एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य संञ्जिहीर्षावशात्परमाणुषु क्रिया। क्रियया परमाणुद्वयविभागे सति द्व्यणुकनाशः। ततस्त्र्यणुकनाशः। ततश्चतुरणुकस्येत्येवं महापृथिव्यादिनाशः॥ असवायिकारण-नाशाद्द्व्यणुकनाशः, समवायिकारणनाशात्त्र्यणुकनाश इति संप्रदायः। सर्वत्रा-समवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशः – इति नवीनाः॥

किं पुनःपरमाणुसद्भावे प्रमाणम्? उच्यते–जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यद्रज उपलभ्यते तत्सावयवम्, चाक्षुषद्रव्यत्वात्पटवत्। त्र्यणुकावयवोऽपि सावयवः, महदारम्भकत्वात्तन्तुवत्। यो द्व्यणुकावयवः स परमाणुः। स च नित्यः; तस्यापि कार्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। तथा च मेरुसर्षपयोरपि समानपरिमाणत्वापत्तिः। सृष्टिप्रलयसद्भावे "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम्। सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः। सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इति विवेकः॥

आकाशस्य किं लक्षणं कतिविधं च तत्?

१४. शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।

शब्द गुण के आश्रय द्रव्य को आकाश कहते हैं। वह एक, व्यापक और नित्य है।

आशा शब्द गुणवाला द्रव्य आकाश है। यह शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, और विभाग इन ६ गुणों वाला है। यह एक, नित्य, विभु और शब्दलिङ्गक अर्थात् शब्द रूप लिङ्ग से अनुमान द्वारा सिद्ध होने वाला है। आकाश की परिभाषा में यह विशेषता है कि जहां अन्य परिभाषाओं में गुण पद नहीं दिया गया है, वहां आकाश की परिभाषा में गुण पद भी दिया गया है। इस पद के द्वारा यहाँ यह सूचित किया गया है कि चौबीस गुणों में से जो शब्द नामक गुण है वह (शब्द) केवल आकाश का ही गुण है, अन्य किसी पदार्थ का नहीं। रूप, रस, इत्यादि गुण अनेक पदार्थों में पाये जाते हैं किन्तु शब्द केवल आकाश में ही पाया जाता है और इसी तथ्य को रेखांकित करने के लिये यहाँ गुण पद का प्रयोग है। शब्द के आकाश में रहने की सिद्धि परिशेषानुमान द्वारा होती है। जैसे शब्द सामान्य (जाति) युक्त होकर हमारी बाह्य एक (श्रोत्र) इन्द्रिय से ग्राह्य होने से रूपादि के समान 'विशेष गुण' है और गुण, गुणी के आश्रित ही होता है। (आकाश को छोड़कर शेष आठ द्रव्यों में से) पृथ्वी आदि चार (पृथिवी, अप्, तेज, वायु) और आत्मा (ये पांच) इस (शब्दगुण) के गुणी नहीं हो सकते हैं। शब्द के श्रोत्र-ग्राह्य होने से। पृथिवी आदि चार और आत्मा इन पाँचों के विशेष गुणों में से कोई भी श्रोत्रग्राह्य नहीं है अतएव श्रोत्रग्राह्य शब्द इन पांचों में से किसी का गुण नहीं हो सकता है। जो पृथिवी आदि के गुण हैं वे श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत नहीं होते हैं, जैसे रूपादि। चूँकि शब्द तो श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है। अतः शब्द पृथिवी आदि चार तथा आत्मा इन पांच का गुण नहीं है। दिक्, काल तथा मन इन तीन द्रव्यों में भी यह नहीं रहता है, विशेष गुण होने के कारण। (दिक्, काल और मन इन तीनों में रहने वाले गुण सामान्य गुण हैं विशेष गुण नहीं और शब्द विशेष गुण है इसलिए वह इन तीनों का भी गुण नहीं है)। इसलिए इन

आठों से अतिरिक्त शब्द (गुण) का गुणी मानना चाहिए। वह ही आकाश है। इस तरह आकाश की सत्ता भी प्रमाणित हो जाती है।

आकाश के इन्द्रियसंज्ञक भाग का नाम 'श्रोत्र' है। 'श्रोत्र' का अर्थ कान है। वह आकाशात्मक इन्द्रिय नित्य है, अनित्य नहीं है।

'आकाश' को विभु और नित्य कहा जाता है। आकाश की विभुता इसलिये है कि उसमें शब्द की सर्वत्र उपलब्धि कराने की योग्यता है, 'विभुत्वञ्च शब्दस्य सर्वत्रोपलम्भ-योग्यतावत्त्वात्'। यदि आकाश विभु अर्थात् महत्परिमाण वाला नहीं होता तो सभी स्थानों में शब्द की उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि समवायिकारण के न रहने से उसमें समवेत कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती। स्वर्ग, मृत्युलोक, पाताल आदि सभी स्थानों में उत्पन्न सभी शब्द एक ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि उसमें 'मूर्तद्रव्यवृत्तिसंयोगवत्त्व' है अर्थात् समस्त मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग से जो युक्त होता है वह विभु होता है। समस्त मूर्त द्रव्यों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन) का आकाश से संयोग है, अत: वह विभु है। इसी कारण उसे नित्य भी माना जाता है।

आकाश को लाघवात् एक ही सिद्ध किया जाता है। क्योंकि घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक मानने पर अनेक कल्पनारूप गौरव स्वीकार करना होगा और उसे एक मान लेने पर अर्थात् एक कल्पना करने पर लाघव होगा। अत: आकाश एक ही है। एक होने से आकाश में 'आकशत्व' जाति नहीं है। इसके कहने का अभिप्राय यह है कि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् सामान्यम्' यह 'सामान्य' का लक्षण किया गया है। अर्थात् 'सामान्य' नित्य और अनेक में रहने वाला धर्म होता है। जैसे घटत्व, पटत्व आदि 'सामान्य' कहलाते हैं। वे अनेक घट तथा अनेक पट व्यक्तियों में रहने से और उन अनेक व्यक्तियों में घट:, घट: इस प्रकार की एकाकार, अनुगत-प्रतीति के जनक होने से ही सामान्य कहलाते हैं। परन्तु आकाश अनेक नहीं हैं इसलिए उसमें 'आकाशत्व' नाम का 'सामान्य' नहीं रहता है। यद्यपि घटत्व के समान आकाश शब्द के आगे भी 'त्व' प्रत्यय जोड़ कर 'आकाशत्व' व्यवहार होता है। परन्तु 'आकाशत्व' 'सामान्य' नहीं अपितु 'उपाधि' है।

पदकृत्यम्

शब्देति। शब्दो गुणो यस्य तत्तथा। असम्भववारणाय शब्दगुणोभयम्। विभ्विति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगीत्यर्थ:।

'शब्दगुणकम्' यहाँ "शब्द है गुण जिसका" ऐसा बहुब्रीहि समास है। असंभवदोष का वारण करने के लिये शब्द और गुण दोनों पद दिये गये हैं। अर्थात् यदि 'शब्दवत्त्वम्' आकाश का लक्षण किया जाय तो आकाश में शब्द का नित्य योग नहीं होने से असंभव हो जायगा। इसलिये शब्द का समवाय मात्र सूचित करने के लिये गुणपद दिया है। यदि केवल गुणवत्त्व को आकाश का लक्षण माना जाय तो भी असंभवदोष हो जायेगा। क्योंकि शब्दातिरिक्त आकाश में कोई भी ऐसा गुण प्रतीयमान नहीं है जो आकाश को लक्षित कर सके।

सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं अर्थात् समस्त मूर्त द्रव्यों में संयोगी को विभु कहा जाता है। यही उसकी व्यापकता है। (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन मूर्त द्रव्य हैं।)

तर्कदीपिका

आकाशं लक्षयति - शब्दगुणकमिति। नन्वाकाशमपि किं पृथिव्यादिवन्नाना? नेत्याह-तच्चैकमिति। भेदे प्रमाणाभावादित्यर्थ:। एकत्वादेव सर्वत्रोपलब्धेर्विभुत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह-विभ्विति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्व्। मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा। विभुत्वादेवात्मवन्नित्यमित्याह - नित्यं चेति॥

कालस्य किं लक्षणं, कति च भेदा:?

१५. अतीतादिव्यवहारहेतु: काल:। स चैको विभुर्नित्यश्च।

अतीत आदि (भूत, वर्तमान और भविष्य) व्यवहार के असाधारण कारण को काल कहते हैं। यह एक, विभु (व्यापक) और नित्य द्रव्य है।

आशा मूलोक्त काल-लक्षण में 'अतीत' पद का अर्थ है भूतकाल। आदि पद से वर्तमान काल तथा भविष्यत्काल भी ग्राह्य है। काल के उपर्युक्त लक्षण की उपयोगिता व्यवहार की दृष्टि से है किन्तु इससे काल का तात्त्विक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। भूतो घट:, वर्तमानो घट:, भविष्यन्घट: अर्थात् घट (पैदा) हुआ, घट (विद्यमान) है, घट (पैदा) होगा, इस प्रकार किये जाने वाले व्यवहारों का असाधारण कारण जो द्रव्य है वही काल है। काल की यह असाधारण कारणता निमित्तकारणता स्वरूप है अर्थात् **इस तरह के व्यवहारों का काल न तो समवायिकारण होता है न ही असमवायिकारण अपितु निमित्तकारण ही होता है।**

काल एक, नित्य एवं विभु पदार्थ माना गया है। यह सभी उत्पत्तियों और विनाशों का कारण है, क्योंकि सभी उत्पत्ति और विनाश काल से युक्त होकर ही कहे जाते हैं। यह क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, याम, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय और महाप्रलय इन सबों के व्यवहार का निमित्त कारण है। इसमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच गुण रहते हैं। कालप्रतीति के ज्ञापक हेतु चूँकि सभी स्थलों में समान रूप से हैं, अत: वह एक ही है। चूँकि उसमें एकत्व संख्या है, अत: पृथक्त्व भी है। "कारणे कालाख्या" (७/१/१५) इस वैशेषिक सूत्र के बल से इसमें महत्परिमाण भी समझना चाहिए। इस सूत्र का यह अर्थ है कि यौगपद्यादि विषयक प्रतीतियों के असाधारण कारण का ही नाम 'काल' है। चूँकि ये यौगपद्यादि की प्रतीतियाँ सभी स्थानों में होती हैं, अत: यह समझना चाहिए कि काल व्यापक है। **"कारणपरत्वात्कारणापरत्वाच्च परत्वापरत्वे"** (७/२/२२) इस वैशेषिक सूत्र के बल से इसमें संयोग की सिद्धि समझनी चाहिए। इस सूत्र में महर्षि कणाद के द्वारा प्रयुक्त कारणपरत्व शब्द से काल और पिण्ड (अवयवी द्रव्य) का संयोग अभिप्रेत है। इसी से काल में संयोगरूप

गुण की सिद्धि होती है। विभाग चूंकि संयोग का विनाशक है, अतः विभाग भी काल में अवश्य है। अभिप्राय यह है कि संयोग उत्पत्तिशील है, उसके विनाशकों में से विभाग भी एक है क्योंकि सभी जगह संयोग का नाश आश्रय के नाश से ही नहीं होता है। एक अधिकरण में रहने वाला विभाग अन्य अधिकरण में रहने वाले संयोग का नाश नहीं कर सकता। अतः काल में विभाग भी अवश्य ही है। काल में महत्परिमाण है अतः वह सर्वमूर्त्तद्रव्यसंयोगी है। इस प्रकार इसकी नित्यता सिद्ध है। परिमाणआदि गुणों का आश्रय होने के कारण इसका द्रव्यत्व भी स्पष्ट ही है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि काल एक है तब उसमें अनेकत्व की प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि काल एक है तथापि उपाधि भेद से क्षण, निमेष आदि का व्यवहार काल में किया जाता है अर्थात् सभी क्रियाओं का आरम्भ, सभी क्रियाओं की समाप्ति, सभी क्रियाओं की अपने रूप में विद्यमानता तथा विनाश इन उपाधियों की विभिन्नता से एक ही काल में नानात्व का व्यवहार होता है। जैसे एक ही मणि नीलादि उपाधियों से कभी नीली और कभी पीली प्रतीत होती है वैसे ही उक्त उपाधियों के भेद से एक ही काल कभी क्रिया का आरम्भ काल, कभी क्रिया की अभिव्यक्ति का काल, कभी क्रिया की समाप्ति का काल इत्यादि अनेक रूपों में कहा होता है। अन्य उदाहरण :- जैसे एक ही व्यक्ति विद्यालय में अध्यापन कराने से अध्यापक, अपनी कार को चलाने से चालक, घर पर खाना बनाने से पाचक आदि उपाधियों को प्राप्त करता हुआ अनेक नामों से कहा जाता है, उसी तरह से काल भी उपाधिभेद से अनेक व्यवहृत होता है, वस्तुतः काल एक ही है।

काल की सत्ता दिग्विपरीत परत्व और अपरत्व से तथा दिक् की सिद्धि कालविपरीत परत्वापरत्व से अनुमान द्वारा सिद्ध होती है। यथा जो आयु में बड़ा है, जिसके साथ काल का अधिक सम्बन्ध है वह 'कालिक-दृष्टि' से 'पर' कहा जाता है, और जिसके साथ काल का अल्प सम्बन्ध है अर्थात् जो आयु में छोटा है उसे 'कालिक-दृष्टि' से 'अपर' कहते हैं। इसी प्रकार जिसके साथ अधिक देश का सम्बन्ध है अर्थात् जो अधिक दूर बैठा है वह 'दैशिक-दृष्टि' से 'पर' है और जिसके साथ देश का अल्प सम्बन्ध है अर्थात् जो समीप स्थित है वह 'दैशिक-दृष्टि' से 'अपर' है। इस दशा में वृद्ध पुरुष, युवक की अपेक्षा 'कालिक दृष्टि' से 'पर' है परन्तु यदि वही वृद्ध पुरुष जो काल की दृष्टि से 'पर' है, युवक की अपेक्षा समीप बैठा हो तो उसमें दैशिक दृष्टि से 'अपर' व्यवहार होगा। यही दिग्-विपरीत तथा काल-विपरीत परत्व और अपरत्व है। अत एव दिग्विपरीत परत्वापरत्व से काल का और कालविपरीत परत्वापरत्व से दिक् का अनुमान होता है।

पदकृत्यम्

अतीतेति। अतीत इत्यादिर्यो व्यवहारोऽतीतो भविष्यन्वर्तमान इत्याद्यात्मकस्तस्यासाधारणहेतुः काल इत्यर्थः। नन्विदं लक्षणमाकाशेऽतिव्याप्तं व्यवहारस्य शब्दात्मकत्वादिति चेत्। न, अत्र हेतुपदेन निमित्तहेतोर्विवक्षितत्वात्। नचैवं कण्ठताल्वाद्यभिघातेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम्। विभुत्वस्यापि निवेशात्।

अतीत इत्यादि जो व्यवहार (अतीत, भविष्य, वर्तमान) इसके असाधारण कारण को काल कहते हैं। कोई यह कहे कि इस लक्षण की आकाश में अतिव्याप्ति है, क्योंकि अतीतादि व्यवहार शब्दात्मक है और शब्द का हेतु आकाश है? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस लक्षण में हेतु पद का तात्पर्य निमित्तकारण से है। आकाश तो शब्द का समवायिकारण होता है। यहाँ पुनः यह आशंका नहीं कर सकते कि व्यवहार का निमित्तकारण कण्ठ तालु आदि का अभिघात भी है अतः काल के लक्षण की अभिघात में अतिव्याप्ति होगी। ऐसी दशा में काल लक्षण में विभुत्व का सन्निवेश करके 'विभुत्वे सति अतीतादिव्यवहार हेतुत्वं कालत्वं' कहने से इसका निवारण हो जायेगा क्योंकि अभिघात विभु नहीं है।

तर्कदीपिका

कालं लक्षयति–अतीतेति। सर्वाधारः कालः सर्वकार्यनिमित्तकारणं च॥

दिशः किं लक्षणं, कतिविधा च सा?

१६. प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका। नित्या विभ्वी च।

प्राची आदि इस व्यवहार के कारण को दिक् कहते हैं। वह एक, नित्य और विभु है।

आशा पूर्व दिशा है प्राची। आदि पद से प्रतीची अर्थात् पश्चिम, उदीची अर्थात् उत्तर, अवाची अर्थात् दक्षिण दिशा आदि ग्राह्य हैं। अभिप्राय यह कि इनसे संपृक्त रूप में होने वाले व्यवहारों के प्रति असाधारण रूप से कारण (निमित्तकारण) होने वाली है दिक्। काल के विपरीत परत्व, अपरत्व से अनुमेय दिक् एक नित्य और विभु है। यह दिशा नामक द्रव्य संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग इन पांचों गुणों से युक्त है।

दिक् द्रव्य को सरलभाषा में इस प्रकार समझाया जा सकता है :- जयपुर से अजमेर की अपेक्षा पुष्कर दूर है एवं पुष्कर की अपेक्षा जयपुर से अजमेर समीप है- इस दूरत्व और समीपत्व की प्रतीति के लिए 'दिक्' नाम का एक द्रव्य माना जाता है। इसी कारण उक्त प्रतीतियाँ होती हैं। यह भी एक ही है और नित्य भी है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर प्रभृति के जो विभिन्न व्यवहार होते हैं वे सभी उपाधिमूलक हैं। अगर दिशा के प्राच्यादि भेद वास्तविक होते तो पूर्व में सदा पूर्वत्व का ही व्यवहार होता और पश्चिम में सदा पश्चिमत्व का ही। किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि जिसमें एक की अपेक्षा पूर्वत्व का व्यवहार होता है, उसी में उस से भी पूर्व में रहनेवाले की अपेक्षा पश्चिमत्व का व्यवहार होता है। इसी प्रकार पश्चिम में भी किसी पश्चिमेतर की अपेक्षा पूर्वत्व का व्यवहार होता है, अतः दिशा के पूर्व पश्चिमादि भेद औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं। अतः दिक् एक ही है।

दिशा के संदर्भ में 'यह पूर्व है' 'यह पश्चिम है' इत्यादि व्यवहार किसी मूर्त्त द्रव्य को अवधि बनाकर किसी दूसरे मूर्त्त द्रव्य के बारे में ही किया जाता है, क्योंकि एक मूर्त्त पदार्थ ही किसी अन्य मूर्त्त पदार्थ की अपेक्षा से पूर्व में तथा वही पदार्थ किसी अन्य मूर्त्त पदार्थ की अपेक्षा से पश्चिम में हो सकता है, यथा जोधपुर नगर जैसलमेर नगर की अपेक्षा पूर्व दिशा

में तथा जयपुर नगर की अपेक्षा पश्चिम दिशा में है। इसीलिये कहा गया है कि दिक् का सम्बन्ध मन से है, दिक् के विभिन्न भेद काल के भेदों की तरह मानसिक संकल्पना है। प्रशस्तपाद भाष्य में दिक् के दस भेद बताये गये हैं। दिक् का विभुत्व काल के विभुत्व की तरह समझना चाहिये।

दिक् और आकाश का भेद अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि वह स्पष्ट है जैसे कि आकाश पञ्च महाभूतों में से एक भूत है जबकि दिक् नहीं है। आकाश का 'शब्द' विशेष गुण है, जबकि दिक् का कोई विशेष गुण नहीं है। दिक् काल की तरह सभी कार्यों का साधारण कारण है, किन्तु आकाश पृथ्वी आदि की तरह एक शब्द रूप विशेष गुण का असाधारण कारण है। आकाश का सम्बन्ध भूतों से है, दिक् का सम्बन्ध मन से। आकाश की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, दिक् प्रमाता के अनुभव पर आधारित है। काल के समान ही विभु होने के कारण दिशा का नित्य तथा उसी तरह गुणों का आश्रय होने से द्रव्यत्व सिद्ध मानना चाहिये।

पदकृत्यम्

प्राचीति। इयं प्राचीयमवाचीयं प्रतीचीयमुदीचीत्यादिव्यवहारासाधारणं कारणं दिगित्यर्थः। हेतुर्दिगित्युच्यमाने परमाण्वादावतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय प्राच्यादिव्यवहारहेतुरिति। आकाशादिवारणायासाधारणेति।

'यह पूर्व, यह दक्षिण, यह पश्चिम और यह उत्तर दिशा है' इस व्यवहार का असाधारण कारण जो द्रव्य है वह दिक् है। जगत् के कारण परमाणु में अतिव्याप्ति वारण के लिए प्राच्यादिव्यवहार पद है, क्योंकि परमाणु प्राच्यादि व्यवहार का कारण नहीं है। आकाश काल आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में असाधारण पद जोड़ा गया है, क्योंकि आकाश आदि कार्य मात्र के प्रति साधारण कारण हैं असाधारण कारण नहीं हैं।

तर्कदीपिका

दिशो लक्षणमाह – प्राचीति। दिगपि कार्यमात्रे निमित्त-कारणम्।

<u>आत्मनः किं लक्षणं, कतिविधश्च सः?</u>

१७. ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः। परमात्मा एक एव, जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

ज्ञान नामक गुण के आश्रय द्रव्य को आत्मा कहते हैं। वह आत्मा दो प्रकार का है :- जीवात्मा और परमात्मा। इनमें परमात्मा ईश्वर है, वह सर्वज्ञ और एक है। जीव तो प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। आत्मा विभु और नित्य द्रव्य है।

आशा आत्मा को ज्ञानाधिकरण कहा गया है। यहां अधिकरण से अभिप्राय समवाय सम्बन्ध से अधिकरण है। क्योंकि ज्ञान २४ गुणों में से एक गुण है तथा आत्मा द्रव्य है। गुण

तथा द्रव्य का सम्बन्ध समवाय ही होता है। यहाँ यह बात इसलिये भी स्पष्ट की गयी है कि कालिक और दैशिक सम्बन्ध से तो काल और दिक् सभी पदार्थों के अधिकरण हैं। अतः वे ज्ञान के भी अधिकरण हैं ही। परन्तु उनके साथ ज्ञान का समवाय सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को दो प्रकार का माना गया है- परमात्मा और जीवात्मा। नित्य ज्ञान के आश्रय को परमात्मा तथा सुख-दुःखादि के समवायि कारण को जीवात्मा कहते हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है जबकि जीवात्मा अल्पज्ञ तथा प्रत्येक प्राणी में पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा के दोनों ही रूप विभु तथा नित्य हैं।

आत्मा (जीवात्मा) की अनेकता में प्रमाण - न्यायवैशेषिक आदि दर्शन आत्मा की अनेकता में विश्वास रखते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न आत्मा रहता है। आत्मा का यह भेद वास्तविक है, काल, आकाशादि द्रव्यों के भेद की तरह औपाधिक नहीं। आत्मा की अनेकता की समर्थक मुख्य युक्ति सुखदुःखादि अनुभूतियों की सभी को एक साथ प्रतीति नहीं होना है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीवात्मा में सुख तथा दुःख आदि की उत्पत्ति होने पर भी उन सब की व्यवस्था अर्थात् नियम है। एक व्यक्ति को सुख-दुःख होने पर दूसरे को सुख-दुःख नहीं होता है। एक व्यक्ति को सुखी या दुःखी रहने पर सभी लोग सुखी या दुःखी नहीं होते। ऐसे कोई धनी है, कोई दरिद्र है, कोई मूर्ख है कोई पण्डित है- इत्यादि असंख्य प्रकार के जीवात्माओं की अवस्था का जो सर्वसम्मत नियम है- वह भी जीवात्मा के भेद में साधक हेतु होता है। अर्थात् इस नियम से सिद्ध होता है कि जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न रहता है। कारण यह है कि प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा के रहने पर उसके उक्त रूप सुख-दुःख आदि की व्यवस्था या नियम की उपपत्ति नहीं हो सकती है। अत एव कणाद ने कहा है- **'नानात्मानो व्यवस्थातः'** (३/२/२०) अर्थात् जीवात्मा अनेक है क्योंकि व्यवस्था है।

आत्मा (जीवात्मा) का विभुत्व - यहाँ यह शंका हो सकती है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर में जब भिन्न भिन्न आत्मा है और प्रत्येक शरीर का आत्मा केवल उसी शरीर में रहता है तब आत्मा को विभु कैसे कहा जा सकता है? इस शंका का समाधान इस प्रकार है- न्याय वैशेषिक सिद्धान्त में जिस वस्तु से जिस व्यक्ति को किसी प्रकार का भोग प्राप्त होता है उस वस्तु की उत्पत्ति में वस्तु की उत्पादक अन्य कारण सामग्री के अतिरिक्त उस व्यक्ति का 'अदृष्ट' या धर्म और अधर्म भी एक कारण होता है (धर्म तथा अधर्म २४ गुणों के अन्तर्गत हैं, जो आत्मा में रहते हैं)। अतएव किसी घट के निर्माण में चक्र, कुलाल, कपाल आदि कारण सामग्री के अतिरिक्त उसे भोगने वाले व्यक्ति का 'अदृष्ट' भी कारण होता है। एक ही कुम्भकार के बनाए घटों में भी परस्पर भेद देखा जाता है। कोई अधिक पका हुआ तथा कोई कम पका हुआ होता है। कार्य में इस भेद का कारण उन कार्यों के भोक्ताओं का 'अदृष्ट' भेद ही है। एक ही खेत में लगाये हुये तथा एक ही पानी से सींचे गए वृक्षों के फलों में भेद होता है। वहाँ भी भोक्ताओं का 'अदृष्ट' उस भेद का कारण है। इस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन में जिस-जिस वस्तु से भोग प्राप्त होता है वह किन-किन स्थानों में विभक्त है इसका परिगणन सम्भव नहीं है। जहाँ भी वह व्यक्ति पहुँच जाता है वहीं उसको भोग प्राप्त हो जाता

है। इसलिए उसके भोग की सामग्री सर्वत्र है यह स्वीकार करना पड़ेगा। उस स्थान विशेष पर उस वस्तु की उत्पत्ति में यदि उस व्यक्ति का 'अदृष्ट कारण है तो यह मानना चाहिए कि सर्वत्र उस 'अदृष्ट' का सम्बन्ध है। यह तभी हो सकता है जब कि उस 'अदृष्ट' के अधिकरण 'आत्मा' की सत्ता सर्वत्र मानी जाय। इसीलिए आत्मा की सर्वत्र सत्ता मानने के लिए उसको 'विभु' या 'परममहत्परिमाण वाला' मानना आवश्यक है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अदृष्ट जीवात्मा के ही होते हैं ईश्वर के नहीं।

आत्मा के गुण – आत्मा में १. संख्या, २. परिमाण, ३. पृथक्त्व, ४. संयोग, ५. विभाग ये सामान्य गुण तथा ६. बुद्धि, ७. सुख, ८. दुःख, ९. इच्छा, १०. द्वेष, ११. प्रयत्न, १२. धर्म, १३. अधर्म और १४. संस्कार ये विशेष गुण रहते हैं। इस प्रकार आत्मा में पाँच सामान्य गुण और नौ विशेष गुण पाये जाते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप – न्याय-वैशेषिक मत में **अपवर्ग** ही मोक्ष है। तत्त्व-ज्ञान के द्वारा ही अदृष्टक्षय हो जाने पर कर्म-चक्र छूट जाता है और शरीर तथा आत्मा का सम्बन्ध विच्छेद होकर सुख-दुःख से निवृत्ति के पश्चात् जीवों को अपवर्ग की प्राप्ति होती है। इसी बात को गौतम इस प्रकार कहते हैं :- दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है – **'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग:'** (१/१/२२)। यहाँ अत्यन्त से तात्पर्य पुनर्जन्म का अभाव है। इस दर्शन में २१ प्रकार के दुःखों का विवेचन है। शरीर, मन सहित छः इन्द्रियाँ, छः विषय, छः बुद्धियाँ, सुख और दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। दुःख के साथ-साथ क्षणिक सुख भी दुःखमय है। सुख और दुःख से परम अवरोध ही मुक्ति है। शरीर के नाश से इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा के नौ विशेष गुणों – इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, धर्म, अधर्म और संस्कार पूर्णरूपेण नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा अपने रूप में अवस्थित हो जाता है, यही मोक्षावस्था है।

पूर्वोक्त ज्ञानादि गुण चूँकि जीवात्मा के आगन्तुक गुण हैं अतः न्यायवैशेषिक मत में ज्ञान का अधिकरण होने पर भी जीवात्मा स्वभाव से ज्ञान रहित है और स्वभावतः जड़ है, इसमें स्वभाविक चैतन्य नहीं है। मन के विशेष संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है। अतएव न्याय-वैशेषिक मत में मोक्षावस्था में आत्मा को शिलातुल्य सुख आदि के संवेदन से रहित मानने पर अन्य विद्वानों ने इनका उपहास भी किया है- **'मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्'** (नैषधीयचरित १७/७५)।

आत्मा की सत्ता में प्रमाण – आत्मा के अतिरिक्त जो आठ द्रव्य हैं उनमें से १. पृथिवी, २. अप्, ३. तेज, ४. वायु और ५. आकाश ये पाँच द्रव्य 'पञ्चभूत' कहलाते हैं। इन पाँचों भूतों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द आदि गुणों का ज्ञान (प्रत्यक्ष) बाह्य इन्द्रियों से होता है, मन से नहीं, और बुद्धि से लेकर संस्कार तक आत्मा के नौ विशेष गुणों का प्रत्यक्ष मन से होता है बाह्येन्द्रियों से नहीं। इस भेद के कारण बुद्धि आदि गुण इन पाँच भूतों के गुण नहीं हो सकते हैं और 'विशेष गुण' होने से बुद्ध्यादि गुण १. दिक्, २. काल तथा ३. मन इन तीनों के भी गुण नहीं हो सकते हैं। क्योंकि दिक्, काल और मन इन तीनों द्रव्यों में 'सामान्य

गुण' ही रहते हैं 'विशेषु गुण' नहीं जबकि बुद्धि आदि 'विशेष गुण' हैं। इसलिए बुद्धि आदि गुणों का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। परन्तु आत्मा को छोड़कर अन्य जो आठ द्रव्य हैं वे बुद्धि आदि गुणों के आश्रयभूत 'गुणी' नहीं हो सकते हैं। इसलिए उन आठ द्रव्यों से अतिरिक्त बुद्धि आदि गुणों का आश्रय नवम् द्रव्य मानना होगा। वही 'आत्मा' है।

आत्मा की नित्यता में प्रमाण – नवजात शिशुओं को हर्ष, भय तथा शोक की प्राप्ति होने से यह अनुमान होता है कि आत्मा नित्य है। क्योंकि हर्ष, भय और शोक आदि पूर्व में अनूभूत विषयों के स्मरण से उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि नवजात शिशुओं को हँसते हुए देखकर अनुमान किया जाता है कि उसे हर्ष हुआ है, उसके शरीर में कम्पन देखकर अनुमान होता है कि उसे भय हुआ है। इसी प्रकार बच्चों को रोते हुए देखकर अनुमान होता है कि उसे दु:ख हुआ है। अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति से जो सुख होता है उसी का नाम हर्ष है। अभिलषित वस्तुओं के प्राप्त नहीं होने से जो दु:ख होता है उसी का नाम शोक है। किन्तु किसी विषय को अपने इष्टजनक के रूप में नहीं समझने पर उस विषय की इच्छा किसी को नहीं होती है। अतः नवजात शिशु भी उस समय में किसी विषय को इष्टजनक समझकर ही उस विषय की इच्छा करता है एवं उसके प्राप्त हो जाने पर प्रसन्न होता है और नहीं मिलने पर दु:खी होता है– यह मानना होगा। किन्तु इसी जन्म में पहले पहल उसको ऐसा बोध सम्भव नहीं है। इसलिए स्वीकार करना होगा कि नवजात शिशु का वह आत्मा नित्य है। पूर्व-पूर्व जन्मों में उसको (शिशु) इस तरह की वस्तुओं का इष्टजनक के रूप में ज्ञान होने से उसी ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से इस जन्म में उसको उन वस्तुओं में इष्टजनकता की स्मृति होती है। उस स्मृत्यात्मक ज्ञान से ही उस शिशु को तज्जातीय विषयों की इच्छा होती है।

प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इसको सरल ढंग से इस प्रकार समझाया है :- यह देखा जाता है कि नवजात शिशु कदाचिद् माँ की गोद से थोड़ा सा फिसलने पर तत्काल रोता हुआ कम्पित शरीर के फैलाये हुए दोनों हाथों से माँ के वक्षस्थ मंगलसूत्र को पकड़ लेता हैं। वह ऐसे क्यों करता है? युवक और वृद्ध आदि की तरह नवजात शिशु भी गिरने के डर से भयभीत होकर गिरने से अपने को बचाने के लिए क्यों उस तरह की चेष्टा करता है? पतन दु:ख का कारण है– इस तरह के ज्ञान के बिना उस समय में उसको भय, दु:ख तथा उस तरह की चेष्टा हो नहीं सकती है। क्योंकि यह सत्य है कि प्राणिमात्र ही 'पतन दु:ख का कारण है' – इस प्रकार के ज्ञान से ही गिरने के डर से भयभीत होता है, और यथाशक्ति पतन को रोकने के लिए चेष्टा करता है। जो प्राणी किसी स्थान से पतन को अपने दु:ख के कारण के रूप में नहीं समझता है, वह कदापि उस स्थान से गिरने के डर से भयभीत नहीं होता है। इस उदाहरण में नवजात शिशु के इस तरह के प्रयत्न के द्वारा भी माँ की गोद से उसके गिरने का भय अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने से यह भी सिद्ध होता है कि 'पतन दु:ख का कारण है' इस तरह का ज्ञान भी उस शिशु को है।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि नवजात शिशु के आत्मा ने पूर्वजन्म में कई बार पतन की पूर्वावस्था तथा बाद में पतन का भी अनुभव करते हुए 'वह

(पतन) दुःख का कारण है'- यह भी अनुभव किया है। अतः उन अनुभवों से उत्पन्न उन सब विषयों के संस्कार उस आत्मा में हैं। पूर्वोक्त स्थल में नवजात शिशु इस जन्म में उन संस्कारों से पतन की पूर्वावस्था को जानकर उससे अपने भावी पतन का अनुमान करके पतन दुःखजनक है इस प्रकार का अनुमान करता है। अतः उस समय में वह पतन के भय से डरकर उस पतन को रोकने के लिए उस प्रकार की चेष्टा करता है। पतन की पूर्वावस्था तथा पतन-जो उसका पूर्वानुभूत है-उसके स्मरण के बिना कदापि उसको उस प्रकार का भय नहीं हो सकता है। संस्कार के बिना भी उसको उन सभी विषयों की स्मृति नहीं हो सकती है। अतः उसका पूर्वजन्म अवश्य स्वीकरणीय है। आत्मा की उत्पत्ति न होने पर भी किसी अभिनव शरीर आदि के साथ उसका विलक्षण सम्बन्ध जन्म कहलाता है। अनादि काल से ही आत्मा के ऐसे जन्म स्वीकार योग्य होने से यह भी मानना होगा कि आत्मा नित्य है।

अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है :- नवजात शिशु के सबसे पहले अपनी माता के स्तनपान के समय में उसके मुख की क्रिया विशेषात्मक चेष्टा को देखकर उससे उसका कारण प्रयत्नात्मक प्रवृत्ति का अनुमान होता है। अतः उस प्रवृत्ति के द्वारा उस विषय में उसकी इच्छा का अनुमान होता है। क्योंकि इच्छा के बिना प्रवृत्ति हो नहीं सकती। परन्तु ज्ञान के बिना इच्छा भी नहीं होती है। इसलिए उस इच्छा से उसके कारण ज्ञान का अनुमान होता है। जिस विषय में पहले 'यह मेरा इष्टजनक है' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है उसी विषय में उस ज्ञान से इच्छा होती है तथा उसी इच्छा से उस विषय में प्रयत्नात्मक प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से उस कार्य के अनुकूल शारीरिक क्रियारूप चेष्टा उत्पन्न होती है- इस प्रकार का कार्यकारणभाव सर्वजन सिद्ध है। बालक, युवक और वृद्ध आदि सभी को 'आहार मेरा इष्टजनक है' - ऐसी स्मृति से आहार की अच्छा होती है, तथा उन सभी लोगों के आहार के पूर्वकृत अभ्यासजनित संस्कार से ही आहार क्षुधा (भूख) को निवृत्त करता है- ऐसा स्मरण होता है- यह भी सर्वजनसिद्ध है। इसलिए यह मानना होगा कि नवजात शिशु को जो सबसे पहले दूध पीने की इच्छा होती है वहाँ भी उसके कारण के रूप में 'आहार मेरा इष्टजनक है' यह स्मरण होता है। नवजात शिशुओं की उस स्मृति के कारण के रूप में उसके पूर्वजन्म का आहाराभ्यास मूलक संस्कार ही स्वीकार करना होगा। क्योंकि नवजात होने से इस जन्म में अभी उसको इस तरह के संस्कार की प्राप्ति संभव नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त युक्तियाँ आत्मा की नित्यता को प्रमाणित करती हैं।

न्यायवैशेषिक मत में आत्मा ही समस्त कार्यों का कर्ता एवं भोक्ता है, सांख्यादि दर्शनों के समान केवल भोक्ता ही नहीं है। सांख्य दर्शन में आत्मा को विषयों का भोक्ता तो माना गया है परन्तु कर्ता आत्मा को न मानकर प्रकृति को माना गया है। आत्मा के कर्त्ता व भोक्ता होने का कारण यह है कि न्यायवैशेषिक में अदृष्ट (धर्म तथा अधर्म नामक गुण) आत्मा की विशेषता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य-पाप ये दोनों आत्मा के गुण हैं, यह सिद्धान्त है। जो आत्मा, जिस शरीर से पुण्य-पाप करता है उस शरीर के नाश होने पर भी वही आत्मा दूसरे शरीर में जाकर पुण्य-पाप का फल भोगता है, यह सर्वसम्मत है। अब

पुण्य-पाप को शरीर का गुण कहा जाय तो, उन पुण्य-पापों का कर्ता जो शरीर होगा उसके नष्ट होने से अर्थात् पुण्य-पाप के फल के भोक्ता उस शरीर के अभाव में उस फल को कौन भोगेगा? यदि कहें कि जन्मान्तरीय दूसरे शरीर से उसे भोगा जायेगा तो यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि एक के किये हुए कर्म (पुण्य-पाप) का फल दूसरे को भोगना संभव नहीं। जिसने जो कर्म किया है, उस कर्म का फल उसे ही भोगना है, यह सर्वसम्मत है। अतः आत्मा को ही उन कर्मों का कर्ता तथा आश्रय मानना उचित है।

ईश्वर (परमात्मा) 'समवायसम्बन्ध से जो नित्यज्ञानवान है वही ईश्वर है' ईश्वर का यह लक्षण पदकृत्य, दीपिका आदि टीकाओं में दिया गया है। न्यायवैशेषिक दर्शनों में आत्मा के दोनों भेद परमात्मा एवं जीवात्मा व्यावहारिक दृष्टि से पृथक् पृथक् हैं। सृष्टि और प्रलय ईश्वर की इच्छा से होते हैं। ईश्वर इनका निमित्त कारण है। जीवात्मा के भोगोपवर्ग सम्पादन के लिये ईश्वर उपादान कारणों (परमाणुओं) से घटादि के समान सृष्टि का निर्माण करता है। आगम प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण से यह बात सिद्ध होती है। निम्न युक्तियों से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है :-

(१) घट की उत्पत्ति होती है अतः वह कार्य है। उसको उत्पन्न करने वाला एक 'कर्ता' (कुम्भकार) होता है। उसी प्रकार यह जगत् भी एक कार्य है। इसका भी कोई एक 'कर्ता' है, वह साधारण पुरुष तो हो नहीं सकता। अतएव इतने बड़े जगत् को उत्पन्न करने वाले को सर्वज्ञ होना चाहिए। वही जगत् का कर्ता सर्वज्ञ **'ईश्वर'** है।

(२) प्रलय-काल में समस्त कार्य-जगत् परमाणु-रूप में आकाश में रहता है। ये परमाणु जड़ हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में इन्हीं परमाणुओं के आरम्भक संयोग से द्व्यणुक आदि के रूप में क्रमशः सृष्टि होती है। परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करने के लिए एक 'चेतन' तत्त्व की आवश्यकता होती है। उस समय कोई भी 'चेतन' पदार्थ नहीं है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है, जिसकी इच्छा मात्र से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है और परमाणुओं में 'आरम्भक-संयोग' उत्पन्न होता है, जिससे सृष्टि होती है। वह चेतन तत्त्व **'ईश्वर'** ही है।

(३) जगत् का कोई आधार आवश्यक है, अन्यथा इसका पतन हो जायगा। इस प्रकार जगत्-रूप कार्य का नाश करने वाले की भी आवश्यकता है। साधारण लोग इसका नाश नहीं कर सकते। अतएव जगत् को धारण करने वाला तथा नाश करने वाला जो है, वही **'ईश्वर'** है।

(४) इस जगत् में जो कला-कौशल हैं, उन सबको उत्पन्न करने वाला सृष्टि के आदि में कोई अवश्य रहता है, जो प्रलय के पूर्वकाल में विद्यमान सम्प्रदायों को सृष्टि के आरम्भ में पुनः चलावे। सम्प्रदायों को चलाने वाले जो है, वही **'ईश्वर'** हैं।

(५) वेद को सब तरह से प्रामाणिक तभी मान सकते हैं, जब उसका रचयिता भी सर्वथा प्रामाणिक हो। यही वेद का रचयिता **'ईश्वर'** है, अर्थात **'ईश्वर'** ने वेद को बनाया। **'ईश्वर'** में सबकी श्रद्धा है। अतएव वेद में भी सबकी श्रद्धा है।

(६) श्रुति में भी कहा गया है कि **'ईश्वर'** है।

(७) दो परमाणुओं के सम्मिलन से 'द्व्यणुक' उत्पन्न होता है और द्व्यणुकों की 'तीन संख्या' से 'अपेक्षाबुद्धि' के द्वारा 'त्र्यणुक' बनता है। प्रलयकाल में 'ईश्वर' को छोड़ कर अन्य कोई चेतन तो है नहीं, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से संख्या के द्वारा 'त्र्यणुक' बनेगा। अतएव 'ईश्वर' को मानना आवश्यक है, जिसकी अपेक्षाबुद्धि से 'त्र्यणुक' बना। इन युक्तियों के अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा **ईश्वर** का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है।

पदकृत्यम्

ज्ञानाधिकरणेति। भूतलादिवारणाय ज्ञानेति। कालादिवारणाय समवायेनेत्यपि देयम्। ईश्वर इति। समवायसम्बन्धेन नित्यज्ञानवानीश्वरः। जीव इति। सुखादिसमवायिकारणं जीव इत्यर्थ।

घट के अधिकरण भूतल में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में ज्ञान पद है क्योंकि अधिकरण तो भूतलादि भी हैं परन्तु वे ज्ञान के अधिकरण नहीं हैं। काल, दिशा तथा आकाश जो सभी के अधिकरण हैं, वे ज्ञान के भी अधिकरण हैं। इनमें अतिव्याप्ति वारण के लिए 'समवायेन ज्ञानाधिकरणं' यह आत्मा का लक्षण मानना चाहिये। काल आदि भी ज्ञान के अधिकरण तो हैं पर वे समवायसम्बन्ध से ज्ञान के अधिकरण नहीं हैं। समवाय सम्बन्ध से नित्य ज्ञान के आश्रय को ईश्वर माना जाता है। सुख और दुःख के समवायिकारण को जीव कहते हैं। द्रव्य में जो गुण उत्पन्न होते हैं, उनका द्रव्य ही समवायिकारण होता है। सुख और दुःख दोनों गुण हैं, वे आत्मा रूपी द्रव्य में उत्पन्न होते हैं। इसलिए जिसमें सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उस आत्मा को जीव कहते हैं।

तर्कदीपिका

आत्मनो लक्षणमाह – ज्ञानेति॥ आत्मानं विभजते – स द्विविध इति। परमात्मनो लक्षणमाह-तत्रेति नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्॥ नन्वीश्वरस्य सद्भावे किं प्रमाणम्?। न तावत्प्रत्यक्षम्, तद्धि बाह्यमाभ्यन्तरं वा?। नाद्यम्, अरूपिद्रव्यत्वात्। नान्त्यम्, आत्मसुखादिव्यतिरिक्तत्वात्। नाप्यनुमानम् लिङ्गाभावात् नाप्यागमः, तथाविधागमाभावादिति चेत्-न; क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचि-कीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्। उपादानं समवायिकारणम्। सकलपरमाण्वादि-सूक्ष्मदर्शित्वात्सर्वज्ञत्वम्। ''यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'' इत्याद्यागमोऽपि तत्र प्रमाणम्॥

जीवस्य लक्षणमाह-जीव इति। सुखाद्याश्रयत्वं जीवलक्षणम्। ननु 'मनुष्योऽहम्' ब्राह्मणोऽहम् इत्यादौ सर्वत्राहंप्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वाच्छरीर-मेवात्मेति चेत्-न; शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे सति शरीरनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गात्। नापीन्द्रियाणामात्मत्वम्; तथात्वे 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं

त्वचा स्पृशामि' इत्यनुसंधानाभावप्रसङ्गादन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसंधानायोगात्। तस्माद्देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो जीवः। सुखदुःखादिवैचित्र्यात्प्रतिशरीरं भिन्नः। स च न परमाणुपरिमाणः; शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न मध्यमपरिमाणः; तथा सत्यनित्यत्वप्रसङ्गेन कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः॥

मनसः किं लक्षणं, कतिविधं च तत्?

१८. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च।

सुख और दुःख की उपलब्धि (प्राप्ति) के हेतु इन्द्रिय को मन कहते हैं। वह प्रत्येक आत्मा के साथ अलग अलग नियत है, इसलिए (मन भी आत्मा की भाँति) अनन्त है, (तथा मन) परमाणु रूप और नित्य है।

आशा मन का मूलोक्त लक्षण सुख दुःख इत्यादि आन्तरिक गुणों को उपलब्ध कराने वाली इन्द्रिय के रूप में किया गया है। यहाँ सुखादि का अर्थ आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले समस्त गुण हैं। मन के लक्षण में प्रयुक्त 'उपलब्धि' पद भी ध्यान देने योग्य है, क्योंकि मन अन्य इन्द्रियों के समान केवल साधन ही नहीं है, प्रत्युत् साक्षात् आन्तरिक ज्ञान का कारण भी है। मन स्वयं एक इन्द्रिय भी है और अन्य इन्द्रियों का सहायक भी है। मन के संयोग से ही बाह्येन्द्रियाँ अपने अपने अर्थ की ग्राहक होती हैं। इस प्रकार मन सुख दुःख जैसी आन्तरिक अनुभूतियों के ग्रहण के साथ साथ बाह्येन्द्रियों द्वारा विषयों के ग्रहण में भी सहायक है। समस्त इन्द्रियों के अपने अपने अर्थ के ग्रहण में सहायक होने से भी मन समस्त विषयों की उपलब्धि का साधन है। अन्नम्भट्ट ने दीपिका टीका में मन को दूसरी तरह से परिभाषित किया है - **स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम्** अर्थात् ऐसा द्रव्य जिसमें स्पर्श न हो तथा जो क्रियावान हो वह मन है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन पाँच द्रव्यों में से प्रथम चार तो विभु हैं अतः वे तो क्रियावान् हो नहीं सकते केवल मन ही क्रियावान् है।

मन के गुण - मन में १. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग ६. परत्व ७. अपरत्व तथा ८. संस्कार ये आठ गुण पाये जाते हैं।

मन की सत्ता में प्रमाण - चूँकि मन का अणु परिमाण माना गया है अतः यह सामान्य जन के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। इस कारण से इसकी सत्ता अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध की जाती है। न्याय व वैशेषिक दोनों के सूत्र ग्रन्थों में मन की सत्ता निम्नानुसार प्रमाणित की गयी है। कणाद का सूत्र है- **आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्** (७.२.१) अर्थात् कभी आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रहने पर भी पदार्थ का ज्ञान होता है और कभी नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेक से मन की सत्ता सिद्ध होती है। **गौतम** का कहना है कि हमें बहुत से ज्ञान युगपत् नहीं हो सकते प्रत्युत क्रमशः होते हैं और यह इस बात का प्रमाण है कि मन अणु है और आणविक पदार्थ से एक साथ दो पदार्थों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता :- **युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्** (१.१.१६)।

मन की अनेकता - जितने जीवात्मा हैं प्रत्येक का पृथक्-पृथक् मन है। एक ही मन जन्म जन्मान्तर में आत्मा के साथ रहता है अन्यथा यह सम्भव नहीं होगा कि एक जन्म के संस्कार दूसरे जन्म में भी जाएं। **'तच्च प्रत्यात्मनियतत्वात्'** इत्यादि का यही आशय है। सुखदुःखादि की अनुभूतियों में भिन्नता के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक आत्मा के साथ संयुक्त मन भिन्न भिन्न है। अतः मन अनेक है। परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक आत्मा के साथ एक ही मन रहता है, एक से अधिक नहीं :- **प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याचैकम्** (वैशेषिकसूत्र ३/२/३)। तर्कसंग्रह की टीका **वाक्यवृत्ति** में नियत पद का यह अर्थ बताया गया है कि मन उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समवाय सम्बन्ध है और उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समवाय सम्बन्ध नहीं है, समान रूप से बोध कराता है- **अत्र समवेतकारणत्वे सत्यसमवेत-भोगकारणत्वं नियतत्वशब्दार्थः।**

मन का अणु परिमाण - मन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका अणु परिमाण वाला होना है। मन के अणु परिमाण वाला होने में प्रमाण यह है कि चाक्षुष, श्रावण, घ्राणज आदि विभिन्न ज्ञान एक साथ एक ही समय में उत्पन्न नहीं होते। अनेक इन्द्रियों के रहने पर भी जिस इन्द्रिय के साथ मन जुड़ जाता है उसी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है। यदि मन अणु नहीं होता तो एक साथ अनेक इन्द्रियों से जुड़कर एक काल में ही अनेक इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान करा देता परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः मन अणु है :- **तदभावादणु मनः** (वैशेषिक सूत्र ७/१/२३)।

पदकृत्यम्

सुखेति। आत्ममनःसंयोगादिवारणायेन्द्रियमिति। चक्षुरादिवारणाय सुखेति।

आत्मा और मन के संयोग से भी सुख आदि की उपलब्धि होती है अतः आत्ममनः संयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए इन्द्रिय पद है, क्योंकि आत्मा और मन का संयोग सुखादि के ज्ञान के प्रति कारण तो है परन्तु वह इन्द्रिय नहीं है। रूप रस आदि गुणों की उपलब्धि के साधन चक्षु आदि इन्द्रियों में मन के लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए सुख पद है, क्योंकि चक्षु आदि ज्ञान के साधन तो हैं परन्तु उनसे सुख आदि आत्मा के विशेष गुणों का ज्ञान नहीं हो सकता।

तर्कदीपिका

मनसो लक्षणमाह - सुखेति। स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम्। मनो विभजते-तच्चेति। एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकम् इत्यात्मनोऽनेकत्वान्मनसोऽप्यनेकत्वमित्यर्थः। परमाणु रूपमिति। मध्यमपरिमाणत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु मनो नाणु, किन्तु विभु, स्पर्शरहितद्रव्यत्वादाकाशवदिति चेत्, न; मनसो विभुत्व आत्ममनः-संयोगस्यासमवायिकारणस्याभावाज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च विभुद्वयसंयोगो-

ऽस्त्विति वाच्यम्; तत्संयोगस्य नित्यत्वेन सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात्। पुरीतद्व्यतिरिक्तप्रदेश आत्ममनः संयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात्। अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति तदा सुषुप्तिः। यदा निःसरति तदा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः॥

॥ द्रव्यनिरूपण समाप्त हुआ॥

गुणलक्षणप्रकरणम्

रूपस्य किं लक्षणं, कतिविधं च तत्?

१९. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात् सप्तविधम्। पृथिवीजलतेजो वृत्ति। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्।अभास्वरशुक्लं जले। भास्वरशुक्लंतेजसि।

केवल चक्षु से ग्राह्य गुण को रूप कहते हैं। वह सात प्रकार का है :- शुक्ल, नील,पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र। पृथ्वी, जल और तेज इन तीनों द्रव्यों में रूप रहता है। इनमें से पृथ्वी में सातों प्रकार का रूप रहता है। जल में केवल अभारस्वरशुक्ल और तेज में भास्वर शुक्ल रूप रहता है।

आशा द्रव्यादि पूर्वोक्त सप्त पदार्थों में गुण द्वितीय पदार्थ है। इसके २४ भेद पूर्व में बताये जा चुके हैं। इनका क्रमशः विवेचन किया जा रहा है। उनमें प्रथम है 'रूप'। केवल आँखों से ही दीखने वाला गुण 'रूप' है। द्रव्य भी वही आँखों से देखा जाता है जिसमें कि रूप हो। आकाशादि में रूप नहीं है, अतः वे नहीं देखे जाते। इस प्रकार द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में भी रूप सहायक कारण है। केवल द्रव्य ही नहीं जिस किसी का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष हो, रूप किसी न किसी प्रकार अपेक्षित होगा ही। फलतः चक्षु से सभी ज्ञानकार्यों के सम्पादन में रूप सहायक कारण है। यह रूप नामक गुण शुक्ल, नील, पीत, हरित, रक्त, कपिश और चित्र भेद से सात प्रकार का है।

चित्र रूप के प्रसंग में कुछ विवाद है। कुछ लोग कथित नीलादि रूपों से भिन्न चित्र नाम का रूप नहीं मानते। इसको मानने वालों का कहना है कि संयोग की तरह रूप अपने किसी आश्रय के एक अंश में रहे और दूसरे अंश में नहीं रहे, ऐसा नहीं होता (रूप अव्याप्यवृत्ति नहीं है) अर्थात् रूप अपने आश्रय के सभी अंशों में रहता है (अतः वह व्याप्यवृत्ति है)। इस नियम के अनुसार जो छींट प्रभृति अनेक रंगों के कपड़े हैं, उनमें कोई रूप सभी अंशों में नहीं है। किन्तु वे भी रूपवाले द्रव्य हैं क्योंकि उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः उनमें नीलादि से भिन्न कोई रूप मानना पड़ेगा। वही रूप चित्ररूप है।

यहाँ ग्रहण का अर्थ साधारण ग्रहण है, योगियों का अलौकिक ग्रहण नहीं। शंकरमिश्र ने वैशेषिक सूत्रोपस्कार में रूप के ग्रहण के लिये चार शर्तें बतायी हैं- १. महत्परिमाण, २. उद्भूतत्व, ३. अनभिभूतत्व, ४. रूपत्व। परमाणुओं का रूप इसलिये नहीं देखा जा सकता

क्योंकि परमाणु में महत्परिमाण नहीं है। चक्षुओं की धवलता इसलिये नहीं देखी जा सकती, क्योंकि वह उद्भूत नहीं है। सामान्य अग्नि में धवलता इसलिये नहीं देखी जा सकती कि वह पार्थिव तत्त्व से अभिभूत है अर्थात् अग्नि की धवलता पार्थिव तत्त्वों से अनभिभूत नहीं है। रस और स्पर्श इसलिये नहीं देखे जा सकते, क्योंकि उनमें रूपत्वजाति नहीं हैं (पदकृत्य भी द्रष्टव्य है)।

रूप की जो परिभाषा यहाँ दी है, उससे यह स्पष्ट है कि रूप का अर्थ आकार अर्थात् गोलाई, लम्बाई इत्यादि नहीं है; क्योंकि आकार न तो सात रूपों में से एक है, और न चक्षुमात्रग्राह्य। किसी वस्तु के आकार को तो स्पर्श से भी जाना जा सकता है।

पृथ्वी में सभी सातों प्रकार के रूप हैं तथा जल और तेज में केवल शुक्ल रूप है। किन्तु तेज की शुक्लता जल की शुक्लता से भिन्न है। भास्वर शुक्ल रूप तेज का है और अभास्वर शुक्ल रूप जल का। शुक्ल रूप के अतिरिक्त अन्य किसी रूप के अवान्तर भेद नहीं माने गये हैं।

रूप नामक गुण पृथ्वी में पाकज तथा अनित्य है, जल और तेज के परमाणुओं में नित्य है तथा जल व तेज के कार्यों में अनित्य है।

पदकृत्यम्

चक्षुरिति। रूपत्वादिवारणाय गुणपदम्। रसादिवारणाय चक्षुर्ग्राह्य इति। संख्यादिवारणाय मात्रपदम्। यद्यपि प्रभाभित्तिसंयोगवारणाय गुणपदेन विशेषगुणस्य विवक्षणीयतया तत एव संख्यादिवारणं सम्भवतीति मात्रपदं व्यर्थम्। तथापि सांसिद्धिकद्रवत्ववारणाय तदावश्यकम्। वस्तुतस्तु परमाणुरूपेऽव्याप्तिवारणाय चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वस्य विवक्षणीयतया विशेषपदं न देयम्। त्र्यणुकादिवारणाय गुणपदं तु देयम्। रसेति। रूपमित्यनुषज्यते।

'यो गुणः यदिन्द्रियग्राह्यः तद्गता जातिः तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते' अर्थात् जो गुण जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है उस गुण में रहने वाली जाति और उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से गृहीत होता है यह नियम है। जैसे रूप गुण तथा रूपत्व जाति का ग्रहण नेत्र से होता है अतः रूपाभाव का भी ज्ञान नेत्र से ही होता है। इस नियम के अनुसार यदि रूप के लक्षण में गुणपद न दें तो रूपत्व में रूप के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि रूपत्व भी चक्षुर्मात्र ग्राह्य है। अतः गुण पद दिया है। रस आदि में अतिव्याप्ति के वारण के लिए चक्षुर्ग्राह्य पद है। यदि 'चक्षुर्ग्राह्य गुण' को रूप का लक्षण माना जाय और मात्र पद न दिया जाय तो संख्या में रूप के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतः मात्र पद देना चाहिए। संख्याा नेत्र से ही नहीं अपितु आँख मूंदकर स्पर्श से भी जानी जाती है। पानी में पड़े हुए सूर्य की प्रतिबिम्ब की प्रभा जब भित्ति (दीवार) पर पड़ती है और वहाँ दीवार पर दर्पण के सदृश प्रकाश बन जाता है उसे प्रभा कहते हैं। वह तेज है अतः द्रव्य है। भित्ति द्रव्य का प्रभा द्रव्य के साथ जो संयोग है वह चक्षुर्मात्र ग्राह्य गुण है। इस प्रकार इस लक्षण की प्रभाभित्ति संयोग में अतिव्याप्ति होगी, यह शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ गुणपद विशेषगुण परक है। रूप, रस, गन्ध,

स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म ये विशेष गुण कहलाते हैं :- **रूपं गन्धो रसस्पर्शौ स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः। बुद्ध्यादिभानान्ताश्च अमी वैशेषिका गुणाः॥** संयोग के विशेष-गुण में न होने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। तब यह शंका उठती है कि यदि गुण पद विशेष-गुण परक है तो संख्या में अतिव्याप्ति वारण के लिए मात्र पद देना व्यर्थ है। क्योंकि संख्या भी विशेष-गुण नहीं है। अतः उसमें भी अतिव्याप्ति का वारण इसी से हो जायेगा परन्तु केवल जल में रहने वाले सांसिद्धिक द्रवत्व का चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त स्पर्शेन्द्रिय द्वारा भी ग्रहण होता है। अतः यदि मात्र पद न दे तो चक्षुर्ग्राह्य होने से द्रवत्व में रूपलक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतः मात्र पद देना चाहिये। अब चूँकि द्रवत्व केवल चक्षुरिन्द्रिय से ही ग्राह्य नहीं है स्पर्शेन्द्रिय से भी ग्राह्य है, अतः मात्र पद देने से द्रवत्व में रूप लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण हो जायेगा। वस्तुतः तो परमाणुरूप चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं है इस कारण 'चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्वे सति गुणत्वं रूपस्य लक्षणम्' मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में प्रभाभित्ति संयोग में भी अतिव्याप्ति दूर हो जायगी क्योंकि प्रभाभित्ति के संयोग से रूपत्व जाति नहीं रहती। तब गुण को विशेषगुणपरक मानना भी व्यर्थ होगा किन्तु त्र्यणुक में अतिव्याप्ति वारण के लिए गुण पद देना चाहिये क्योंकि चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्व त्र्यणुक में भी है (परंतु वह गुण नहीं है)। मूल में सप्तविधं के आगे रूपं इतना अधिक पढ़ना चाहिये।

तर्कदीपिका

रूपं लक्षयति-चक्षुरिति। संख्यादावतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र'-पदम्। रूपत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय 'गुण' पदम्। प्रभाभित्तिसंयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं वाच्यम्। रूपं विभजते - तच्चेति॥ नन्वव्याप्य-वृत्तिनीलादिसमुदाय एव चित्ररूपमिति चेत्-न; रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमात्। ननु चित्रपटेऽवयवरूपस्य प्रतीतिरस्त्विति चेत्-न; रूपरहितत्वेन पटस्याप्रत्यक्ष-त्वप्रसङ्गात्। न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं; गौरवात्। तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः॥ रूपस्याश्रयमाह-पृथिवीति। आश्रयं विभज्य दर्शयति-तत्रेति॥

<u>रसस्य किं लक्षणं, कतिविधश्च सः?</u>

२०. रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुक-षायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवी-जलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव।

रसना (जिह्वा) इन्द्रिय से ग्राह्य गुण को रस कहते हैं। वह मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से छः प्रकार का है। जो पृथ्वी और जल में रहता है। पृथ्वी में छः प्रकार का रस होता है। जल में केवल मधुर रस होता है।

आशा केवल रसनेन्द्रिय से ज्ञात होने वाले गुण को रस कहते हैं। इसके उपर्युक्त छः भेद हैं। यह पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों में ही रहता है। पृथ्वी में सभी प्रकार के रस रहते हैं। पृथ्वी में यह पाकज और अनित्य है। जल में यह गुण केवल मधुर तथा अपाकज होता है। परमाणु रूप जल में नित्य और कार्यभूत जल में अनित्य होता है।

पदकृत्यम्

रसनेति। रसत्वादिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय रसनेति। तत्रेति। पृथिवीजलयोरित्यर्थः। षड्विध इति। अत्र रस इत्यनुवर्तते।

चूँकि रस में रहने वाली रसत्व जाति भी रसनेन्द्रिय से ग्राह्य है अतः उसमें अतिव्याप्ति वारण के लिए गुण पद दिया है। रूप आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए रसना पद है, रस ही रसना से ग्राह्य है रूपादि अन्य गुण नहीं। तत्र पद का पृथ्वी और जल में तात्पर्य है। 'षड्विधः' के आगे 'रसः' यह पद जोड़ देना चाहिए।

तर्कदीपिका

रसं लक्षयति - रसनेति। रसत्वेऽतिव्याप्तिपरिहाराय 'गुण' पदम्। रसस्याश्रयमाह-पृथिवीति॥ आश्रयं विभज्य दर्शयति - पृथिव्यामिति॥

<u>गन्धस्य किं लक्षणं, कति च भेदाः?</u>

२१. घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवीमात्रवृत्तिः।

घ्राण इन्द्रिय से ग्राह्य गुण को गन्ध कहते हैं। वह दो प्रकार का है- एक सुरभि और दूसरा असुरभि। यह पृथ्वी मात्र में रहता है।

आशा घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य विशेष गुण 'गन्ध' है जो केवल पृथिवी में रहता है। यह पृथ्वी का विशेष गुण है। पृथ्वी में रहने वाला यह गन्ध गुण अनित्य ही माना गया है, चाहे वह परमाणु रूप नित्य पृथ्वी में रहे या स्थूल कार्य रूप अनित्य पृथ्वी में। क्योंकि पृथ्वी में यह गुण पाकज है और तेज के संयोग से उसमें परिवर्तन होता रहता है। इसका विशेष विवेचन स्पर्श गुण के विवेचन के बाद किया जा रहा है। गन्ध के दो भेद मूल में बताये गये हैं, जिनकी प्रतीति हम सामान्य रूप से करते रहते हैं। जल आदि में होने वाली गन्ध की प्रतीति उसमें रहने वाले पार्थिव अंश के कारण होती है। इसे जल का गुण नहीं मानना चाहिये (पदकृत्य भी द्रष्टव्य है)। जल आदि में रहने वाले गन्ध का ज्ञान संयुक्तसमवायसन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्षगम्य है। प्रत्यक्ष ज्ञान में होने वाले सन्निकर्षों का विवेचन आगे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रकरण में द्रष्टव्य है।

पदकृत्यम्

घ्राणग्राह्य इति। गन्धत्वादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावति-व्याप्तिवारणाय घ्राणग्राह्य इति। पृथिवीति। पृथिवीसम्बन्धसत्त्वे गन्धप्रतीतिसत्त्वं

पृथिवीसम्बन्धाभावे गन्धप्रतीत्यभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्यैव जले प्रतीतिर्बोध्या। एवं वायावपि। ननु देशान्तरस्थकस्तूरीकुसुमसम्बद्धपवनस्यैतद्देशे असत्त्वाकुसुमादिसम्बन्धाभावाद्गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिः। न च वाय्वानीतत्र्यणुकादि-सम्बन्धोऽस्त्येवेति वाच्यम्। कस्तूर्या न्यूनतापत्तेः, कुसुमस्य च सच्छिद्रत्वापत्तेरिति चेन्न। भोक्त्रदृष्टविशेषेण पूर्ववत्त्र्यणु-कान्तराद्युत्पत्तेः कर्पूरादौ तु तदभावान्न तथात्वामिति।

'जो गुण जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होता है तद्गत् जाति भी उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होती है' पूर्वोक्त इस नियम के अनुसार घ्राण ग्राह्य गन्धत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिए गन्ध के लक्षण में गुण पद दिया है। रूपादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए घ्राणग्राह्य पद है। 'पृथ्वी का जलादि में सम्बन्ध रहने पर गन्ध प्रतीति का होना और सम्बन्ध न रहने पर गन्ध प्रतीति का न होना' इस अन्वय व्यतिरेक के द्वारा यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी के ही गन्ध की प्रतीति केवड़ा आदि रूप जल में होती है। अब यह शंका उठती है कि देशान्तर में स्थित कस्तूरी या कुसुम से सम्बद्ध होकर जब गंध हमारे निकट आती है तब चूँकि कस्तूरी या कुसुम से घ्राणेन्द्रिय का सम्बद्ध नहीं होता अर्थात् कुसुमादि का सम्बन्ध गन्ध प्रतीति स्थान में नहीं है, फिर वायु में गन्ध की प्रतीति कैसे होती है? यदि यह कहा जाय कि कस्तूरी या कुसुम के कुछ अंश (त्र्यणुक) को लेकर वायु आता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार कस्तूरी में न्यूनता आ जानी चाहिए और कुसुम में भी छिद्र हो जाना चाहिये। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि भोक्ता के अदृष्ट विशेष से त्र्यणुकान्तर की उत्पत्ति मानते हैं, जिससे पुष्प या कस्तूरी में न्यूनता नहीं होती। कपूर आदि में जो न्यूनता आती है, उसके लिए मानना पड़ेगा कि भोक्ता के अदृष्ट विशेष के अभाव के कारण त्र्यणुकान्तर की उत्पत्ति नहीं होती अतः उसमें न्यूनता आ जाती है।

तर्कदीपिका

गन्धं लक्षयति-घ्राणेति। गन्धत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्॥

<u>स्पर्शस्य किं लक्षणं, के च भेदाः?</u>

२२. त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः शीतोष्णा-नुष्णाशीतभेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः।

त्वगिन्द्रिय मात्र ग्राह्य गुण को स्पर्श कहते हैं। वह तीन प्रकार का है:- शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत के भेद से यह पृथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है। इनमें से जल में शीत, तेज में उष्ण, पृथ्वी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है।

आशा केवल त्वचा रूप इन्द्रिय से ज्ञात हो सकने वाले गुण को स्पर्श कहते हैं। यह पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेद से यह तीन

प्रकार का है। शीतस्पर्श जल में, उष्णस्पर्श तेज में तथा अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी और वायु में रहता है। अनुष्णाशीत स्पर्श भी पाकज और अपाकज भेद से दो प्रकार का है। इनमें पाकज अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी में (पाक से पृथिवी का अनुष्णाशीतस्पर्श परिवर्तित हो सकता है) और अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श वायु में रहता है। स्पर्श नामक गुण पृथ्वी मात्र में अनित्य होता है तथा जल, वायु और तेज के परमाणुओं में नित्य होता है तथा कार्यों में अनित्य होता है।

पदकृत्यम्

स्पर्शत्वादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय त्वगिन्द्रियेति। सङ्ख्यादिवारणाय मात्रपदम्। तत्रेति। पृथिव्यादिचतुष्टये। शीत इति शीतस्पर्शः। उष्ण इति उष्णस्पर्शः॥

'जो गुण जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होता है, तद्गत जाति भी उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होती है' पूर्वोक्त इस नियम के अनुसार स्पर्शत्व जाति में अतिव्याप्ति वारण के लिए गुण पद है। रूप में अतिव्याप्ति वारण के लिए त्वगिन्द्रिय पद है। संख्या में अतिव्याप्ति वारण के लिए मात्र पद है क्योंकि संख्या चक्षु से भी जानी जा सकती है। तत्र शब्द का पृथ्वी, जल, तेज और वायु से तात्पर्य है। शीत शब्द का शीतस्पर्श, उष्ण का उष्णस्पर्श अर्थ है।

तर्कदीपिका

स्पर्शं लक्षयति-त्वगिति। स्पर्शत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय 'गुण'-पदम्। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र' पदम्॥

रूपादिचतुष्टयं कुत्र पाकजमपाकजं वा कुत्र?

२३. रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यं च अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पृथ्वी में पाक द्वारा उत्पन्न होते हैं और अनित्य हैं। अन्यत्र अपाकज नित्य तथा अनित्य है। ये चारों नित्य (परमाणु) में नित्य और अनित्य (कार्यद्रव्य) में अनित्य होते हैं।

आशा मूल में यह बताया गया है कि रूपादि चारों गुण पृथ्वी नामक द्रव्य में पाक अर्थात् पृथ्वी का तेज के साथ संयोग होने पर उत्पन्न अर्थात् परिवर्तित होते रहते हैं अतः ये चारों गुण पृथ्वी में अनित्य माने गये हैं चाहे वे परमाणु रूप नित्य पृथ्वी में रहते हों या घटादि कार्यरूप पृथ्वी में। यह नियम न्यायवैशेषिक दर्शनों में 'पाकजोत्पत्ति' सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। वैशेषिक दर्शन में तो १. द्वित्व, २. पाकजोत्पत्ति तथा ३. विभागजविभाग इन तीनों का विस्तृत विवेचन किया गया है। ये तीनों वैशेषिक दर्शन के मुख्य विषय समझे जाते हैं, और वैशेषिक दर्शन के पाण्डित्य की परीक्षा उनके परिज्ञान के आधार पर ही होती है। इसलिए यह श्लोक प्रसिद्ध है :-

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदु:॥

(सर्वदर्शनसंग्रह:)

पाकजोत्पत्ति –

ऊपर रूपादि चारों गुणों की पृथ्वी में पाकजोत्पत्ति बतायी गयी है अत: इस विषय को ठीक से समझना आवश्यक है। पृथ्वी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चार ही गुण 'पाकज' अर्थात् अग्नि संयोग से उत्पन्न माने जाते हैं। कच्चा फल हरा होता है वह पककर पीला या लाल आदि रंग का हो जाता है। कच्चे फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से पके फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सब ही भिन्न होते हैं। फलों के पकने का कारण गर्मी अथवा तेज:संयोग ही है यह सर्वविदित है। अतएव पके फल में जो विशेष रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श होते हैं वे पाक अर्थात् तेज:संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। तेज:संयोग से फल आदि में तेज:संयोग से पूर्व में विद्यमान रूप, रस आदि नष्ट होकर पाक से उनमें नए रूप रस आदि उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे सब 'पाकज' कहलाते हैं। ये 'पाकज' गुण केवल पृथ्वी में ही रहते हैं अन्यत्र अर्थात् जल आदि अन्य द्रव्यों में नहीं।

पाकज रूप आदि गुणों की उत्पत्ति प्रक्रिया : 'पीलुपाक' तथा 'पिठरपाक' : –

कच्चा घड़ा जब अग्नि में पकाया जाता है तब उसका काला रूप नष्ट होकर अग्नि-संयोग से उसमें लाल रूप उत्पन्न हो जाता है। इसलिए घट के रूप आदि चारों गुण 'पाकज' गुण हैं। परन्तु श्यामरूप नष्ट होकर रक्त रूप की उत्पत्ति किस प्रकार होती है इसकी प्रक्रिया में न्याय तथा वैशेशिक दर्शन में थोड़ा मतभेद पाया जाता है, और इस विषय में दोनों के सिद्धान्त अलग अलग नाम से प्रसिद्ध हैं। पाकजोत्पत्ति के विषय में वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त 'पीलुपाक' कहलाता है। 'पीलु' शब्द का अर्थ परमाणु है। 'पीलुपाक' अर्थात् परमाणुओं का पाक। वैशेषिक मतानुसार परमाणुओं का पाक होता है। 'पाकज' रूप, रस आदि गुण परमाणुओं में पैदा होते हैं, पिण्ड रूप घटादि में नहीं। इसके विपरीत नैयायिकों के सिद्धान्त में पाकज गुणों की उत्पत्ति परमाणुओं में नहीं अपितु घट के सम्पूर्ण 'पिण्ड' में होती है। इसलिए न्याय का सिद्धान्त 'पिठरपाक' नाम से प्रसिद्ध है। 'पिठर' शब्द का अर्थ है पिण्ड अर्थात् न्याय के मत में पाक परमाणुओं का नहीं किन्तु सम्पूर्ण घट का होता है। इसलिए न्याय के सिद्धान्त को 'पिठरपाक' कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन के **'पीलुपाक' सिद्धान्त के अनुसार** 'पाकज' गुण परमाणुओं में उत्पन्न होते हैं, अविभक्त सम्पूर्ण घट पिण्ड में नहीं। घड़े के परमाणुओं में श्याम रूप का नाश होकर रक्त रूप की उत्पत्ति हो सके इसके लिए प्रत्येक परमाणु के बीच अग्नि का प्रवेश आवश्यक है। अतएव वैशेषिक की प्रक्रिया में पकते समय घड़े के परमाणुओं के घटारम्भक संयोग का नाश होकर उसके परमाणु अलग अलग हो जाते हैं। तब उन विभक्त परमाणुओं में श्याम रूप का नाश होकर नए रक्त रूप की उत्पत्ति होती है। और फिर वह रक्त परमाणु मिलकर घट को पुन: निर्मित करते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार घड़े के पकते समय अग्नि के

भीतर एक बार कच्चे घड़े के सब परमाणु अलग अलग हो जाते हैं अर्थात् घट का नाश हो जाता है। फिर उन विभक्त परमाणुओं में 'पाकज' रक्त रूप की उत्पत्ति हो जाने के बाद, प्राणियों के अदृष्ट के द्वारा फिर उन रक्त परमाणुओं के संयोग से रक्त घट की उत्पत्ति होती है। इसी का नाम 'पीलुपाक' अर्थात् परमाणुओं का पाक है। इस सिद्धान्त में जो घड़े का नाश और उत्पत्ति मानी है उसका अर्थ केवल इतना ही है कि जब घड़ा अग्नि में रखा जाता है तब उसके परमाणुओं के बीच किसी प्रकार का रिक्त स्थान नहीं होता है, वे एक दूसरे से बिल्कुल संयुक्त होते हैं। परन्तु जब उनके बीच अग्नि का प्रवेश होता है, तो उनमें कुछ थोड़ी सी जगह हो जाती है जिसके कारण उनके बीच अग्नि को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है। इसी अन्तर या विभाग को घट का नाश कहा जा सकता है, और रक्त रूप उत्पन्न होने के बाद घड़े के ठण्डे होते समय जैसे जैसे अग्नि उनके बीच से निकलता जाता है वे परमाणु फिर पूर्ववत् मिलते जाते हैं। इसी पुनः संयोग के द्वारा घट का पुनर्निर्माण होता है। यही वैशेषिक दर्शन की 'पीलुपाक' की प्रक्रिया है।

इस 'पीलुपाक' सिद्धान्त का उपपादन वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में किया गया है और न्याय के पिठरपाक सिद्धान्त का खण्डन यह कहकर किया गया है कि कार्यद्रव्य अर्थात् घट के पिण्ड में ही पाकज रूप आदि गुणों का उत्पत्ति और विनाश सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि घट का पिण्ड अग्नि में ज्यों का त्यों बना रहे, तो उसके भीतर के अवयवों में अग्नि का प्रवेश नहीं हो सकेगा इसलिए भीतर के अवयव रक्त नहीं होने चाहिए। परन्तु घड़े को तोड़ने पर उसके भीतर के अवयव भी लाल दिखाई देते हैं। घड़े के अविकल रूप में बने रहने से भीतर के अवयव में अग्नि का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इसलिए उसमें श्याम रूप का नाश और रक्त रूप की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि परमाणुओं के भीतर अग्नि का प्रवेश हो जाने से घट में ही पाकज गुणों की उत्पत्ति हो सकती है, तो 'पीलुपाकवादी' इसी की घटादि कार्य द्रव्य का नाश कहता है। क्योंकि तेज संयोग से पहिले घट के परमाणुओं में तनिक भी अन्तर या अवकाश नहीं है। बाद में अग्नि का संयोग होने पर उसके संयुक्त परमाणुओं में थोड़ा-सा विभाग हो जाता है। 'पीलुपाकवादी' वैशेषिक इससे ही द्रव्यारम्भक संयोग का नाश, और उसके कारण, घट आदि द्रव्य का नाश मान लेता है। न्याय के पिठरपाक सिद्धान्त के अनुसार पाक के पूर्व, घट के परमाणुओं में इतना अन्तर नहीं रहता है कि उनके भीतर अग्नि प्रवेश कर सके। जब अग्नि के संयोग से वह परमाणु इतने विभक्त हो जाते हैं कि उनमें अग्नि को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है तो वैशेषिक मत में घट के अवयवों का वह विभाग ही घट का विनाश कहलाता है। इसलिए 'पिठर' अर्थात् पिण्ड में नहीं, अपितु 'पीलु' अर्थात् परमाणु में ही पाक होता है :-

पार्थिवपरमाणुरूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम्। घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते। तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुष्वसंयोगादौष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां विनाशः।

पुनरन्यस्मादग्नि–संयोगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजा जायन्ते। तदनन्तरं भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात् पाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगात् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते। तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः।

न च कार्यद्रव्य एव रूपाद्युत्पत्तिर्विनाशो वा सम्भवति, सर्वावयवेषु अन्तर्बहिश्च वर्तमानस्याग्निना व्याप्त्यभावात्। अणुप्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति, कार्यद्रव्यविनाशादिति। (प्रशस्तपादभाष्य, गुण प्रकरण)

परन्तु 'पिठरपाकवादी' नैयायिक परमाणुओं के बीच अग्नि का प्रवेश मानने पर भी उसे द्रव्य का नाश नहीं कहता है। उसे द्रव्यनाश कहने से उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया का गौरव व्यर्थ ही मानना होता है। अतः वह 'पिठर' अर्थात् 'पिण्ड' में ही पाक मानता है। यही इन दोनों सिद्धान्तों का भेद है।

तर्कदीपिका

पाकजमिति। पाकस्तेजःसंयोगः। तेन पूर्वरूपं नश्यति, रूपान्तरमुत्पद्यत इत्यर्थः। अत्र परमाणुष्वेव पाकः, न द्व्यणुकादौ। आमपाकनिक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः। तत्र परमाणवः समवायिकारणम्। तेजःसंयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादिकं निमित्तकारणम्। द्व्यणुकादिरूपे कारणरूपसमवायिकारणम् इति पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः। पूर्वघटस्य नाशं विनैवावयविन्यवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु च युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः अत एव पार्थिवपरमाणुषु रूपादिकमनित्यमित्यर्थः॥ अन्यत्रेति। जलादावित्यर्थः। नित्यगतमिति। परमाणुगतमित्यर्थः॥ अनित्यगतमिति। द्व्यगुकादिनिष्ठमित्यर्थः। रूपादिचतुष्टयमुद्भूतं प्रत्यक्षमनुद्भूतमप्रत्यक्षम्। उद्भूतत्वं प्रत्यक्षप्रयोजको धर्मः। तदभावोऽनुद्भूतत्वम्॥

संख्यायाः किं लक्षणम्, कुत्र च सा वर्तते?

२४. एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्राऽनित्यमेव।

एकत्व इत्यादि व्यवहार के असाधारण कारण को संख्या कहते हैं। वह नव द्रव्यों में रहती है। एक से लेकर परार्ध तक उसकी सीमा है। एकत्व नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। नित्य (परमाणु आदि) में रहने वाला एकत्व नित्य है। अनित्य (घट आदि) में रहने वाला एकत्व अनित्य है। द्वित्वादि संख्याएँ तो सर्वत्र अनित्य ही है।

आशा 'यह एक है, ये दो हैं, ये तीन हैं' इत्यादि व्यवहार जिस गुण से उत्पन्न हों, वही 'संख्या' है। यह एकत्व और द्वित्वादि से लेकर परार्द्ध पर्यन्त अनन्त प्रकार की है। इनमें

एकत्व संख्या की नित्यता और अनित्यता उसके आश्रय की नित्यता और अनित्यता के अनुसार होती है। घट अनित्य है अत: उसमें रहने वाली एकत्व संख्या भी अनित्य है, आकाश नित्य है, अत: उसमें रहने वाली एकत्व संख्या भी नित्य है, किन्तु द्वित्वादि सभी संख्यायें अनित्य ही हैं, चाहे उनके आश्रय नित्य हों या अनित्य। क्योंकि इन संख्याओं के व्यवहार करने वाले पुरुषों की बुद्धि से इनकी उत्पत्ति होती है। जिस घट में पट को साथ लेकर कोई पुरुष द्वित्व का व्यवहार करता है, उसी घट में पट और दण्ड को साथ लेकर कोई तीसरा पुरुष त्रित्व का व्यवहार भी करता है। द्वित्व को दृष्टान्त रूप में लेकर समझने में सरलता होगी। जब किसी पुरुष को दो घटों में प्रत्येक में 'यह एक है, यह एक है' इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है, तभी दो एकत्वों की उक्त बुद्धि से उक्त दोनों घटों में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अनेक एकत्व विषयक बुद्धि की 'अपेक्षा' द्वित्व की उत्पत्ति में है, अत: उक्त बुद्धि को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं। सभी बुद्धियाँ क्षणिक हैं, अत: अपेक्षा बुद्धि भी क्षणिक ही है। अत: उनसे उत्पन्न होने वाली द्वित्वादि सभी संख्यायें अनित्य हैं।

द्वित्व के ज्ञान को वैशेषिक दर्शन के ज्ञान की कसौटी माना गया है- प्रशस्तपादभाष्य में प्रदर्शित **द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया** में सात क्षण और उसके विनाश की प्रक्रिया में नौ क्षण लगते हैं। द्वित्व की उत्पत्ति 'अपेक्षा-बुद्धि' से और उसका विनाश 'अपेक्षा-बुद्धि' के विनाश से होता है।

द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया – प्रथम क्षण में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है। द्वितीय क्षण में दोनों घटों में रहने वाले 'एकत्व-सामान्य' का ज्ञान होता है। तृतीय क्षण में उन दोनों को ग्रहण करने वाली 'अयम् एक:, अयम् एक:' इस प्रकार की 'अपेक्षा बुद्धि' उत्पन्न होती है। चतुर्थ क्षण में इस अपेक्षा-बुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है। पञ्चम क्षण में उस द्वित्व में रहने वाली 'द्वित्वत्व' जाति का ग्रहण होता है। छठे क्षण में द्वित्व का ज्ञान होता है और सातवें क्षण में द्वित्व से विशिष्ट 'द्वे द्रव्ये' इस प्रकार का द्रव्य ज्ञान होता है। इस प्रकार द्वित्व की उत्पत्ति-प्रक्रिया में अर्थात् 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति में सात क्षण लगते हैं।

द्वित्वविनाश की प्रक्रिया – इसी प्रकार द्वित्व के नाश की प्रक्रिया में नौ क्षण लगते हैं। द्वित्व के नाश का एक कारण तो 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश है और दूसरा कारण 'आश्रय द्रव्य' का नाश भी है। उसमें 'अपेक्षा बुद्धि' के नाश से 'द्वित्व' के नाश की प्रक्रिया इस प्रकार है:-ज्ञान क्षणिक है इसलिए एक समय में दो ज्ञान 'अविनश्यत्-अवस्था' में नहीं रह सकते हैं, और न दो ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए उत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रियसन्निकर्ष से द्वितीय क्षण में 'एकत्व-सामान्य' ज्ञान की उत्पत्ति, तृतीय क्षण में 'अपेक्षा बुद्धि' की उत्पत्ति, और चतुर्थ क्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' से द्वित्व की उत्पत्ति ऊपर दिखलाई थी। जिस चतुर्थ क्षण में 'द्वित्व' की उत्पत्ति होगी उसी समय 'अपेक्षा-बुद्धि' से 'एकत्व सामान्य-ज्ञान' का नाश होगा। उसके बाद पञ्चम क्षण में 'द्वित्व-सामान्य-ज्ञान' उत्पन्न होता है। उस 'द्वित्व-सामान्य-ज्ञान' से 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होता है जो अगले अर्थात् षष्ठ क्षण में होता है। उस षष्ठ क्षण में 'द्वित्वगुणबुद्धि' उत्पन्न होती है। इस प्रकार

'द्वित्वगुणबुद्धि' के उत्पन्न होने के समय अर्थात् षष्ठ क्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होता है और अगले सप्तम क्षण में जबकि 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान उत्पन्न होता है उसके पूर्व 'अपेक्षा बुद्धि' का नाश हो चुकने से द्वित्व का नाश और 'द्वे द्रव्ये' इस बुद्धि की उत्पत्ति, दोनों एक साथ सप्तम क्षण में होती है। इसके बाद अष्टम क्षण में संस्कार से 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का भी नाश हो जाता है। किस किस क्षण में किस किस की उत्पत्ति और विनाश होता है इसको इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :-

प्रथम क्षण में - इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है।

द्वितीय क्षण में - 'एकत्व-सामान्य-ज्ञान' उत्पन्न होता है।

तृतीय क्षण में - एकत्वोभयगोचरा मतिः, अर्थात् 'अयमेकः, अयमेकः' इस प्रकार की 'अपेक्षा-बुद्धि' उत्पन्न होती है।

चतुर्थ क्षण में - १. द्वित्वोत्पत्तिः। २. एकत्वसामान्यज्ञान का नाश। ३. द्वित्व-सामान्यज्ञान की उत्पद्यमानता - ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

पञ्चम क्षण में - १. द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति। २. 'अपेक्षा-बुद्धि' की विनश्यमानता ३. द्वित्वगुण बुद्धि की उत्पद्यमानता - ये तीनों बातों एक साथ होती हैं।

षष्ठ क्षण में - १. द्वित्वगुणबुद्धि की उत्पत्ति। २. अपेक्षा-बुद्धि का नाश, ३. 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पद्यमानता - ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

सप्तम क्षण में - १. 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की उत्पत्ति। २. द्वित्व का विनाश। ३. द्वित्वगुण बुद्धि की विनश्यमानता - ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

अष्टम क्षण में - १. संस्कार की उत्पत्ति। २. द्वित्वगुणबुद्धि का विनाश और 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की विनश्यमानता - ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

नवम क्षण में - 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का संस्कार से विनाश हो जाता है।

इस प्रकार अपेक्षा बुद्धि के नाश से जहाँ द्वित्व का विनाश होता है उसकी यह नौ क्षण की प्रक्रिया दिखाई है। इसके अतिरिक्त कहीं **आश्रय-नाश से भी द्वित्व का नाश** होता है। उसकी प्रत्येक क्षण की प्रक्रिया निम्न प्रकार है :-

प्रथम क्षण में - एकत्वाधार घटादि के अवयवों में कर्म की उत्पत्ति होती है और उसी समय एकत्व सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

द्वितीय क्षण में - कर्म से अवयवों के विभाग की उत्पत्ति और उसी समय एकत्व सामान्य ज्ञान से 'अपेक्षा बुद्धि' की उत्पत्ति होती है।

तृतीय क्षण में - विभाग से द्रव्यारम्भक संयोग का नाश और उसी समय 'अपेक्षा बुद्धि' से द्वित्व की उत्पत्ति होती है।

चतुर्थ क्षण में - द्रव्यारम्भक संयोग के नाश से द्रव्य का नाश और उसी समय द्वित्व सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

पञ्चम क्षण में - आश्रयद्रव्य के ज्ञान से द्वित्व का नाश और उसी समय द्वित्वसामान्यज्ञान से 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होता है।

इस प्रक्रिया से पञ्चम क्षण में एक ओर आश्रय द्रव्य के नाश से द्वित्व का नाश हो जाता है, दूसरी ओर उसी क्षण में द्वित्व सामान्य ज्ञान से 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश हो जाता है। इस स्थिति में 'अपेक्षा-बुद्धि' तथा 'द्वित्व' दोनों का नाश एक ही क्षण में होने से उन दोनों में कार्य-कारण-भाव नहीं कहा जा सकता है, अर्थात् वह द्वित्व का नाश 'अपेक्षा-बुद्धि' के नाश से नहीं अपितु आश्रय द्रव्य के नाश से होता है।

एक क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में जिस वस्तु का नाश हो, उसे ही वैशेषिक लोग 'क्षणिक' कहते हैं। किन्तु अपेक्षाबुद्धि का क्षणिकत्व उक्त क्षणिकत्व से थोड़ा सा भिन्न है। अपेक्षाबुद्धि की एक क्षण में उत्पत्ति उसके बाद दो क्षणों तक उसकी स्थिति और चौथे क्षण में विनाश मानना होगा, अतः अपेक्षाबुद्धि का क्षणिकत्व चतुर्थ क्षण में नष्ट होना है। यदि ऐसा न मानकर अपेक्षाबुद्धि का भी और बुद्धियों की तरह तीसरे ही क्षण में विनाश मानें? तो उससे उत्पन्न होने वाले द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि वर्तमान विषयों का ही प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष के प्रति विषय कारण है। तदनुसार द्वित्व विषयक प्रत्यक्ष के प्रति भी द्वित्व कारण है। यदि द्वित्व के कारणीभूत उक्त अपेक्षाबुद्धि की सत्ता तीन क्षणों तक न मानें तो द्वित्व जनित उक्त प्रत्यक्ष अनुपपन्न हो जायगा। द्वित्व प्रत्यक्ष की रीति यह है कि द्वित्व के आश्रयीभूत दोनों व्यक्तियों में अलग-अलग 'अयमेकः, अयमेकः' इत्यादि आकार की अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। इस अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है फिर द्वित्व में विशेषणीभूत द्वित्वत्व विषयक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। इसके बाद द्वित्व का विशिष्टप्रत्यक्ष होता है। उसके बाद के क्षण में द्वित्व का विनाश होता है। क्योंकि विशिष्टज्ञान के लिए पहिले विशेषण का ज्ञान आवश्यक है, अतः द्वित्वत्व विशिष्ट द्वित्व के प्रत्यक्ष के लिए द्वित्वत्व का निर्विकल्पक ज्ञान मानना आवश्यक है। यदि उक्त अपेक्षाबुद्धि की और साधारण ज्ञानों की तरह दूसरे क्षण तक ही स्थिति मानें, तो द्वित्व की उत्पत्ति के आगे के क्षण में ही अपेक्षाबुद्धि का विनाश हो जाएगा। अतः जिस क्षण में द्वित्वत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा गया है, उसी क्षण में अपेक्षाबुद्धि का विनाश होगा। फिर उसके आगे के क्षण में द्वित्व के सविकल्पक प्रत्यक्ष की अपेक्षा द्वित्व का ही नाश हो जाएगा। क्योंकि अपेक्षाबुद्धि का विनाश ही द्वित्व का विनाशक है। फिर द्वित्व विनाश के बाद द्वित्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के अव्यवहित पूर्वक्षण में विषय का रहना आवश्यक है। अतः अपेक्षाबुद्धि का विनाश और बुद्धियों की तरह तीसरे क्षण में न मानकर उत्पत्ति के चौथे क्षण में मानना पड़ता है।

पदकृत्यम्

एकत्वादिति। एकत्वमित्यादिर्यो व्यवहारः एको द्वावित्याद्यात्मकस्तस्य हेतुः सङ्ख्या इत्यर्थः। घटादिवारणाय एकत्वादीति। कालादिवारणायासाधारणेत्यपि देयम्। ननु सङ्ख्याया अवधिरस्ति न वेत्यत आह-एकत्वादीति। तथा च-

एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च॥

वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम्॥
इति महदुक्तेः परार्धपर्यन्तैव संख्या इति भावः।

एकत्व आदि व्यवहार के हेतु को संख्या कहते हैं। घटादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए व्यवहार में एकत्व विशेषण दिया क्योंकि घटादि भी व्यवहार का कारण है। काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए हेतु में असाधारण पद देना चाहिये क्योंकि काल कार्य मात्र के प्रति साधारण कारण है। संख्या में अवधि बताते हुए पूर्व पुरुषों ने कहा है कि दश वृद्धि के अनुसार परार्ध तक संख्याएँ हैं। जैसे एक, दस, सौ, हजार, अयुत, लक्ष, नियुत, कोटि, अर्बुद, वृन्द, खर्व, निखर्व, शंख, पद्म, सागर, अन्त्य, मध्य और परार्ध।

तर्कदीपिका

संख्यां लक्षयति – एकत्वेति॥

परिमाणस्य किं लक्षणं, के च तस्य भेदाः?

२५. मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम्। नवद्रव्यवृत्ति। तच्चतुर्विधम्अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं चेति।

माप व्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। यह नव द्रव्यों में रहता है। वह चार प्रकार का है:- अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व।

आशा भारी और हल्का तथा लम्बा और चौड़ा ये व्यवहार जिस गुण के कारण होते हैं उस गुण का नाम है- परिमाण। यह गुण इन व्यवहारों का असाधारण निमित्त कारण होता है। परिमाण के जिस स्वरूप से 'भारी और हल्का' व्यवहार होता है उसके दो भेद हैं- अणुपरिमाण तथा महत्परिमाण, और परिमाण के जिस स्वरूप से 'लम्बा और चौड़ा' व्यवहार होता है उसके भी दो भेद हैं- ह्रस्व परिमाण तथा दीर्घ परिमाण। इनकी भी नित्यता व अनित्यता अपने आश्रय की नित्यता व अनित्यता के अधीन है अर्थात् नित्य द्रव्य में रहने वाला परिमाण नित्य होता है और अनित्य द्रव्य में रहने वाला अनित्य। अनित्य परिमाण तीन कारणों से उत्पन्न होता है- (१) अवयवों के परिमाण से (२) अवयवों की संख्या से (३) (अवयवों के प्रशिथिल संयोग रूप) प्रचय से। इन्हीं को 'परिमाणयोनि', 'संख्यायोनि' तथा 'प्रचययोनि' परिमाण कहा जाता है। जैसे द्व्यणुक का जन्य अणु परिमाण संख्यायोनि अर्थात् संख्याकारणक है क्योंकि वह ईश्वर की 'अपेक्षा बुद्धि' से जन्य परमाणुगत द्वित्व संख्या से उत्पन्न होने के कारण 'संख्या योनि' अर्थात् संख्याकारणक है। और त्र्यणुक का महत् परिमाण अपने (अर्थात् त्र्यणुकगत परिमाण के आश्रय) अर्थात् त्र्यणुक के समवायिकारण द्व्यणुक में विद्यमान बहुत्व संख्याजन्य होने से 'संख्या-योनि' है। चतुरणुक आदि का परिमाण तो अपने परिमाण के आश्रय चतुरणुक आदि के समवायि कारण त्र्यणुक आदि के परिमाण से उत्पन्न होता है। अतएव वह चतुरणुकादि का परिमाण 'परिमाण योनि' परिमाण है। अन्य उदाहरण यथा दोनों कपालों के परिमाण से घट में परिमाण की उत्पत्ति होती है। किन्तु उसी परिमाण

के तीन कपालों से जिस घट की उत्पत्ति होगी, उस घट का परिमाण दो कपालों से उत्पन्न घट के परिमाण से भिन्न होगा। इस विलक्षण परिमाण का कारण तीनों कपालों का परिमाण नहीं हो सकता, क्योंकि इन तीनों कपालों का परिमाण भी पहिले घट के उत्पादक दोनों कपालों के समान ही है। अत: उक्त तीन कपालों से उत्पन्न घट में जो उक्त दोनों कपालों से उत्पन्न घट के परिमाण से विलक्षण परिमाण उपलब्ध होता है, उसका कारण कपालों की त्रित्व संख्या ही है। इस प्रकार संख्या में स्वीकृत परिमाण की कारणता के अनुसार ही अणु परिमाणों में किसी भी वस्तु की कारणता को अस्वीकार करना वैशेषिकों के लिए संभव होता है। वैशेषिकों के सिद्धान्त के अनुसार अणुपरिमाण किसी का भी कारण नहीं हैं। परमाणुओं के परिमाण और द्व्यणुकों के परिमाण ही अणुपरिमाण हैं।

परमाणु का अथवा द्व्यणुक का अणु परिमाण किसी परिमाण का आरम्भक या कारण नहीं होता है। क्योंकि परिमाण के विषय में यह नियम है कि परिमाण 'स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाण' का आरम्भक होता है। जैसे तन्तु का महत् परिमाण है। उससे जो पट का परिमाण उत्पन्न होता है, वह तन्तु के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट अर्थात् 'महत्तर' परिमाण है। तन्तु के महत् परिमाण से उसके समानजातीय और उत्कृष्ट अर्थात् महत्तर परिमाण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार यदि परमाणु के अणु परिमाण को द्व्यणुक के परिमाण का कारण माना जाय तो वह अणु परिमाण द्व्यणुक में अपने समानजातीय उत्कृष्ट अर्थात् 'अणुतर' परिमाण को उत्पन्न करने लगेगा। परन्तु अणु परिमाण तो वही कहलाता है जिसके आगे और 'अणुतर' कोई न हो। इसलिए अणु परिमाण को द्व्यणुक के परिमाण का कारण मानना युक्ति-सङ्गत नहीं है। इसीलिए द्व्यणुक के अणु परिमाण को 'संख्यायोनि' परिमाण माना है। अर्थात् दो परमाणुओं में रहनेवाली द्वित्व संख्या से द्व्यणुक का अणु परिमाण उत्पन्न होता है। द्वित्व संख्या भी अनित्य और अपेक्षा बुद्धि से जन्य है परन्तु परमाणुओं के विषय में अस्मदादि की 'अपेक्षा-बुद्धि' काम नहीं दे सकती है क्योंकि परमाणु अस्मदादि के अनुभव के विषय नहीं है। इसलिए परमाणुओं में जो द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है वह ईश्वर की 'अपेक्षाबुद्धि' से उत्पन्न होती है। और उस द्वित्व संख्या से द्व्यणुक में 'संख्यायोनि' अणु परिमाण उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार त्र्यणुक का 'महत् परिमाण' भी 'संख्यायोनि' परिमाण माना गया है। क्योंकि वह 'परिमाणयोनि' अथवा 'प्रचययोनि' नहीं हो सकता है। त्र्यणुक के परिमाण को यदि 'संख्यायोनि' परिमाण मानें तो उसे 'परिमाणयोनि' परिमाण मानना होगा। अर्थात् उसकी उत्पत्ति द्व्यणुक के अणु परिमाण से माननी होगी। परन्तु अभी दिखा चुके हैं कि परिमाण के स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाण के आरम्भक होने का नियम होने से द्व्यणुक का अणु परिमाण यदि त्र्यणुक में किसी परिमाण को उत्पन्न कर सकता है तो केवल 'स्वसमानजातीय उत्कृष्ट' अर्थात् 'अणुतर' परिमाण को ही उत्पन्न कर सकता है परन्तु 'अणुतर' परिमाण की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। और त्र्यणुक में महत् परिमाण रहता है, इसलिए त्र्यणुक का 'महत्'

परिमाण 'परिमाणयोनि' नहीं अपितु द्व्यणुकनिष्ठ बहुत्व-संख्याजन्य होने से 'संख्यायोनि' परिमाण है शेष जन्य महत् परिमाण 'परिमाणयोनि' परिमाण होते हैं। जन्य महत् परिमाण के अतिरिक्त नित्य महत् परिमाण भी होता है जिसे 'परम महत्' परिमाण कहते हैं और वह आकाशादि विभु पदार्थों में रहता है।

'प्रचय' भी परिमाण का कारण है। इसी से सेर भर लोहे की लम्बाई चौड़ाई और सेर भर रुई की लम्बाई चौड़ाई में अन्तर उपलब्ध होता है। यह अन्तर अवयवों के परिमाण या अवयवों की संख्या से उपपन्न नहीं हो सकते। कथित लौहपिण्ड और तुलपिण्ड के अवयवों की संख्या और परिमाण समान हैं। अतः उक्त अन्तर की उपपत्ति के लिय ही कल्पना करनी चाहिए कि लोहे के अवयवों के संयोग संघटित हैं और रूई के अवयवों के संयोग शिथिल (ढीले) हैं। अवयवों के इस शिथिल संयोग को ही 'प्रचय' कहते हैं।

यहाँ 'अणु' और 'महत्' दो प्रकार के परिमाणों का वर्णन किया है और उन दोनों के नित्य तथा अनित्य दो दो भेद किए हैं। इनके अतिरिक्त 'दीर्घ' और 'ह्रस्व' ये दो परिमाण और भी दिखाए हैं। ये 'दीर्घ' और 'ह्रस्व' परिमाण जन्य महत् तथा 'अणु' परिमाण के साथ ही रहते हैं। अर्थात् जहाँ जन्य 'अणु' परिमाण रहता है वहाँ 'ह्रस्व' और जहाँ जन्य 'महत्' परिमाण रहता है वहाँ 'दीर्घ' व्यवहार होने से ये दोनों परिमाण अलग कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं।

पदकृत्यम्

मानेति। मानं परिमितिस्तस्या यो व्यवहारः-इदं महदिदमणु-इत्याद्यात्मकः तस्य कारणं परिमाणमित्यर्थः। दण्डादिवारणाय मानेति। कालादिवारणाया-साधारणेति। शब्दत्ववारणाय कारणमिति। नवद्रव्येति। चतुर्विधमपि परमध्यभेदेन द्विविधम्। तत्र परमाणुह्रस्वत्वे परमाणुमनसोः। मध्यमाणुह्रस्वत्वे द्व्यणुके। परममहत्त्वदीर्घत्वे गगनादौ। मध्यममहत्त्वदीर्घत्वे घटादौ। एतन्मौक्तिकमण्विति व्यवहारस्यापकृष्टमहत्त्वाश्रयत्वाद् गौणत्वं बोध्यम्। एवमेव केतनाद्व्यजनं ह्रस्वमित्यत्रापि निकृष्टदीर्घत्वाद् गौणत्वम्॥

मान परिमाण को कहते हैं। जिससे कोई वस्तु नापी जाय। इस मान से यह बड़ा है, यह छोटा है इत्यादि व्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। व्यवहार के आसाधारण कारण दण्ड में अतिव्याप्ति वारण के लिये 'मान' पद दिया है। काल के कार्य मात्र के प्रति कारण होने से उसमें अतिव्याप्ति निवारणार्थ असाधारण पद दिया है। मान व्यवहार की शब्दत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिये 'कारण' पद दिया है। परिमाण चार प्रकार के होते हुए भी पर और मध्य भेद से दो-दो प्रकार के हैं :- परमअणुत्व, मध्यमअणुत्व, परममहत्त्व, मध्यममहत्त्व, परमदीर्घत्व, मध्यमदीर्घत्व, परमह्रस्वत्त्व, मध्यमह्रस्वत्व इस प्रकार परिमाण के आठ भेद हो जाते हैं। परमाणु तथा मन में परमाणु ह्रस्वत्व है। द्व्यणुक में मध्यमाणु ह्रस्वत्व है। गगन में परम महत्त्व दीर्घत्व है। घट आदि में मध्यम महत्त्व दीर्घत्व है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'इस मोती से यह मोती अणु है' यह व्यवहार निकृष्ट महत्त्व का आश्रय है। यहाँ अणु शब्द से परमाणु का बोध नहीं मानना चाहिये क्योंकि यहाँ अणु शब्द गौण है। इसी प्रकार 'केतन से व्यञ्जन ह्रस्व है' यह व्यवहार निकृष्ट दीर्घता बताने वाला गौण है। (इसमें अणु और महत् ये तौल के लिये हैं। दीर्घ और ह्रस्व यह माप के लिये है।)

तर्कदीपिका

परिमाणं लक्षयति – मानेति। परिमाणं विभजत–तदिति। भावप्रधानो निर्देशः। अणुत्वं महत्त्वं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः॥

पृथक्त्वस्य किं लक्षणम्?

२६. पृथग्व्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम्। सर्वद्रव्यवृत्ति।

पृथक् इस व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। यह समस्त द्रव्यों में रहता है।

आशा घट पट से पृथक् है (अयमस्मात् पृथक्) इस आकार की प्रतीति जिस गुण से हो उसे 'पृथक्त्व' कहते हैं। यह भिन्न द्रव्यों में एक दो या इनसे अधिक द्रव्यों को अवधि मानकर शेष द्रव्यों में रहता है। इस प्रकार यह भेद या अन्योन्याभाव्र सा ही दीखता है। क्योंकि अपने में अपना भेद भी नहीं रहता और पृथक्त्व भी अपने में अपना भेद नहीं रखता और जहाँ किसी का भेद स्वरूप अन्योन्याभाव रहता है वहाँ उसका पृथक्त्व भी रहता ही है। ऐसी परिस्थिति में पृथक्त्व को अन्योन्याभाव न मानकर एक स्वतंत्र गुण क्यों माना जाय? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 'घटः पटात् पृथक्' घट पट से पृथक् है इस प्रकार प्रतीति एवं प्रामाणिक व्यवहार दोनों ही होते हुये पाये जाते हैं किन्तु 'घटः पटात् न' इस प्रकार प्रतीति न तो होती है और न ही ऐसा व्यवहार होता है। यह प्रतीति एवं व्यवहारगत अंतर बतलाता है कि पृथक्त्व और अन्योन्याभाव ये दोनों एंक नहीं हैं। पृथक् पद से पृथकत्व समझा जाता है और 'न' से अन्योन्याभाव। इन दानों की वाच्य वस्तुओं में अंतर न मानने पर वाचक शब्द में इस तरह का अंतर होना असंभव होगा कि पृथक् पद के पूर्व में प्रयुक्त होने वाला नाम पद पंचमी विभक्त्यन्त होगा नहीं। अतः पृथक्त्व को गुण ही मानना उचित है। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि 'एकं रूपं रसात् पृथक्' इस प्रकार रूप गुण में रसावधिक पृथकत्व गुण कैसे प्रतीति हो पायेगा? क्योंकि गुण में तो गुण रहता नहीं? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि गुणों में गुण की प्रतीति एकार्थ–समवाय संबंध से हुआ करती है। इन दोनों के अन्तर को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि अन्योन्याभाव की प्रतीति का आकार 'घटभिन्नः पटः' इत्यादि प्रकार के होते हैं, अतः भेद से पृथकृत्व भिन्न है। अर्थात् भेद की प्रतीति के अभिलाषक वाक्य में प्रयुक्त प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों के लिए प्रथमान्त पद का ही प्रयोंग होता है। किन्तु पृथकृत्व की प्रतीति के लिए उनमें से अवधिभूत एक अर्थ का पञ्चम्यन्त पद से उपादान किया जाता है।

पदकृत्यम्

पृथगिति। अयमस्मात्पृथगिति यो व्यवहारस्तस्य कारणं पृथक्त्वमित्यर्थः। दण्डादिवारणाय पृथगित्यादि। कालादिवारणायासाधारणेति। पृथग्व्यवहारत्ववारणाय कारणमिति॥

यह इससे पृथक् है। इस प्रकार के व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। व्यवहार का असाधारण कारण दण्ड भी है, अतः उसमें अतिव्याप्ति वारण के लिये पृथक् पद दिया है। कार्यमात्र के साधारण कारण काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए असाधारण पद है। कारणपद न देने पर पृथग्व्यवहार का असाधारण धर्म जो पृथग्व्यवहारत्व है, उसमें अतिप्रसङ्ग हो जायगा। पृथक् व्यवहारत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिए कारण पद है।

तर्कदीपिका

पृथक्त्वं लक्षयति – पृथगिति। 'इदमस्मात् पृथक्' इति व्यवहारकारणमित्यर्थः॥

संयोगस्य किं लक्षणम्?

२७. संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

'ये संयुक्त हैं' इस व्यवहार के कारण को संयोग कहते हैं। यह नव द्रव्यों में रहता है।

आशा 'यह इससे संयुक्त है' इस प्रकार के संयुक्त व्यवहार का हेतु-भूत गुण 'संयोग' है। यह दो पदार्थों में रहने वाला और अव्याप्यवृत्ति (रूपादि गुणों के समान सारे पदार्थ में व्याप्त न होकर उसके केवल एक देश में रहनेवाला) होता है। यह तीन प्रकार का होता है १. **अन्यतरकर्मज** २. **उभयकर्मज** और ३. **संयोगज-संयोग**। इनमें अन्यतर-कर्मज अर्थात् संयुक्त होने वाले पदार्थों में से किसी एक के कर्म से उत्पन्न हुए संयोग का उदाहरण जैसे क्रियावान् अर्थात् उड़कर आए हुए श्येन पक्षी (बाज) के साथ निष्क्रिय स्थाणु (वृक्ष के ठूंठ) का संयोग। इस स्थाणु तथा श्येन के संयोग का समवायिकारण तो वे दोनों ही हैं परन्तु इसका असमवायिकारण श्येन की क्रिया है। उभयकर्मज संयोग का उदाहरण जैसे सक्रिय दो पहलवानों का संयोग। दोनों पहलवान इधर उधर से आकर भिड़ जाते हैं, उनका संयोग दोनों में होने वाली क्रिया से होने के कारण 'उभयकर्मज' संयोग है। संयोगज संयोग का उदाहरण जैसे हाथ और पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का संयोग। हाथ और पुस्तक का संयोग होने से शरीर का पुस्तक के साथ संयोग होता है यह संयोगज संयोग ही है।

वैशेषिकों के सिद्धान्त में अवयव और अवयवी परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। अतः शरीर रूप अवयवी और हाथ पैर प्रभृति अवयव परस्पर भिन्न हैं। अतः जिस प्रकार घट की क्रिया से भूतल और पट का संयोग उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार हाथ की क्रिया से शरीर और पुस्तक का संयोग भी उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु शरीर में क्रिया के न रहने पर भी

हाथ की क्रिया से पुस्तक के साथ जो हाथ और पुस्तक का संयोग उत्पन्न होता है, उसके बाद शरीर के साथ पुस्तक के संयोग की प्रतीति होती है। इस प्रतीति को झुठलाया नहीं जा सकता। अत: शरीर और पुस्तक में भी संयोग मानना पड़ेगा। किन्तु यह संयोग अगर क्रिया से उत्पन्न होगा तो पुस्तक की क्रिया या शरीर की क्रिया या फिर उन्हीं दोनों की क्रिया से उत्पन्न होगा, किन्तु न शरीर में और न पुस्तक में ही क्रिया है। अत: प्रकृत में शरीर और पुस्तक के संयोग का कारण क्रिया को नहीं माना जा सकता। किन्तु असमवायिकारण तो क्रिया या गुण इन दोनों में से ही कोई होगा। प्रकृत में क्रिया असमवायिकारण नहीं हो सकती, अत: उसके असमवायिकारण होने की बात ही नहीं उठती। अत: प्रकृत में हाथ और शरीर इन दोनों के लिए गुण रूप किसी असमवायिकारण की कल्पना आवश्यक है। यह गुण उक्त संयोग से अव्यवहित पूर्वक्षण में नियत रूप से रहने वाले हाथ और पुस्तक के संयोग को छोड़ कर दूसरा नहीं हो सकता। अत: हाथ और पुस्तक की क्रिया से उत्पन्न संयोग से ही शरीर और पुस्तक का संयोग उत्पन्न होता है। इसलिए संयोगजसंयोग का मानना आवश्यक है।

संयोग के प्रकारान्तर से (१) नोदन और (२) अभिघात दो भेद और भी हैं। जिस संयोग से शब्द की उत्पत्ति न हो उसे 'नोदन' कहते हैं और जिस संयोग से शब्द की उत्पत्ति हो उसे 'अभिघात' कहते हैं।

संयोग नित्य नहीं होता है यह सामान्य नियम है। परिमाण आदि गुण तो नित्य में रहने वाले नित्य भी होते हैं परन्तु नित्य पदार्थों में रहने वाला संयोग भी अनित्य ही होता है। जैसे नित्य परमाणु का नित्य आकाश आदि के साथ संयोग है। परन्तु वह नित्य नहीं अपितु 'अन्यतरकर्मज' है। क्योंकि परमाणु में गति है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर उस देश के आकाश से मिलता है। इसलिए परमाणु और नित्य आकाशादि, इनका संयोग 'अन्यतरकर्मज' संयोग होता है, नित्य संयोग नहीं। अब प्रश्न उठता है कि आकाश, काल आदि नित्य तथा विभु पदार्थों का संयोग नित्य है या अनित्य। इसके विषय में वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त यह है कि नित्य और विभु पदार्थों का परस्पर संयोग होता ही नहीं है। क्योंकि संयोग-सम्बन्ध 'युत सिद्ध' अर्थात् पृथक्-पृथक् रहने वाले पदार्थों का ही होता है। 'युत-सिद्धि' का अर्थ यह है कि उन दोनों पदार्थों में से दोनों अथवा कोई एक पृथक् गतिमान् हो। नित्य और विभु पदार्थों में से किसी से भी पृथग्गतिमत्त्व नहीं रहता है, इसलिए उनका संयोग होता ही नहीं है :- **नास्त्यजः संयोगः नित्यपरिमण्डलवत् पृथगनभिधानात्। ......परमाणुभिराकाशादीनां प्रदेशवृत्तिन्यतरकर्मजः संयोगः। विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति युतसिद्ध्यभावात्। सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्, पृथगाश्रयाश्रयित्वञ्चेति।** (प्रशस्तपादभाष्य, संयोगप्रकरणम्) अर्थात् अनुत्पत्तिशील संयोग कोई है ही नहीं। क्योंकि सूत्रकार ने नित्य परिमण्डल (नित्य अणुपरिमाण) की तरह नित्य संयोग का उल्लेख नहीं किया है, अर्थात् सूत्रकार ने जिस प्रकार उत्पत्तिशील चार परिमाणों के उल्लेख के बाद 'नित्यं परिमण्डलम्' इत्यादि से नित्य अणुपरिमाण का उल्लेख किया है, उसी प्रकार (अगर नित्य संयोग भी होता तो) उत्पत्तिशील अन्यतर कर्मजादि संयोगों को

कहने के बाद नित्य संयोग का भी अलग से उल्लेख अवश्य ही करते, अतः संयोग नित्य नहीं है। परमाणुओं के साथ अकाशादि के संयोग अव्याप्यवृत्ति एवं अन्यतरकर्मज ही हैं। आकाशादि विभु द्रव्यों में परस्पर संयोग हैं ही नहीं, क्योंकि उन सबों की युतसिद्धि नहीं है। दोनों (प्रतियोगी और अनुयोगी) में एक की स्वतन्त्रगतिशीलता और दोनों में से प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से किसी के आश्रय होने की या कहीं आश्रित होने की योग्यता ही 'युतसिद्धि' है।

संयोग के विनाश के दो कारण होते हैं :- प्रथम जिनका संयोग है उनमें ही विभाग गुण उत्पन्न हो जाय तो पूर्व संयोग का नाश हो जाता है। द्वितीय आश्रय के नाश से भी संयोग का नाश हो जाता है।

पदकृत्यम्

संयुक्तेति। इमौ संयुक्ताविति यो व्यवहारस्तस्य हेतुः संयोग इत्यर्थः। दण्डादिवारणाय संयुक्तव्यवहारेति। कालादिवारणायासाधारणेत्यपि देयम्। संयुक्तव्यवहारत्वेऽतिप्रसक्तिवारणाय हेतुरिति। उपदर्शितलक्षणचतुष्टयेऽसाधारणपदं देयम्। क्वचित्पुस्तके परिमाणपृथक्त्वलक्षणे ईश्वरेच्छादिवारणायासाधारणेति दृश्यते, तत्त्वाधुनिककैर्न्यस्तमिति बोध्यम्॥

'ये दोनो संयुक्त हैं' इस प्रकार का जो व्यवहार है, इस व्यवहार के असाधारण कारण को संयोग कहते हैं। व्यवहार के कारण दण्ड में अतिव्याप्ति वारण के लिए संयुक्त पद है। व्यवहार के साधारणकारण काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए असाधारण पद है। संयुक्त व्यवहारत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिए हेतु पद है अर्थात् 'संयुक्त व्यवहार' संयोग नहीं है अपितु इसका जो गुण हेतु है वह संयोग है। यह असाधारण पद पूर्वोक्त चारों लक्षणों में होना चाहिए। किसी पुस्तक के परिमाण और पृथक्त्व लक्षण में, ईश्वरेच्छा में अतिव्याप्ति वारण के लिए असाधारण पद देना चाहिए, ऐसा मिलता है परन्तु यह किसी आधुनिक व्यक्ति ने मूल पुस्तक में डाल दिया है ऐसा समझना चाहिए।

तर्कदीपिका

संयोगं लक्षयति - संयुक्तेति। 'इमौ संयुक्तौ' इति व्यवहारहेतुरित्यर्थः। संख्यादिलक्षणेषु सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणाया-साधारणेति पदं देयम्॥ संयोगो द्विविधः-कर्मजः संयोगजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकसंयोगः। द्वितीयो हस्त-पुस्तकसंयोगात् कायपुस्तकसंयोगः। अव्याप्यवृत्तिः संयोगः। स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमव्याप्यवृत्तित्वम्॥

<u>विभागस्य किं लक्षणम्?</u>

२८. संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्ति।ः

संयोग के नाशक गुण को विभाग कहते हैं। वह सब द्रव्यों में रहता है।

आशा संयोग को विनष्ट करने वाले गुण का नाम 'विभाग' है। संयोग की तरह यह भी (१) एक क्रिया से उत्पन्न (२) दो क्रियाओं से उत्पन्न और (३) विभाग से उत्पन्न भेद से तीन प्रकार का है। पर्वत से पक्षी का विभाग केवल पक्षी में रहने वाली क्रिया से ही उत्पन्न होता है। परस्पर गुथे हुए दो पहलवानों का विभाग दोनों पहलवानों में से प्रत्येक में रहने वाली अलग अलग दो क्रियाओं से उत्पन्न होता है।

संयोगजसंयोग की तरह 'विभागजविभाग' का भी मानना आवश्यक है। क्योंकि किसी व्यक्ति के हाथ का संयोग अगर किसी वृक्ष के साथ था, और हाथ की क्रिया से उस संयोग के छूट जाने पर वृक्ष से हाथ का विभाग हो जाता है, तब हाथ और वृक्ष के इस विभाग के उत्पन्न होने से वृक्ष से शरीर के विभाग की भी प्रतीति होती है। शरीर और वृक्ष का विभाग अगर क्रिया से उत्पन्न होगा तो फिर शरीर की क्रिया से या वृक्ष की क्रिया से अथवा दोनों की क्रिया से ही उत्पन्न हो सकता है। प्रकृत में क्रिया केवल हाथ में ही है, पूरे शरीर में नहीं। वृक्ष में तो है ही नहीं। हाथ अवयव है शरीर अवयवी, अतः दोनों भिन्न हैं। जिस प्रकार घट की क्रिया से जैसे कि पट और दण्ड का विभाग उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार हाथ की क्रिया से शरीर और वृक्ष का भी विभाग उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः हाथ और वृक्ष का विभाग ही शरीर और वृक्ष के विभाग का कारण है। अतः विभागजविभाग का मानना आवश्यक है। इसी हेतु से विभाग को संयोगध्वंस रूप न मानकर स्वतन्त्र गुणरूप भाव पदार्थ माना गया है। अगर ऐसा न मानें अर्थात् विभाग को संयोगध्वंस रूप ही मानें तो हाथ और तरु के विभाग के बाद जो शरीर और तरु के विभाग की प्रतीति होती है, वह न हो सकेगी, क्योंकि शरीर और तरु का विभाग शरीर और तरु के संयोग का ही विनाश रूप होगा। शरीर में क्रिया है नहीं, क्रिया है हाथ में। हाथ की क्रिया से शरीर के संयोग का विनाश कैसे होगा? हाथ की क्रिया से जिस संयोगविनाश की उत्पत्ति होगी वह तो हाथ में ही रहेगी, शरीर में नहीं। **अतः विभाग संयोग का अभाव रूप नहीं है, किन्तु गुण रूप भाव ही है।**

विभागजविभाग भी दो प्रकार का है। **(१) कारणमात्रजन्य और (२) कारणाकारणविभागजन्य**। जिस विभाग की उत्पत्ति होगी, उस विभाग के समवायिकारणीभूत द्रव्यों के ही विभाग से जो विभाग उत्पन्न हो उसे 'कारणमात्रविभागजन्य विभाग' कहते हैं। घट-नाश से लेकर उसके उत्पादक कर्मनाश (क्रिया के विनष्ट) तक के घटनाक्रम के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। उसका यह क्रम है कि पहिले घट के अवयव रूप दोनों कपालों में क्रिया (हलचल) की उत्पत्ति होती है। फिर घट के उत्पादक दोनों कपालों में विभाग उत्पन्न होता है। कपालों के इस विभाग से घट के उत्पादक कपालों के संयोग का नाश होता है। चूँकि कपालों का संयोग घट का असमवायिकारण है, अतः इसके नाश से घट का नाश होता है। तब तक कपालों में क्रिया रहती ही है। घट-नाश के बाद कर्म से युक्त उन कपालों का संयोग पहिले के जिस देश के आकाश के साथ था, उस देश से कपालों का विभाग उत्पन्न होता है। आकाश के साथ कपालों के इस विभाग का असमवायिकारण पहिले कहा गया दोनों कपालों का क्रियाजनित विभाग ही है। पूर्व देशों के आकाश से एक दूसरे से

विभक्त दोनों कपालों का यह विभाग ही "कारणमात्रविभागजन्य विभागजविभाग" है। क्योंकि इस विभाग के समवायिकारण दोनों कपाल और पूर्वदेशों का आकाश है। अतः दोनों कपाल भी इस विभाग के समवायिकारण हैं। अतः प्रकृत विभाग के समवायिकारणीभूत केवल दोनों कपालों के विभाग से ही वह उत्पन्न होता है, किसी और द्रव्यों के विभाग से नहीं। इसके बाद विभागजविभाग से कपालों का जिस पूर्वदेश के साथ पहिले संयोग था, उस संयोग का नाश होता है। फिर दूसरे देशों के आकाश (उत्तरदेश) के साथ इन विभक्त कपालों का संयोग होता है। तब कपालों की उस क्रिया का नाश होता है जिससे दोनों कपालों का विभाग उत्पन्न हुआ था।

इस प्रसङ्ग में यह भी समझना आवश्यक है कि जिस क्रिया से कपालों का परस्पर विभाग उत्पन्न होता है, उस क्रिया से ही विभक्त कपालों का पूर्वदेश के आकाश के साथ कथित विभाग की उत्पत्ति क्यों नहीं मानते? क्योंकि क्रिया में विभाग की हेतुता स्वीकृत है तथा क्रिया की सत्ता इस विभाग के कई क्षणों बाद तक रहती है। फिर विभाग में विभाग की हेतुता की नयी कल्पना क्यों की जाती है? दूसरा प्रश्न यह है कि अगर उक्त दूसरे विभाग की उत्पत्ति विभाग से ही मान भी लें तो यह पहिला विभाग दूसरे विभाग का असमवायिकारण ही होगा। असमवायिककारण का संबलन हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं रह जाती है। फिर अवयवों के विभाग के बाद ही अवयवी के नाश से पूर्व ही उक्त दूसरे देश के साथ अवयवों का (विभागज) विभाग क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता? इसके लिए घट के उत्पादक संयोग का विनाश और घट का विनाश इन दो कार्यों के लिए अपेक्षित दो क्षणों का विलम्ब सहने की क्या आवश्यकता है?

इन दोनों में प्रथम शंका का यह समाधान है कि अगर उक्त दूसरे विभाग को भी क्रियाजन्य मानें तो कमल खिलने की अपेक्षा विनष्ट ही हो जाएँगे। क्योंकि संयोग दो प्रकार का है। एक संयोग से अवयवी की उत्पत्ति होती है, जैसे दोनों कपालों का कथित संयोग। इसे 'आरम्भक' संयोग कहते हैं। क्योंकि यह संयोग घट रूप अवयवी द्रव्य का 'आरम्भक' अर्थात् 'उत्पादक' है। दूसरा संयोग है अनारम्भक संयोग, जैसे विभक्त कपालों का दूसरे देश के आकाश के साथ संयोग। इससे किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इसे 'अनारम्भक' संयोग कहते हैं। फलतः वे दोनों संयोग परस्पर विरोधी हैं, अतः एक क्रिया रूप कारण से उन दोनों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अगर इसे मानने का हठ करें तो फूलते हुए कमल के विनाश की उक्त आपत्ति होगी। क्योंकि कमल के पत्रों का ऊपर की ओर जो परस्पर संयोग है, यह कमल का उत्पादक संयोग नहीं है। उस संयोग को नष्ट करनेवाला विभाग ही कमल का फूलना है। जो सूर्य किरणों के संयोग से उत्पन्न होने वाली पत्रों की क्रिया से होती है। कमल के पत्रों का ही नीचे की ओर डण्डी के ऊपर अंश में भी परस्पर संयोग है। जो कमल का उत्पादक संयोग है। इस संयोग का विनाश उन रविकिरणों के उक्त क्रियाजनित विभाग से नहीं होता है। यदि आग्रहवश ऐसा मानें तो कमल का विनाश मानना पड़ेगा, क्योंकि अवयवों का विशेष प्रकार का संयोग ही अवयवी का उत्पादक है तथा उक्त संयोग का विनाश ही

अवयवी का विनाशक है। अतः अवयवियों के उत्पादक संयोग के विनाशक विभाग और उक्त संयोग के अविनाशक विभाग दोनों की उत्पत्ति एक क्रिया से नहीं हो सकती। अतः प्रकृत में कपालों के संयोग को नष्ट करने वाले विभाग की उत्पत्ति क्रिया से मानते हैं। और उन्हीं विभक्त कपालों का पूर्वदेशसंयोग के विनाशक विभाग की उत्पत्ति कपालों के उक्त विभाग से मानते हैं। अतः विभागजविभाग का मानना आवश्यक है।

दूसरे प्रश्न का यह समाधान है कि कथित आरम्भक संयोग के विरोधी विभाग से युक्त अवयवों का दूसरे आकाशादि देशों के साथ तब तक संयोग नहीं हो सकता जब तक की अवयवी विनष्ट नहीं हो जाता। अतः क्रिया से विभाग, विभाग से पूर्व (आरम्भक) संयोग का नाश, संयोग के इस नाश से घट का नाश जब हो जाएगा तभी घट के उत्पादक उक्त विभक्त कपालों का दूसरे देशों के साथ संयोग उत्पन्न हो सकता है। अतः उक्त रीति माननी पड़ती है।

पदकृत्यम्

संयोगेति। संयोगनाशकजनक इत्यर्थः। कालेऽतिप्रसक्तिवारणाय गुणपदम्। ईश्वरेच्छादिवारणायासाधारणेत्यपि बोध्यम्। ननु असाधारणपदोपादाने गुणपदस्य वैयर्थ्यं स्यादिति चेत्। न, क्रियायामतिप्रसक्तिवारणाय तस्याप्यावश्यकत्वात्॥

संयोगनाश के जनक गुण को विभाग कहते हैं। संयोगनाश के साधारण कारण काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए गुण पद दिया है। संयोग नाशक ईश्वरेच्छा में अतिव्याप्ति के वारण के लिए असाधारण पद है। असाधारण पद देने से ही काल में अतिव्याप्ति निवारण हो जायगा, अतः गुणपद व्यर्थ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संयोगनाश का असाधारण कारण क्रिया भी है, अतः उसमें अतिव्याप्ति वारण के लिये गुण पद भी आवश्यक है।

तर्कदीपिका

विभागं लक्षयति - संयोगेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय संयोगनाशक इति। विभागोऽपि द्विविधः-कर्मजो विभागजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्त-पुस्तकविभागः; द्वितीयो हस्तपुस्तकविभागात्काय-पुस्तकविभागः॥

<u>परत्वापरत्वयो किं लक्षणं, के च भेदाः?</u>

२९. पराऽपरव्यवहाराऽसाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिनी। ते च द्विविधे:-दिक्कृते, कालकृते चेति। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्, समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वं, कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

पर व्यवहार के असाधारण कारण को परत्व और अपर व्यवहार के असाधारण कारण को अपरत्व कहते हैं। ये दोनों गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहते हैं। ये

दो प्रकार के हैं :- दिक् कृत और कालकृत। दूरस्थ में दिक्कृत परत्व है और समीपस्थ में दिक्कृत अपरत्व है। ज्येष्ठ में कालकृत परत्व है, कनिष्ठ में कालकृत अपरत्व है।

आशा परत्व और अपरत्व ये दोनों ही दैशिक और कालिक भेद से दो दो प्रकार के हैं। एक वस्तु से दूसरी वस्तु की दूरी दैशिक परत्व है और एक वस्तु का दूसरे वस्तु से समीप होना दैशिक अपरत्व है। ये दोनों ही आपेक्षिक हैं, अतः अपेक्षाबुद्धि ही इनके कारण हैं और तीसरे अवधि की भी अपेक्षा होती है, जैसे कि जयपुर से उदयपुर की अपेक्षा अहमदाबाद दूर है। इसी तरह जयपुर से अहमदाबाद की अपेक्षा उदयपुर समीप है।

कालिक परत्व का ही दूसरा नाम ज्येष्ठत्व है तथा कालिक अपरत्व का ही दूसरा नाम कनिष्ठत्व है। कालिक परत्व और अपरत्व भी आपेक्षिक हैं। क्योंकि जो कोई व्यक्ति एक व्यक्ति से ज्येष्ठ होता है, वही अपने से पूर्ववर्त्ती की अपेक्षा कनिष्ठ भी होता है और जो कोई व्यक्ति एक व्यक्ति से कनिष्ठ होता है वही अपने से पश्चाद्वर्ती की अपेक्षा ज्येष्ठ भी होता है। अतः इनमें भी अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता होती है। अतः अपेक्षाबुद्धि के नाश से इनका नाश होता है। परत्व और अपरत्व दोनों ही बुद्धिसापेक्ष हैं। ये दोनों गुण प्रथम चार मूर्त, अनित्य और मध्यम परिमाण वाले पृथ्वी आदि द्रव्यों में तथा मन नामक द्रव्य में रहते हैं। मन भी चूँकि मूर्त है, इसलिए उसमें दिक्कृत, परत्व तथा अपरत्व तो रहता है किन्तु क्योंकि मन नित्य भी है, अतः उसमें कालकृत परत्व अपरत्व नहीं रहता। अन्तिम चार द्रव्य (आकाश, काल, दिशा, आत्मा) नित्य भी हैं और मूर्त नहीं हैं, अतः उनमें किसी प्रकार का परत्व, अपरत्व नहीं रहता। वस्तुतः परत्व, अपरत्व दो मूर्त पदार्थों के दिक्कृत और कालकृत सम्बन्ध हैं जो उनके गुणों के रूप में कह दिये गये हैं।

परत्व और अपरत्व इन दोनों गुणों का विनाश निम्न सात कारणों में से किसी एक कारण से होता है:- १. अपेक्षा बुद्धि के नाश से, २. संयोग के नाश से, ३. द्रव्य के नाश से, ४. द्रव्य और अपेक्षा बुद्धि दोनों के एकसाथ विनाश से, ५. द्रव्य और संयोग इन दोनों के नाश से, ६. संयोग और अपेक्षाबुद्धि इन दोनों के नाश से, ७. और अपेक्षाबुद्धि, द्रव्य एवं संयोग इन तीनों के नाश से। प्रशस्तपाद भाष्य में इन सबका सोदाहरण एवं विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

पदकृत्यम्

परेति। परव्यवहारासाधारणं कारणं परत्वम्। अपरव्यवहारासाधारणं कारणमपरत्वमित्यर्थः। दण्डादिवारणाय परव्यवहारेति। कालादिवारणाया-साधारणेति। परव्यवहारत्ववारणाय कारणेति। एवमेव द्वितीयेऽपि बोध्यम्॥

पर व्यवहार के असाधारण कारण को परत्व और अपर व्यवहार के असाधारण कारण को अपरत्व कहते हैं। व्यवहार के असाधारण कारण दण्ड में अतिव्याप्ति वारण के लिए परव्यवहार पद है। दण्ड घट का कारण है, परव्यवहार का नहीं। साधारणकारण काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए असाधारण पद है। परव्यवहारत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिए कारण पद है। इसी प्रकार अपरत्व के लक्षण में भी समझना चाहिए।

तर्कदीपिका

परत्वापरत्वयोर्लक्षणमाह – परेति। परव्यवहारासाधारणकारणं परत्वम्। अपरव्यवहारासाधारणकारणमपरत्वमित्यर्थः। परापरत्वे विभजते – ते। द्विविध इति। दिक्कृतयोरुदाहरणमाह–दूरस्थ इति॥ कालकृते उदाहरति – ज्येष्ठ इति॥

गुरुत्वस्य किं लक्षणम्?

३०. आद्यपतनाऽसमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति।

आद्य पतन के असमवायिकारण को गुरुत्व कहते हैं। यह पृथ्वी और जल में रहता है।

आशा पृथिवी और जल का प्रथम पतन जिस गुण के कारण होता है उसे 'गुरुत्व' कहते हैं। यह 'गुरुत्व' नाम का गुण केवल पृथिवी और जल में ही रहता है। गुरुत्व से पतन का सिद्धान्त पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण के आधुनिक सिद्धान्त से बिलकुल विपरीत है। गुरुत्व गुण अतीन्द्रिय है। इसका प्रत्यक्ष किसी भी इंद्रिय से नहीं होता। तुलादंड के झुकने एवं ऊपर की ओर उठने से गुरुत्व का अनुमान होता है। पतन का अर्थ है निम्न-संयोगानुकूल क्रिया। जब कोई भी वस्तु गिरती है तो उसमें उत्पन्न होने वाला पतन एक नहीं होता है। उसमें अनेक पतन होते हैं। अधिकतर क्रियाएँ अपनी उत्पत्ति क्षण से पंचम क्षण में नष्ट हुआ करती हैं। परन्तु वस्तु दूरी और निकटता के आधार पर सेकेन्डों, मिनटों आदि समय में गिरती है। अतः गिरना स्वरूप पतन को उतने कालों तक (पाँच क्षण तक) नहीं रोक रखा जा सकता। अतः प्रत्येक पतनस्थल में पतन क्रिया की धारात्मक परिस्थिति अवश्य स्वीकार करनी होगी। उन धारापन्न पतनों के अंदर द्वितीय, तृतीय आदि सारे पतन वेग से उत्पन्न होते हैं वस्तु में रहने वाले गुरुत्व गुण के कारण नहीं। किन्तु सर्वप्रथम होने वाला पतन गुरुत्व के कारण ही होता है। भारीपन के बिना कोई वस्तु गिरती नहीं है। इस परिस्थिति के अनुसार लक्षण में 'आद्य' पद न देने पर द्वितीय आदि पतनों के प्रति असमवायिकारणभूत वेग में गुरुत्व लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी अतः 'पतनासमवायिकारणं' न कहकर 'आद्यपतनासमवायिकारण' कहा गया है। उक्त वस्तु स्थिति के अनुसार गुरुत्व ही प्रथम पतन का असमवायिकारण होता है। परमाणु स्वरूप नित्य पृथ्वी तथा जल में रहने वाला गुरुत्व नित्य तथा इन दोनों के कार्यरूप अनित्य स्वरूपों में रहने वाला गुरुत्व अनित्य होता है।

पदकृत्यम्

आद्येति। दण्डादिवारणायासमवायीति। रूपादिवारणाय पतनेति। वेगेऽतिव्याप्तिवारणायाद्येति॥

आद्य पतन के कारण दण्ड आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए असमवायिकारण पद है। दण्ड द्रव्य है वह असमवायिकारण नहीं हो सकता। रूपादि गुणों में असमवायिकारणों की अतिव्याप्ति वारण के लिए पतन पद है। पतन द्रव्य का ही होता है अर्थात् अवयविगत आद्य रूपादि का असमवायिकारण अवयवगत रूपादि भी होता है, अतः रूपादि में गुरुत्वलक्षण

के अतिव्याप्तिवारण के लिये पतनपद दिया। द्वितीयादिपतन का कारण वेग होता है, अतः उसमें अतिव्याप्तिवारणार्थ आद्यपद दिया। कोई भी वस्तु जब पेड़ आदि से टूटकर गिरती है तो उसमें गुरुत्व कारण है और वह टूटी हुई वस्तु जो पृथ्वी की ओर गिरती है उसमें वेग कारण है।

तर्कदीपिका

गुरुत्वं लक्षयति – आद्येति। द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारण-त्वाद्वेगेऽतिव्याप्तिवारणाय–आद्येति॥

द्रवत्वस्य किं लक्षणम्, के च भेदाः?

३१. आद्यस्यन्दनाऽसमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद् द्विविधं सांसिद्धिकं, नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले। नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजं द्रवत्वं, तेजसि सुवर्णादौ॥

आद्यस्यन्दन (प्रश्रवण) के असमवायिकारण को द्रवत्व कहते हैं। यह पृथ्वी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में रहता है। यह दो प्रकार का है :- एक सांसिद्धिक और दूसरा नैमित्तिक। सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक द्रवत्व पृथ्वी और तेज में रहता है। घृत आदि स्वरूप पृथ्वी में तथा सुवर्ण आदि स्वरूप तेज में अग्निसंयोग से द्रवत्व उत्पन्न होता है।

आशा जिस गुण से स्यन्दन (अर्थात् फैलने की) क्रिया उत्पन्न हो वही 'द्रवत्व' है। यह (१) सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और (२) नैमित्तिक भेद से दो प्रकार का है। इनमें सांसिद्धिकद्रवत्व जल का विशेष गुण है और नैमित्तिकद्रवत्व पृथिवी और तेज का सामान्यगुण है। द्रवत्व के नित्यत्व और अनित्यत्व का निर्णय गुरुत्व की तरह समझना चाहिए। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जल में भी हिमादि के रूप में सङ्घात अर्थात् काठिन्य देखा जाता है, अतः यह कहना ठीक नहीं है कि जल का द्रवत्व सांसिद्धिक है?

इसका समाधान यह है कि क्योंकि दिव्यतेज के साथ संयुक्त परमाणुओं में द्रव्य का उत्पादक संयोग ही सङ्घात रूप होता है (अर्थात् उक्त परमाणुओं का ही संयोग कठिन होता है) इसी से जल का स्वाभाविक द्रवत्व प्रतिरुद्ध हो जाता है, जिससे जल से उत्पन्न होनेवाला पाला और बरफ में सांसिद्धिक द्रवत्व की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

अग्नि के संयोग से पृथिवी और तेज इन दोनों ही में नैमित्तिक द्रवत्व की उत्पत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर है- घृत, लाख, मोम प्रभृति द्रव्यों के उत्पादक परमाणुओं में बेग की सहायता से अग्निसंयोग के द्वारा क्रिया की उत्पत्ति होती है। उस क्रिया से परमाणुओं में विभाग उत्पन्न होते हैं। इस विभाग से उक्त परमाणुओं में रहनेवाले (द्व्यणुक के) उत्पादक संयोग का विनाश होता है। इस (संयोगविनाश) से घृतादि कार्य द्रव्यों के नाश हो जाने के बाद उष्णता की सहायता से अग्निसंयोग के द्वारा स्वतन्त्र (परस्परासम्बद्ध) परमाणुओं में

द्रवत्व की उत्पत्ति होती है। इसके बाद भोग करने वाले जीवों के अदृष्ट की सहायता से आत्मा और मन के संयोग से उन स्वतन्त्र परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति होती है। इस क्रिया से द्रवत्व से युक्त परमाणुओं में द्रव्योत्पादक संयोग की उत्पत्ति होती है। इस संयोग से द्व्यणुकादि क्रम से कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होती है। इस कार्यद्रव्य में जिस समय रूपादिगुणों की उत्पत्ति होती है, उसी समय द्रवत्व की भी उत्पत्ति होती है।

'आद्य' पद का द्रवत्व लक्षण में निवेश उसी प्रकार आवश्यक प्रतीत होता है, जिस प्रकार गुरुत्व के लक्षण में इसकी आवश्यक बतलायी गया है। क्योंकि स्यन्दन है प्रस्रवण अर्थात् तरल पदार्थों का दिगनपेक्ष भाव से फैलना स्वरूप क्रिया। यहाँ भी प्रस्रवण काल को ध्यान में रखते हुये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पतन स्थल की तरह क्रिया की निरन्तरता मानी जाय। उन क्रियाओं में द्वितीय, तृतीय आदि स्यन्दन क्रियाएं वेग प्रयुक्त भी हो सकती हैं। इसलिए 'स्यन्दनासमवायिकारणम्' इतना ही कहने पर वेग में द्रवत्व लक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न हो सकती है, उसके निवारणार्थ द्रवत्व के उक्त लक्षण में स्यन्दन के पूर्व आद्य का निवेश उचित है। तदनुसार यहाँ लक्षण का स्वरूप निर्धारित हुआ है।

पदकृत्यम्

आद्यस्यन्दनेति। दण्डादिवारणायासमवायीति। रसादिवारणाय स्यन्दनेति॥

घट के कारण दण्ड आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए असमवायिकारण पद है। दण्डादि घटादि के निमित्त कारण हैं, असमवायिकारण नहीं। रसादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए स्यन्दन पद है। रस स्यन्दन (प्रवाह) में असमवायी कारण नहीं है।

तर्कदीपिका

द्रवत्वं लक्षयति – आद्यस्यन्दनेति। स्यन्दनं–स्रवणम्। तेजः–संयोगजन्यं नैमित्तिकद्रवत्वम्। तद्भिन्नं सांसिद्धिकद्रवत्वम्। पृथिव्यां नैमित्तिकद्रवत्वमुदाहरति–घृतादाविति। तेजसि तदाह–सुवर्णादाविति॥

स्नेहस्य किं लक्षणम्, कुत्र च सः?

३२. चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

चूर्ण आदि को पिण्ड बना देने वाले गुण को स्नेह कहते हैं। वह केवल जल में रहता है।

आशा चूर्ण पद से प्रकृत में विवक्षित है चूर्णीभूत आटा धूल आदि। पिंडीभाव का अर्थ है एक प्रकार का घनिष्ठ संयोग, जिसके कारण पिंडीभूत वस्तु के एक भाग के धारण से पूरी वस्तु का धारण एवं एक भाग के आकर्षण से पूरी वस्तु का आकर्षण होता है। उक्त घनिष्ठ संयोगात्मक पिंडीभाव इसीलिए आटा आदि चूर्णीभूत वस्तुओं में हो पाता है कि उनमें मिलाये गये जल में स्नेह नाम का गुण रहता है। यह केवल जल का ही विशेषगुण है। स्नेह के ही कारण आटा प्रभृति पिसे हुए द्रव्यों की गोल आकृति बन सकती है। घृतादि जिन पार्थिव द्रव्यों

से उक्त आकृतियाँ बनती हैं, वहाँ भी घृतादि में जल सम्बन्ध के कारण ही वैसा होता है? स्नेह की नित्यता व अनित्यता गुरुत्व की तरह समझनी चाहिये।

पदकृत्यम्

चूर्णादीति। चूर्णं पिष्टं तदेवादिर्यस्य मृत्तिकादेः स चूर्णादिस्तस्य पिण्डीभावः संयोगविशेषस्तस्य हेतुर्निमित्तकारणं स्नेह इत्यर्थः। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम्। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय पिण्डीभावेति। चूर्णपदं स्पष्टार्थम्॥

चूर्ण है आदि जिस मृत्तिका का वह चूर्णादि है, उसका पिण्डभाव = संयोग विशेष, हेतु = निमित्त कारण स्नेह है। काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए गुण पद है। वाक्यवृत्तिकार के अनुसार चूर्ण में अतिव्याप्तिवारण के लिये गुण पद दिया है, किन्तु हेतु पद का अर्थ निमित्तकारण लेने पर चूर्ण में अतिव्याप्ति का वारण स्वतः ही हो जाता है। चूर्ण के हेतु रूपादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए पिण्डीभाव पद है। चूर्ण पद स्पष्टार्थक है। कुछ लोग लौह चूर्ण के पिण्डीभावहेतु अग्निसंयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए चूर्ण पद दिया है, ऐसा कहते हैं।

तर्कदीपिका

स्नेहं लक्षयति - चूर्णेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति रूपादावतिव्याप्तिवारणाय चूर्णादीति।

<u>शब्दस्य किं लक्षणम्, कुत्र च सः?</u>

३३. श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः- ध्वन्यात्मको, वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य गुण को शब्द कहते हैं। यह केवल आकाश में रहता है। शब्द दो प्रकार का है:- एक ध्वन्यात्मक दूसरा वर्णात्मक। भेरी आदि के शब्दों को ध्वन्यात्मक कहते हैं। संस्कृत भाषादि रूप शब्दों को वर्णात्मक कहते हैं।

आशा श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने वाले गुण को ही शब्द कहते हैं। यह संयोग से, विभाग से और शब्द से इस प्रकार तीन तरह से उत्पन्न होता है। दण्ड और भेरी के संयोग से शब्द की उत्पत्ति होती है। बाँस प्रभृति के विभाग से भी शब्द की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह शंका होती है कि संयोग और विभाग से उत्पन्न शब्द का श्रवण कैसे संभव है? क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध आवश्यक है। शब्द रूप विषय का ग्राहक श्रवणेन्द्रिय है। यह आकाश रूप है। आकाश अमूर्त होने के कारण कहीं जा नहीं सकता। अतः शब्द की उत्पत्ति जिस देशावच्छिन्न आकाश में होती है, वहाँ श्रवणेन्द्रिय जा नहीं सकती। किन्तु उस शब्द का प्रत्यक्ष तो होता है। इसलिए यह कल्पना करनी पड़ती है कि

संयोग या विभाग से जिस शब्द व्यक्ति की उत्पत्ति होती है, उसी शब्द से उसी शब्द के सदृश दूसरे शब्द की उत्पत्ति अनन्तर प्रदेश में होती है। इस प्रकार एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति, और दूसरे शब्द से तीसरे शब्द की उत्पत्ति की धारा चलती है। उस धारा के अन्तर्गत जब किसी की उत्पत्ति कर्णवाले आकाश प्रदेश में होती है, तो उस शब्द का प्रत्यक्ष होता है। अत: संयोग और विभाग की तरह शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति माननी पड़ती है। तर्कभाषा में शब्द की गति या उत्पत्ति के दो प्रकार बताये हैं :- एक को 'वीचीतरङ्गन्याय' और दूसरे को 'कदम्बमुकुलन्याय' कहते हैं। इन दोनों का अन्तर यह है कि 'वीचीतरङ्गन्याय' में चारो दिशाओं में फैलने वाली शब्द की एक लहर सी होती है और 'कदम्बमुकुलन्याय' में चारों दिशाओं में उत्पन्न होने वाले शब्द अलग-अलग से होते हैं।

कदम्बमुकुलन्याय से शब्द की उत्पत्ति :- 'कदम्ब-मुकुल' का अर्थ कदम्ब का फूल या कली है। कदम्ब के फूल में सिर पर केन्द्र में एक कील सी खड़ी होती है। फिर उसके चारों ओर उसी प्रकार की कीलें सी खड़ी होती हैं। इसीलिए इस प्रकार की शब्दधारा को सूचित करने के लिए 'कदम्बमुकुलन्याय' इस शब्द का विशेषरूप से प्रयोग किया जाता है। इसलिए चारों ओर उत्पन्न होने वाले शब्दों को अलग-अलग भी कहा जा सकता है।

वीचितरङ्गन्याय से शब्द की उत्पत्ति - शब्द की उत्पत्ति के बाद उसके चारों ओर उत्पन्न होने वाले शब्दों में शब्दों की एक लहर-सी प्रतीत होने लगती है। जैसे यदि पानी में कोई पत्थर डाल दिया जाय तो उससे चारों ओर एक लहर का चक्र सा बन जाता है। इसलिए इस प्रकार की शब्द की गति के लिए 'वीचीतरङ्गन्याय' शब्द का प्रयोग किया है।

भेरी में उत्पन्न हुआ शब्द 'वीचीतरङ्गन्याय' से अथवा 'कदम्बमुकुल न्याय' से समीपवर्ती दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है, और वह शब्द फिर दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। इस क्रम से श्रोत्र देश में उत्पन्न हुआ अन्तिम शब्द श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत होता है, आदि या मध्यम शब्द नहीं। इसी प्रकार बांस के फाड़ते समय दोनों दलों के विभाग देश में उत्पन्न शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करने के क्रम से श्रोत्र देश में सुने जाने वाले अन्तिम शब्द को उत्पन्न करता है। वह अन्त्य शब्द श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत होता है, आदि का शब्द और बीच का शब्द नहीं। 'मैंने भेरी का शब्द सुना' यह प्रतीति तो भ्रान्ति ही है क्योंकि भेरी से उत्पन्न शब्द गृहीत नहीं होता है अपितु उस शब्द धारा में श्रोत्र देश में उत्पन्न होने वाला शब्द गृहीत होता है।

भेरी के शब्द की उत्पत्ति में भेरी और आकाश का संयोग असमवायिकारण है और भेरी-दण्ड संयोग निमित्त कारण है। इसी प्रकार बांस के फाड़ने से चट-चट की उत्पत्ति में बांस के दल और आकाश का विभाग असमवायिकारण और दोनों दलों का विभाग निमित्त कारण है। इस प्रकार आदिशब्द (सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला शब्द) संयोग अथवा विभाग से उत्पन्न होने वाला होता है अर्थात् संयोग या विभाग इसका असमवायि कारण होता है। अन्त्य और बीच के शब्दों का तो शब्द असमवायिकारण और अनुकूल वातादि निमित्तकारण होते हैं। आद्य आदि सभी शब्दों का केवल आकाश ही समवायिकारण होता है।

न्याय-वैशेषिक में शब्द अनित्य तथा क्षणिक है। न्याय-वैशेषिक मत में क्षणिक का अर्थ त्रिक्षणावस्थायित्व है। क्षणिक पदार्थ प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरा क्षण उसकी स्थिति का क्षण है और तीसरा क्षण उसके विनाश का क्षण है। इस प्रकार तीन क्षण रहने पर भी वह 'क्षणिक' कहलाता है। मीमांसक-वैयाकरण आदि शब्द को नित्य मानते हैं, क्षणिक नहीं। प्रशस्तपाद भाष्य में शब्द गुण का विवेचन इस प्रकार किया गया है:- **शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः, क्षणिकः, कार्यकारणोभयविरोधी, संयोगविभागशब्दजः, प्रदेशवृत्तिः, समानासमानजातीयकारणः..............** अर्थात् आकाश का गुण ही शब्द है। उसका प्रत्यक्ष श्रोत्र से होता है। वह क्षणिक होता है, एवं उसके कार्य और उसके कारण दोनों ही उसके विनाशक हैं। संयोग, विभाग और शब्द (इन तीनों में से किसी) से उसकी उत्पत्ति होती है। वह अपने आश्रयद्रव्य के किसी एक देश में रहता है। वह अपने समानजातीय (शब्द) और विजातीय (संयोग और विभाग इन दोनों) से उत्पन्न होता है।

शब्द 'आकाश' नामक द्रव्य में रहता है, अन्य द्रव्यों में नहीं, इसकी सिद्धि परिशेषानुमान से इस प्रकार होती है :- परिशेषानुमान उसे कहते हैं कि जहाँ प्राप्ति की सम्भावना रहने पर निषेध किया जाय और उससे भिन्न स्थल में अप्राप्ति हो, तब बचे हुए शेष विषय का जो अनुमान किया जाता है, उसे परिशेषानुमान कहते हैं। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा - 'शब्दः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति द्रव्याश्रितत्वात्।' 'शब्द' गुण है अतः उसे किसी द्रव्य के आश्रित रहना ही होगा। क्योंकि द्रव्य के विना गुण की स्थिति हो ही नहीं सकती। किन्तु 'रूप' के तुल्य यह 'शब्द' नहीं है, जिससे पृथ्वी आदि द्रव्य के आश्रित हो सके। इस प्रकार पृथिव्यादि आठ द्रव्यों के अतिरिक्त बचा हुआ जो द्रव्य हो, वही समवायसंबंध से 'शब्द' का आश्रय हो सकता है। वही 'आकाश' नामक नवम द्रव्य है।

पदकृत्यम्

श्रोत्रेति। शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादिवारणय श्रोत्रग्राह्य इति। वस्तुतस्तु श्रोत्रोत्पन्नशब्दस्यैव श्रोत्रग्राह्यत्वेन तद्भिन्नेऽव्याप्तिवारणाय श्रोत्रग्राह्यजातिमत्त्वे तात्पर्याद् गुणपदमनुपादेयमेव॥

'जो गुण जिस इन्द्रिय से ग्राह्य है तद्गत जाति भी उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होती है' इस नियम के अनुसार शब्दत्व में अतिव्याप्ति वारण के लिये शब्द के लक्षण में गुण पद दिया है। रूपादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए श्रोत्रग्राह्य पद है। वस्तुतः वीचितरङ्गन्यार्य अथवा कदम्बमुकुलन्याय से श्रोत्र में उत्पन्न हुआ शब्द ही श्रोत्रद्वारा गृहीत होता है। अतः अन्य शब्दों में अव्याप्तिवारण के लिये श्रोत्रग्राह्यजातिमत्त्व का उल्लेख करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में गुणपद देने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शब्दत्व में श्रोत्रग्राह्य जातिमत्त्व नहीं होने से उसमें अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग ही नहीं है। कारण, श्रोत्रग्राह्य जाति शब्दत्व है, वह शब्दत्व में नहीं रहती किन्तु शब्द ही में रहती है, इसलिये शब्द में लक्षण का समन्वय होगा और शब्दत्व में अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा। अतः गुणपद अनावश्यक है।

तर्कदीपिका

शब्दं लक्षयति - श्रोत्रेति। शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय श्रोत्रेति॥ शब्दस्त्रिविधः-संयोगजो विभागजः शब्दजश्चेति। तत्राद्यो भेरीदण्डसंयोगजन्यः। द्वितीयो वंश उत्पाट्यमाने दलद्वयविभागजन्यश्चटचटाशब्दः। भेर्यादिदेशमारभ्य श्रोत्रपर्यन्तं द्वितीयादिशब्दाः शब्दजाः॥

बुद्धेः किं लक्षणम्, कतिविधा च सा?

३४. सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च।

समस्त व्यवहारों के हेतुभूत गुण को बुद्धि अर्थात् ज्ञान कहते हैं। बुद्धि के दो भेद हैं :- स्मृति और अनुभव।

आशा न्यायशास्त्र में बुद्धि, उपलब्धि व ज्ञान तीनों पद समानार्थक हैं - **बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्** (न्यायसूत्र १/१/१५) बुद्धि के 'स्मृति' तथा 'अनुभव' के भेद से दो भेद माने गये हैं। उनमें से केवल संस्कार से ही उत्पन्न ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं, और उससे भिन्न विषयक ज्ञान को 'अनुभव' कहते हैं।

ज्ञान के प्रमुखतः तीन भेद किये गये हैं- स्मृति, अनुभव तथा प्रत्यभिज्ञा। इनमें स्मृति और अनुभव के पुनः यथार्थ एवं अयथार्थ के रूप में दो दो भेद किये गये हैं- यथार्थ स्मृति तथा अयथार्थ स्मृति, यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। यथार्थ अनुभव के चार भेद हैं- प्रत्यक्ष, अनुमिति उपमिति तथा शाब्दबोध। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं- निर्विकल्पक ज्ञान तथा सविकल्पक ज्ञान। अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं- संशय, विपर्यय तथा तर्क। प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त ज्ञान के उपर्युक्त समस्त भेदों का विवेचन तर्कसंग्रह में किया गया है प्रत्यभिज्ञा का विवेचन स्मृति की हिन्दी व्याख्या के प्रसंग में इस ग्रन्थ में किया गया है वहाँ द्रष्टव्य है, शेष भेदों की हिन्दी व्याख्या यथास्थान इस पुस्तक में की गयी है।

पदकृत्यम्

बुद्धिलक्षणमाह- सर्वेति। सर्वे ये व्यवहारा आहारविहारादयस्तेषां हेतुर्बुद्धिरित्यर्थः। (दण्डादिवारणाय सर्वव्यवहारेति) रूपादिवारणाय सर्वव्यवहारेति कालादिवारणायासाधारणेत्यपि देयम्।

अब बुद्धि का लक्षण कहते हैं। समस्त जो आहार भोजन आदि व्यवहार हैं, उनका हेतु बुद्धि है। दण्ड में अतिव्याप्ति वारण के लिए सर्वव्यवहार पद है। 'दण्डादि' ऐसा पाठ समुचित नहीं है, क्योंकि गुण पद से ही दण्ड का वारण हो जायगा। अतः इसके लिये 'सर्वव्यवहार' इस विशेषण की सार्थकता दिखाना असंगत होगा। इसलिये 'रूपादिवारणाय' यही पाठ समुचित है। काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए असाधारण पद भी देना चाहिए।

तर्कदीपिका

बुद्धेर्लक्षणमाह - सर्वेति। 'जानामि' इत्यनुव्यवसायगम्य-ज्ञानत्वमेव लक्षणमित्यर्थः। बुद्धिं विभजते-सेति॥

स्मृतेः किं लक्षणम्?

३५. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

आशा ज्ञात विषयक ज्ञान दो प्रकार का होता है जिनमें एक को 'स्मृति' और दूसरे को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। किसी वस्तु को जब हम देखते या किसी प्रकार से जानते हैं तब उस ज्ञान से हमारे आत्मा में एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है और कालान्तर में जब किसी कारण से वह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है तब बिना बाह्य इन्द्रिय आदि की सहायता के उस पदार्थ का पुनः ज्ञान होने लगता है। इसी ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति सदा 'ज्ञात विषय' की ही होती है। इसलिए 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः' यह भी स्मृति का लक्षण किया जाता है। स्मृति का कारण सदा संस्कार का उद्बोध ही होता है इसलिए 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण अन्नम्भट्ट ने मूल में लिखा है। स्मृति को पैदा करने वाले संस्कार के उद्बोधक सादृश्य, अदृष्ट चिन्तन आदि हैं। जिस पदार्थ को हम पहिले देख चुके हैं उसके सदृश पदार्थ को देखने पर उसकी स्मृति हो आती है कि ऐसा पदार्थ या व्यक्ति हमने वहाँ देखा था। यहाँ सादृश्य संस्कार का उद्बोधक होता है। कभी किसी बात को भूल जाने पर सोचने से उसका स्मरण हो आता है यहाँ चिन्तन या सोचना संस्कार का उद्बोधक और स्मृति का जनक है। और कभी अदृष्ट (धर्म-अधर्म) के कारण बिना सादृश्यदर्शन या चिन्ता के भी संस्कार का उद्बोध और स्मृति की उत्पत्ति हो जाती है।

स्मृति और प्रत्यभिज्ञा -

ज्ञान का तीसरा भेद 'प्रत्यभिज्ञा' है। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा' यह किया गया है। अर्थात् 'तत्ता' और 'इदन्ता' दोनों को अवगाहन करनेवाली प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। तत्ता का अर्थ तद्देश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध है। और 'इदन्ता' का अर्थ एतद्देश और एतत्कालसम्बन्ध है। जिसमें पूर्वदेश, पूर्वकाल और वर्तमान देश, वर्तमान काल दोनों की प्रतीति हो उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है। यह वही देवदत्त है जिसे हमने दिल्ली में देखा था। इसमें 'सः' पद 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश पूर्वकाल सम्बन्ध का द्योतक और 'अयं' पद 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश एतत्काल सम्बन्ध अर्थात् वर्तमान देश और काल के सम्बन्ध का बोधक है अर्थात् 'सः' पद देवदत्त की पूर्वदृष्ट देश कालादि विशिष्ट अवस्था को और 'अयं' पद देवदत्त की वर्तमान देशकालादि विशिष्ट अवस्था को प्रकाशित करता है। इसमें 'तत्ता' रूप पूर्वदेश पूर्वकाल का द्योतक 'सः' अंश स्मरणात्मक है और उसकी उत्पत्ति पूर्वदर्शनजन्य संस्कार के उद्बोधन से होती है। इसके विपरीत 'अयं' पद से

बोधित एतद्देश एतत्काल रूप 'इदन्ता' अंश प्रत्यक्षात्मक है, और उसकी उत्पत्ति इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होती है। इस प्रकार 'प्रत्यभिज्ञा' स्मृति और अनुभव उभयात्मक ज्ञान है। उसकी उत्पत्ति में संस्कार तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष दोनों ही कारण हैं। वह एक अंश में ज्ञात-विषयक ज्ञान भी है अतएव उसमें स्मृति का 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः' यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। इसलिये अन्य लोग 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण करते हैं। इसमें भी मात्र पद संस्कार और इन्द्रिय सन्निकर्ष दोनों से उत्पन्न होने वाले 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान में स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए रखा गया है।

पदकृत्यम्

संस्कारेति। संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति। अनुभवेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्यमिति। तथापि प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षणीयम्। क्वचित्तथैव पाठः। न चैवं सत्यम्भवः-तस्य संस्कारजन्यत्वे सतीन्द्रियार्थसन्निकर्षाजन्यार्थकत्वात्॥

'स्वध्वंस के प्रति वस्तु स्वयं भी कारण होती है' इस नियम के अनुसार संस्कारध्वंस भी संस्कारजन्य है। अतः स्मृतिलक्षण में ज्ञान पद न देने पर संस्कारध्वंस में अतिव्याप्ति हो जायगी। केवल "ज्ञानं स्मृति" लक्षण करने पर अनुभवात्मक ज्ञान में अतिव्याप्ति होने लगेगी, अतः उसके निवारण के लिये संस्कारजन्यत्व विशेषण दिया है। संस्कारजन्य प्रत्यभिज्ञाज्ञान ('स एवायं श्यामः') भी होता है, अतः उसमें अतिव्याप्तिवारणार्थ मात्रपद देना चाहिये। क्योंकि प्रत्यभिज्ञाज्ञान में संस्कार के साथ साथ इन्द्रियसंनिकर्ष के भी कारण होने से संस्कारमात्रजन्यत्व नहीं है। कहीं तो मूल में मात्रपद के सहित ही पाठ है। 'किन्तु मात्रपद का सन्निवेश करने पर असंभदोष हो जायगा, क्योंकि स्मृति भी संस्कारमात्र से जन्य नहीं होती किन्तु आत्मा और मन भी कारण होता है' ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मात्रपद का अभिप्राय यह है कि संस्कारजन्य होते हुए इन्द्रियार्थसंनिकर्ष से अजन्य हो। ऐसा होने से प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति भी नहीं हुई और स्मृति में आत्मा और मन के भी कारण होने से असंभव दोष भी नहीं हुआ।

तर्कदीपिका

स्मृतेर्लक्षणमाह-संस्कारेति। भावनाख्यः संस्कारः। संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय-ज्ञानमिति। घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्य-मिति। प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्ति-वारणाय मात्रेति॥

<u>अनुभवस्य किं लक्षणम्, के च भेदाः?</u>

३६. तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः-यथार्थोऽयथार्थश्च।

<u>यथार्थानुभवस्य किं लक्षणम्?</u>

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः (यथा रजते इदं रजतमिति ज्ञानम्) सैव प्रमेत्युच्यते।

<u>अयथार्थानुभवस्य किं लक्षणम्?</u>

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः (यथा 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानम्) सैवाऽप्रमेत्युच्यते।

स्मृति से भिन्न ज्ञान को **अनुभव** कहते हैं। यह दो प्रकार का है- **यथार्थ** और **अयथार्थ**।

जो वस्तु जिस रूप में हो उसके उसी रूप में अनुभव को यथार्थ कहते हैं। जैसे रजत (चाँदी) में 'यह रजत है'। इस प्रकार का ज्ञान **यथार्थ** ज्ञान है। इसे ही **प्रमा** भी कहते हैं।

जो वस्तु जिस रूप में न हो उसे उस रूप में समझना अयथार्थ ज्ञान है। जैसे शुक्ति रजत नहीं है, किन्तु दोषवश शुक्ति को रजत मान बैठना **अयथार्थ ज्ञान** है। इसे ही **अप्रमा** भी कहते हैं।

आशा ज्ञान या बुद्धि को अच्छी तरह से समझने के लिए उसके विशिष्ट स्वरूप के प्रत्येक अंश को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में ज्ञान किसी विषय का ही होता है। बिना विषय के ज्ञान नहीं होते। ज्ञान में भासित होने वाले विषय (१) विशेषण (२) विशेष्य और (३) उन दोनों के संसर्ग, ये तीनप्रकार के हैं। 'विषय' का एक चौथा प्रकार भी है जो निर्विकल्पक-ज्ञान में भासित होता है। 'घटवद्भूतलम्' इस ज्ञान में मुख्यतः घट विशेषण है, और भूतल विशेष्य है, तथा संयोग संसर्ग है। जिससे भूतल में घट का रहना सम्भव होता है। वैसे तो इसी ज्ञान में घट में घटत्व भी भासित होता है। अतः घटत्व भी विशेषण है, और घट भी विशेष्य है, तथा इन दोनों का समवाय भी संसर्ग है। इसी प्रकार भूतल में भूतलत्व और संयोग में संयोगत्व के भान होने के कारण भूतलत्व संयोगत्वादि और भी विशेषण हैं तथा घट भूतलादि और भी विशेष्य हैं। किन्तु ये गौण हैं। विशेषण को ही 'प्रकार' कहते हैं। ज्ञान के इन विषयों में ज्ञानीय 'विषयता' नाम का एक धर्म भी है जो विषयों के प्रकारविशेष्यादि के विभेदों के कारण (१) प्रकारता (२) विशेष्यता (३) संसर्गता भेद से तीन प्रकार का है। निर्विकल्पकज्ञान के चौथे प्रकार के विषयों में रहने वाली इन तीनों विषयताओं से भिन्न एक चौथी विषयता भी है। उक्त प्रकारता ही उस स्थिति में प्रायः विधेयता कहलाती है जिसमें कि उसका आश्रय पहिले से ज्ञात न हो। विशेष्यता ही स्थिति विशेष में उद्देश्यता कहलाती है।

ऊपर जिस संसर्ग की चर्चा की गयी है वह विभिन्न दो व्यक्तियों में क्रमशः विशेष्यविशेषणभाव का सम्पादक वस्तु विशेष रूप है, 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि स्थलों में चूँकि दण्ड का संयोग संसर्ग या सम्बन्ध पुरुष में है इसीलिए दण्ड विशेषण है और पुरुष विशेष्य है।

जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण की सत्ता वस्तुतः रहे उसी ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं। यथार्थ चाँदी में जो 'इदं रजतम्' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'प्रमा' ज्ञान है, क्योंकि ज्ञान का विशेष्य या उद्देश्य है चाँदी (रजत) उसमें रजतत्व रूप विशेषण की या प्रकार

की वस्तुतः सत्ता है, अतः उक्त ज्ञान 'प्रमा' है। किस वस्तु में किस वस्तु की यथार्थ सत्ता है? इस प्रश्न का यह समाधान यह है जिस विशेष्य में विशेषण के सम्बन्ध की सत्ता रहे, उसी विशेष्य विशेषण की यथार्थ सत्ता है। प्रकृत उदाहरण के रजत रूप विशेष्य में रजतत्व जाति का समवाय सम्बन्ध है अतः रजतत्व की सत्ता रजत में है। शुक्तिका में जो इदं रजतम् इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'प्रमा' इस लिए नहीं है कि इस ज्ञान के विशेष्य शुक्तिका में रजतत्व का समवाय नहीं है। अतः शुक्तिका में रजतत्व का ज्ञान प्रमा न होकर 'अप्रमा' है। फलतः प्रमा के विपरीत अर्थात् जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण की सत्ता न रहे उस ज्ञान को ही 'अप्रमा' या अविद्या या भ्रम कहते हैं।

मूलोक्त प्रमा लक्षण **तद्वतितत्प्रकारकोऽनुभवः** का आशय है 'रजतत्ववति रजते रजतत्वप्रकारकज्ञानम्' अर्थात् जिसमें रजतत्व प्रकार रहता है ऐसे रजत में ही रजतत्व की प्रकार रूप से प्रतीति प्रमा-ज्ञान है। मूलोक्त अप्रमा लक्षण – **तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवः** का आशय है 'रजतत्वाभाववति शुक्तिकादौ रजतत्वप्रकारकज्ञानम्' अर्थात् शुक्ति आदि पदार्थ, जिनमें रजतत्व प्रकार रूप में नहीं रहता है उनमें रजतत्व की प्रकार रूप से प्रतीति अप्रमा-ज्ञान है।

पदकृत्यम्

तदिति। स्मृतित्वावच्छिन्नभिन्नमित्यर्थः। तेन यत्किञ्चित्स्मृतिभिन्नत्वस्य स्मृतौ सत्त्वेऽपि न क्षतिः। घटादावतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति। स्मृतिवारणाय तद्भिन्नमिति।

तद्वतीति। तद्वति तत्प्रकारो यस्य स तथेत्यर्थः। तद्वद्विशेष्यकतत्प्रकारक इति यावत्। स्मृतिवारणायानुभव इति। अयथार्थानुभववारणाय तद्वतीति। निर्विकल्पकेऽतिव्याप्तिवारणाय तत्प्रकारक इति॥

तदभावेति। तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थानुभव इत्यर्थः। यथा 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। स्मृतिवारणायानुभव इति। यथार्थानुभवेऽतिव्याप्तिनिरसनाय तदभाववतीति। निर्विकल्पकवारणाय तत्प्रकारक इति॥

स्मृतिभिन्न का अर्थ है समस्त स्मृतियों से भिन्न। इसलिए जिस किसी स्मृति से भिन्न दूसरी स्मृति के रहने पर भी अनुभव लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। घटादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए ज्ञान पद है। स्मृति भी ज्ञान है, अतः स्मृति में लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए स्मृति भिन्न पद है।

तद्वति में तीन अंश हैं। एक तत्, दूसरा वत् तथा तीसरा सप्तमी विभक्ति ङि। इनमें तत् शब्द किसी भी वस्तु में रहने वाले धर्म का बोधक है। वत् प्रत्यय आश्रयार्थक है। सप्तमी विभक्ति का विशेष्यता अर्थ है। इस प्रकार तद्वति का अर्थ है- घटत्वति तद्वद् विशेष्यकः। तत् प्रकारक का अर्थ है घटत्व प्रकारकः। तत् प्रकारकः स प्रकारः यस्य सः यह बहुव्रीहि समास है। अतः तद् (रजतत्व) वति (रजते) तत् (रजतत्व) प्रकारक 'इदं रजतम्' यह ज्ञान यथार्थ

ज्ञान है। यथार्थ स्मृति मेंअतिव्याप्ति वारण के लिए तद्वति पद है। निष्प्रकारक निर्विकल्पक ज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिए तत् प्रकारक पद है।

यहाँ भी तत् शब्द का अर्थ धर्म है। वत् शब्द का अर्थ आश्रय है और सप्तमी का अर्थ विशेष्यत्व है। इस प्रकार रजतत्वाभाववति शुक्ति में रजतत्व प्रकारक 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को अयथार्थ कहते हैं। स्मृति में अतिव्याप्ति वारण के लिए अनुभव पद है। निष्प्रकारक निर्विकल्पकज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिए तत्प्रकारक पद है।

तर्कदीपिका

अनुभवं लक्षयति - तद्भिन्नमिति। स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभव इत्यर्थः॥ अनुभवं विभजते - स द्विविध इति। यथार्थानुभवस्य लक्षणमाह - तद्वतीति। ननु घटे घटत्वमिति प्रमायामव्याप्तिः; घटत्वे घटाभावादिति चेत्, - न; यत्र यत्संबंधोऽस्ति तत्र तत्संबंधानुभव इत्यर्थाद्घटत्वेऽपि घटसंबन्धोऽस्तीति नाव्याप्तिः। स इति। यथार्थानुभव एव शास्त्रे प्रमेत्युच्यत इत्यर्थः। अयथार्थं लक्षयति - तदभाववतीति। ननु 'इदं संयोगि' इति प्रमायामतिव्याप्तिरिति चेत्, - न; यदवच्छेदेन यत्संबन्धाभावस्तदवच्छेदेन तत्संबन्धज्ञानस्य विवक्षितत्वात् संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्, संयोगावच्छेदेन संयोगसंबंधस्य सत्त्वात् नातिव्याप्तिः॥

<u>यथार्थानुभवभेदाः के?</u>

३७. यथार्थानुभवश्चतुर्विधः-प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्।

यथार्थाऽनुभव चार प्रकार का है:- १. प्रत्यक्ष, २. अनुमिति, ३. उपमिति और ४. शाब्द।

आशा 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रत्यक्ष प्रमा और प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों के लिये प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर यह प्रमा अर्थ में प्रयुक्त है। इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा कहते हैं। 'परामर्श' से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान उपमिति कहलाता है। पद ज्ञान है करण जिस ज्ञान का उसे शाब्द ज्ञान या शाब्दी प्रमा कहते हैं अथवा आप्त पुरुष द्वारा प्रयुक्त शब्द से होने वाला ज्ञान शाब्दी प्रमा है। यथार्थ अनुभव के उपर्युक्त चारों भेदों का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

पदकृत्यम्

यथार्थेति। यथार्थानुभवः प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः। अनुमितिरपीति काणादबौद्धौ। उपमितिरपीति नैयायिकैकदेशिनः। शाब्दमपीति नैयायिकाः। अर्थापत्तिरपीति प्राभाकराः। आनुपलब्धिकोऽपीति भाट्टवेदान्तिनौ। साम्भविकैतिह्यकावपीति पौराणिकाः। चैष्टिकोऽपीति तान्त्रिकाः। एतेषां मतेऽस्वरसं सम्भाव्य तस्य चातुर्विध्यं दर्शितम्॥

यथार्थज्ञान के भेदों के बारे में दार्शनिकों में मतभेद है। चार्वाकों का मत है कि केवल प्रत्यक्ष ही यथार्थज्ञान है। महर्षि कणाद तथा बौद्धों का मत है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमिति भी यथार्थज्ञान है। नैयायिकों के एक वर्ग ने उपर्युक्त दो के अतिरिक्त उपमिति को भी यथार्थज्ञान माना है। नैयायिकों ने उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त शाब्दज्ञान को भी यथार्थानुभव स्वीकार किया है। प्रभाकर मीमांसक के शिष्यों ने उपर्युक्त चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति को भी यथार्थानुभव माना है। भट्टपाद कुमारिल और वेदान्तियों ने उपर्युक्त पाँच के अतिरिक्त अनुपलब्धि को भी यथार्थानुभव माना है। पुराणों के मत में सम्भव और ऐतिह्य को भी यथार्थानुभव मानते हुये आठ प्रकार का यथार्थज्ञान है। इन मतों में अरुचि व्यक्त करते हुये चार ही तरह के यथार्थ ज्ञान को बताने हेतु चतुर्विधम् पद है।

तर्कदीपिका

यथार्थानुभवं विभजते - यथार्थेति।

<u>तत्करणं कतिविधम्?</u>

३८. तत्करणमपि चतुर्विधम्-प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

यथार्थानुभवों के करण भी चार है : १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. शब्द।

आशा पूर्व में यथार्थ अनुभव के जिन चार भेदों का उल्लेख किया गया है, वे भेद तब ही उपपन्न हो सकते हैं जब उनके कारण पृथक् पृथक् हों। क्योंकि 'कारणभेद से कार्यभेद होता है' यह नियम है। अतः अनुभव के उक्त चारों भेदों के चार असाधारण कारण अर्थात् करण क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द नाम से मूल में कहे गये हैं।

पदकृत्यम्

तदिति। यथार्थानुभवात्मकप्रमायाः करणमित्यर्थः॥

यथार्थानुभवरूप प्रमा के (चार) करण (असाधारण कारण) हैं (जैसे यथार्थानुभव चार हैं वैसे करण भी चार ही हैं)।

तर्कदीपिका

प्रसङ्गात्प्रमाकरणं विभजते - तत्करणमिति। प्रमाकरणमित्यर्थः। 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' इति प्रमाण-सामान्यलक्षणम्॥

<u>करणस्य किं लक्षणम्?</u>

३९. असाधारणं कारणं करणम्।

असाधारण कारण को करण कहते हैं।

आशा यहाँ करण के लक्षण को समझने के लिये कारण को समझना आवश्यक है। कारण दो प्रकार का है एक साधारण दूसरा असाधारण। १. ईश्वर तथा उसके, २. ज्ञान, ३. इच्छा तथा ४. कृति को एवं ५. प्रागभाव, ६. आकाश, ७. काल और ८. दिक् इस प्रकार इन कुल

आठों को कार्य मात्र के प्रति साधारण कारण माना है। कहीं कहीं प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव को भी कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण माना गया है। इस प्रकार ९ साधारण कारण होते हैं।

असाधारण कारण को करण कहते हैं। तर्कभाषा में साधकतम को करण कहा है। अतिशयित साधक अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कारण साधकतम होने से करण कहलाता है। तर्कसंग्रह की नीलकंठी टीका में असाधारण का यह अर्थ किया है- **यद्विलम्बात्प्रकृत-कार्यानुत्पादस्तत्कारणत्वम्** अर्थात् जिसके न रहने पर कार्य की कभी भी उत्पत्ति न हो सके। वस्तुत: इतना होने पर भी कोई असाधारण कारण तब तक करण नहीं हो सकता जब तक उसमें व्यापार नहीं हो। यहाँ कारण स्वरूपयोग्यता है फलोपधायकता नहीं। प्रसंगवश इसको इस तरह से समझा जा सकता है कि प्रकारान्तर से कारणता के दो भेद हैं- (१) **स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणता** - ऐसा पदार्थ जो वर्तमान में कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता, प्रत्युत उसमें कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रहती है, वह पदार्थ अपने संभावित कार्य के प्रति स्वरूपयोग्यरूप से कारण होता है। उसमें रहने वाली कारणता ही स्वरूपयोग्यरूपा कारणता है। यथा घट के प्रति दण्ड कारण है, दण्ड वृक्ष की शाखा आदि से बनाया जाता है। अत: यह कहा जा सकता है कि जंगल में जो वृक्ष है उसमें दण्ड विद्यमान है। वह दण्ड यद्यपि वर्तमान में वृक्ष के रूप में विद्यमान होने के कारण पट की उत्पत्ति नहीं कर रहा है, लेकिन उस वृक्ष से दण्ड बनाकर घट की उत्पत्ति की जा सकती हैं अत: उस अरण्यस्थ दण्ड में घट के प्रति स्वरूपयोग्यत्व रूप कारणता विद्यमान है। (२) **फलोपदायकत्वरूपकारणता** - जो पदार्थ कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में कार्य के अधिकरण में विद्यमान रहे तथा कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध न हो वह उस कार्य के प्रति फलोपदायक कारण कहलाता है यथा घट के प्रति कुलाल के हाथ में विद्यमान दण्ड। दण्ड घट का असाधारण निमित्त कारण है और भ्रमी रूप व्यापारवान् भी है। इसी तरह ज्ञान के प्रति चक्षु करण है, क्योंकि उसमें सन्निकर्ष रूप व्यापार है। यदि व्यापारवत्त्व अनिवार्य न माना जाये तो चक्षु:सन्निकर्ष में भी कारणता आ जायेगी। किन्तु वन में स्थित दण्ड घट का करण नहीं हो सकता। यद्यपि यह परिभाषा वहां भी लागू होती है। अत: घट के बनाने में जो वस्तुत: लगे वही दण्ड घट का साधारण कारण होने से करण होगा, वन में स्थित दण्ड नहीं। अत: नैयायिक इस परिभाषा में व्यापारवत्त्वे सति जोड़ देते हैं। व्यापार का लक्षण **सिद्धान्तचन्द्रोदय** में यह दिया गया है- **द्रव्येतरत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनक:**, अर्थात् जो स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु द्रव्य का जन्य है और उसका जनक भी है। परशु जब वृक्ष को काटता है, तो करण होता है और परशु और लकड़ी का परस्पर संयोग व्यापार है क्योंकि वह परशु से उत्पन्न होता है, और छेदन की उत्पत्ति का कारण है। तर्कभाषा का यह उद्दरण भी द्रष्टव्य है- **तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापार:। यथा कुठारजन्य: कुठारदारुसंयोग: कुठारजन्यच्छिदाजनक:।** ऊपर द्रव्येतरत्वे सति इसलिये कहा गया है कि कपाल जोकि मध्यमावयवी है, अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न होता है, और घट को उत्पन्न करता है, व्यापार

न माना जाय, क्योंकि वह स्वयं भी द्रव्य है। पदकृत्य में विद्यमान व्यापार की परिभाषा में भी 'द्रव्यान्यत्वे सति' कहा गया है।

'यथार्थ अनुभव' को 'प्रमा' कहते हैं और इस यथार्थ अनुभव के 'करण' को 'प्रमाण' कहते हैं। इस यथार्थानुभवरूप प्रमा की उत्पत्ति ही प्रमाणरूप करण का साध्य या फल है।

पदकृत्यम्

असाधारणमिति। कालादिवारणायासाधारणमिति। व्यापारेऽतिव्याप्ति-वारणाय व्यापारवदित्यपि देयम्। व्यापारश्च-द्रव्यान्यत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः। ईश्वरेच्छादिवारणाय तज्जन्यत्वे सतीति। कुलालजन्यत्वे सति कुलालजन्यघटजनकत्वं कुलालपुत्रस्याप्यस्त्यतस्तत्रातिव्याप्तिवारणाय प्रथमं सत्यन्तम्। दण्डरूपादिवारणाय तज्जन्यजनक इति॥

कार्य मात्र के प्रति साधारण कारण काल में करण-लक्षण की अतिव्याप्तिवारण के लिए साधारण पद है। व्यापार भी सब कार्य की उत्पत्ति में एक जैसा नहीं होता अतः व्यापार में अतिव्याप्ति वारण के लिए व्यापारवत् पद भी देना चाहिये। व्यापार व्यापारवत् नहीं हो सकता। व्यापारवत् पद देने से ''व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्'' यह करण का लक्षण निष्पन्न हुआ। व्यापार का लक्षण है- जो द्रव्य से जन्य हो तथा कारण से उत्पन्न होते हुए कारण से उत्पन्न होने वाले घटादि का जनक हो, वह व्यापार कहलाता है। जैसे - चक्रभ्रमि क्रियारूप होने से द्रव्य से भिन्न है तथा दण्ड से उत्पन्न होती हुई दण्डजन्य घट की जनिका भी है, अतः चक्रभ्रमि को व्यापार कहते हैं। नित्य ईश्वरेच्छा में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'तज्जन्यत्वे सति' पद है। कुलाल से जन्य और कुलाल जन्य घट के प्रति जनक कुलाल पुत्र में अतिव्याप्ति वारण के लिए प्रथम सत्यन्त (द्रव्यान्यत्वे सति) पद है। तात्पर्य यह है कि व्यापार को द्रव्यान्य होना चाहिये। कुलालपुत्र भी द्रव्य है। अतः लक्षण की अतिव्याप्ति कुलाल पुत्र में नहीं होती। द्रव्य रूप में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'तज्जन्य जनकत्व' पद है। क्योंकि द्रव्यरूप द्रव्य से जन्य है और घट के कारण दण्ड से जन्य है।

तर्कदीपिका

करणलक्षणमाह - असाधारणेति। साधारणकारणे दिक्कालादावति-व्याप्तिवारणाय - असाधारणेति॥

कारणस्य किं लक्षणम्?

४०. कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्।

कार्य (उत्पन्न होने वाली वस्तु) के पूर्व जिसका रहना अनिवार्य हो (नियत हो) उसे कारण कहते हैं।

आशा किसी भी वस्तु की उत्पत्ति में जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वे सभी आवश्यक वस्तुयें उस वस्तु का कारण कहलाती हैं। जैसे घट को उत्पन्न करने अर्थात् बनाने

के लिये मिट्टी, कुलाल, चाक, दण्ड आदि की आवश्यकता होती है अत: ये सभी वस्तुयें घट का कारण कहलाती हैं। चूँकि ये सभी वस्तुयें घट की उत्पत्ति से पहले निश्चित रूप से घट की उत्पत्ति स्थल में विद्यमान होंगी तो ही घट बनेगा, अन्यथा घट नहीं बन सकता। अत: मूल में कारण को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि जिन पदार्थों की किसी वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व सत्ता निश्चित हो उन पदार्थों को उस वस्तु के प्रतिकारण कहते हैं। यहाँ पूर्व से तात्पर्य अव्यवहित पूर्व समझना चाहिये। इस प्रकार यह तय है कि कार्य से पहले कारण को होना ही चाहिए। किन्तु कारण के अतिरिक्त कार्य से पूर्व अन्य भी अनेक पदार्थ विद्यमान हो सकते हैं। यथा घट की उत्पत्ति स्थल कुम्भकार के घर में हमेशा ही घट की उत्पत्ति से पूर्व गधा, कुम्भकार के परिवार के लोग या अन्य वस्तुयें निश्चित रूप से रहती ही हैं। तब ये भी घट के प्रति कारण कहलाने लगेंगी। इस आपति के निराकरण हेतु कारण की इस परिभाषा में तर्कसंग्रह की दीपिका टीका तथा अन्य ग्रन्थों में 'अनन्यथासिद्ध' पद भी जोड़ा गया है, जो कि कारण के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है। इस प्रकार कारण का लक्षण होगा "जिसकी कार्योत्पत्ति से पूर्व सत्ता निश्चित हो और जो अन्यथा सिद्ध न हो उसको कारण कहते हैं :- **अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् अथवा यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोनन्यथासिद्धश्चतत्कारणम् यथा तन्तु वेमादिकं पटस्य कारणम्।**

अनन्यथासिद्ध पद का अर्थ है जो अन्यथासिद्ध न हो अर्थात् जो पदार्थ कार्योत्पत्ति से पहले निश्चित रूप से विद्यमान तो रहता है परन्तु वह उस कार्य के प्रतिकारण नहीं होता। चूँकि उसकी कार्योत्पत्ति से पूर्व सत्ता अन्य कारणों से होती है अत: वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है।

कारण के इस लक्षण में यदि 'नियत' पद न रखा जाये और 'कार्यपूर्ववृत्तिकारणम्' केवल इतना लक्षण ही रखा जाये तो कुम्हार जब घड़ा बनाता है उस समय वहाँ जो वस्तुएँ उपस्थित होंगी वे सभी घट के प्रति कारण कहलाने लगेंगी। जैसे यदि कोई देखने वाला पुरुष अथवा गर्दभ आदि कोई अन्य प्राणी वहाँ उपस्थित हो गया है तो घटोत्पत्ति के पूर्व उसकी भी सत्ता होने से उसमें कारण का लक्षण चला जायेगा। अतएव उसके वारण करने के लिए 'नियत:' पद रखा है। दैवात् आये हुए रासभ आदि की पूर्वसत्ता तो है परन्तु वह नियत नहीं है। अर्थात् जब-जब घड़ा बने तब तब रासभ आदि अवश्य उपस्थित हों यह आवश्यक नहीं है। इसलिए रासभ आदि में कारण का लक्षण नहीं जायेगा।

जो वस्तुयें कार्योत्पत्ति से अव्यवहित पूर्व निश्चित रूप से विद्यमान होती हैं परन्तु कार्य के प्रति कारण नहीं होती, उनमें कारण लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिये अनन्यथासिद्ध पद जोडा गया है। रासभादि पूर्वभावी होते हुए भी 'नियत पूर्वभावी' न होने से कारण नहीं कहलाते हैं। मिट्टी, कुम्भकार, चाक, दण्ड आदि तो घट के कारण हैं ही। पट की उत्पत्ति में तन्तु पट का कारण है। तब जहाँ तन्तु रहेगा वहाँ उसका रूप भी रहेगा। इसलिए जैसे तन्तु पट के प्रति कारण है इसी प्रकार नियत पूर्व भावी होने से तन्तुरूप भी पट के प्रति कारण हो सकता है, यह शङ्का उत्पन्न होती है। उसका समाधान यह किया है कि तन्तुरूप पट के प्रति

नहीं अपितु पट के रूप के प्रति कारण है, पट के प्रति तो वह 'अन्यथासिद्ध' होने से कारण नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि जो नियत पूर्वभावी होने पर 'अन्यथासिद्ध' न हो उसको कारण कहते हैं। तन्तुरूप पटरूप के प्रति तो कारण है परन्तु पट के प्रति कारण नहीं है। क्योंकि पटरूप के उत्पादन में ही तन्तु रूप का उपयोग समाप्त हो जाता है। अत: पट के प्रति वह 'अन्यथासिद्ध' होने से कारण नहीं है। विश्वनाथ ने कारिकावली में पाँच प्रकार के अन्यथासिद्ध प्रतिपादित किए हैं-

> **येन सह पूर्वभाव: कारणमादाय वा यस्य।**
> **अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥**
> **जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।**
> **अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविन:॥**
> **एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।**
> **घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥**
> **तृतीयन्तु भवेद्व्योम, कुलालजनकोऽपर:।**
> **पञ्चमो रासभादि: यस्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥**

(कारिकावली १९-२२)

१. 'येन सह पूर्वभाव:' जिस धर्म के सहित कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होता है वह धर्म कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। यह प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है। जैसे - दण्ड घट का कारण है। उसकी कारणता दण्डत्व धर्म विशिष्ट दण्ड में गृहीत होती है। अतएव दण्डत्व के साथ पूर्वभाव गृहीत होने से दण्डत्व घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। अन्यथासिद्ध का यह प्रथम भेद है।

२. 'कारणमादाय वा यस्य' यह द्वितीय अन्यथासिद्ध का लक्षण है। इसका तात्पर्य है कि जिसका कार्य के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वय व्यतिरेक न हो अपितु अपने कारण के द्वारा अन्वय व्यतिरेक हो वह अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे - घट के प्रति दण्डरूप का स्वत: अन्वय व्यतिरेक नहीं है अपितु अपने कारण दण्ड के द्वारा अन्वय व्यतिरेक होता है, अत: दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

३. 'अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्'। यह अन्यथासिद्ध के तृतीय भेद का लक्षण है। किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर ही जिसका कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत हो सके वह तृतीय अन्यथासिद्ध होता है। जैसे- आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। आकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। आकाश की सिद्धि शब्द के समवायिकारण के रूप में अनुमान द्वारा की जाती है। इसलिए अन्य अर्थात् शब्द के प्रति पूर्वभाव अर्थात् कारण के रूप में आकाश के सिद्ध होने पर ही उसकी घट के प्रति पूर्ववृत्तिता गृहीत हो सकती है। अत: आकाश, घटादि के प्रति अन्यथासिद्ध है।

४. 'जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते'। इसका अभिप्राय यह है कि कारण का जो कारण है वह चतुर्थ अन्यथासिद्ध होता है। जनक अर्थात् कारण के प्रति

पूर्ववृत्तिता अर्थात् कारणत्व के बिना जिसकी कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता गृहीत न हो, वह अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे कुम्भकार का पिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। कुम्भकार घट का कारण है और कुम्भकार का पिता कुम्भकार का कारण है अत: घट के प्रति कुम्भकार के पिता की कारणता कुम्भकार के प्रति उसकी कारणता के द्वारा ही मानी जा सकती है, सीधे रूप में कुम्भकार का पिता घट के प्रति कारण नहीं है, अत: अन्यथा सिद्ध है।

५. 'अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविन:'। यह पञ्चम प्रकार का अन्यथासिद्ध है। इसका आशय यह है कि नियतावश्यक पूर्वभावी से अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब पञ्चम अन्यथासिद्ध है। जैसे पटोत्पत्ति के प्रति दैवादागत रासभ। भाव यह है कि किसी कार्य की उत्पत्ति के समय भाग्यवश वहाँ कोई अन्य वस्तु उपस्थित हो या आ जाये, जिस वस्तु की उस कार्य की उत्पत्ति में आवश्यकता नहीं है तो वह अन्यथा सिद्ध कहलायेगी। जुलाहे द्वारा पट बनाते समय यदि वहाँ गधा आकर खड़ा हो जाये तो पट के प्रति पूर्ववर्ती तो होगा परन्तु नियतपूर्ववर्ती न होने से अन्यथा सिद्ध कहलायेगा। कारण के लक्षण में नियत पद अनायास उपस्थित होने वाले रासभादि में अतिव्याप्ति वारण के लिये ही दिया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि घट को बनाने के लिये मिट्टी लाने वाले गधे को घट के प्रति अन्यथासिद्ध कहना उचित नहीं होगा।

इस प्रकार **विश्वनाथ** ने पाँच प्रकार के 'अन्यथासिद्ध' दिखलाये हैं। परन्तु इनमें से 'पञ्चम' अन्यथासिद्ध ही सबसे मुख्य है। क्योंकि अन्य अन्यथासिद्धों का अन्तर्भाव भी उसमें हो सकता है। इसीलिये 'एतेष्वावश्यकस्त्वसौ' लिखकर उसकी महत्ता को सूचित किया गया है।

पदकृत्यम्

कार्येति। कार्यान्नियताऽवश्यम्भाविनी पूर्ववृत्ति: पूर्वक्षणवृत्तिर्यस्य तत्तथेत्यर्थ:। अनियतरासभादिवारणाय नियतेति। कार्यवारणाय पूर्वेति। दण्डत्वादिवारणायानन्यथासिद्धत्वविशेषणस्यावश्यकत्वेन तत एव रासभादिवारणसम्भवे नियतपदमनर्थकमेव। एवं चानन्यथासिद्धकार्यपूर्ववृत्ति कारणमितिफलितम्। अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धिशून्यत्वम्। अन्यथा-सिद्धिश्चावश्यक्लृप्त-नियतपूर्ववर्तिनैव कार्यसम्भवे तत्सहभूतत्वम्। यथाऽवश्य-क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिभिर्दण्डादिभिरेव घटरूपकार्यसम्भवे तत्सहभूतत्वं दण्डत्वादौ तदन्यथासिद्धम्॥

कार्य से नियत = अवश्यम्भाविनी है पूर्व वृत्तिता (पूर्व क्षण में रहना) जिसकी वह कार्यनियतपूर्ववृत्ति पद से कहा जाता है। रासभ में अतिव्याप्तिवारण के लिए नियत पद है। किसी घट की उत्पत्ति में पूर्ववृत्ति रासभ के होने पर भी घट मात्र की उत्पत्ति के पूर्व रासभ का रहना नियत नहीं है। कार्य में कारण लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए पूर्वपद है। दण्ड में रहने वाला दण्डत्व भी घटकार्य के नियत पूर्ववृत्ति है, अत: उसमें घट के प्रति कारणता का

वारण करने के लिये 'अनन्यथासिद्धत्व' विशेषण लगाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में रासभ में भी इसी विशेषण से घटकारणता का वारण हो जायेगा। अत: नियद पद वस्तुत: व्यर्थ है। तब लक्षण का निष्कर्ष यह हुआ-अनन्यथासिद्ध हो और कार्य के पूर्ववृत्ति हो, वह कारण है। अनन्यथा सिद्धत्व का अर्थ है - अन्यथासिद्धि से शून्य। अन्यथासिद्धि का अर्थ है कि अवश्य रूप में स्वीकार किए गए हों और जिनके कार्य से नियत पूर्ववर्ती होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती हो उन कारणों के साथ स्वभावत: रहने वाले पदार्थ उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध हैं। जैसे अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववृत्ति दण्ड से ही घट की उत्पत्ति बन जाने से दण्ड के साथ रहने वाले दण्डत्व और दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

तर्कदीपिका

कारणलक्षणमाह - कार्येति। 'पूर्ववृत्ति कारणम्' इत्युक्ते रासभादावतिव्याप्तिः स्यादतो नियतेति। तावन्मात्रे कृते कार्येऽतिव्याप्तिरतः पूर्ववृत्तीति॥ ननु तन्तुरूपमपि पटं प्रति कारणं स्यादिति चेत्, - न; अनन्यथासिद्धत्वे सतीति विशेषणात्। अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धिविरहः। अन्यथासिद्धिश्च त्रिविधा। येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तेन तदन्यथासिद्धम्। यथा तन्तुना तन्तुरूपं, तन्तुत्वं च पटं प्रति। अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तदन्यथासिद्धम्। यथा शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव घटं प्रत्याकाशस्य, अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनैव कार्यसंभवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्। यथा पाकजस्थले गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य। एवं चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्॥ (पूर्ण लक्षण)

कार्यस्य किं लक्षणम्?

४१. कार्यं प्रागभावप्रतियोगी।

प्रागभाव का प्रतियोगी कार्य कहलाता है।

आशा प्रागभाव का प्रतियोगी कार्य है। कार्य के इस लक्षण में प्रतियोगी शब्द का प्रयोग किया गया है। अत: इस लक्षण को अच्छी तरह से समझने के लिये प्रतियोगी शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है।

'प्रतियोग' शब्द का सामान्य अर्थ विरोध है। विरोध जिनमें होता है वे सभी समान रूप से प्रतियोगी कहलाते हैं, जैसे किसी भी स्पर्धा में भाग लेने वाले सभी स्पर्धक एक-दूसरे के प्रतियोगी कहलाते हैं। परन्तु नव्य-न्याय में 'प्रतियोग' यह पारिभाषिक शब्द है और यहाँ जिन दो (वस्तु या पदार्थों) में 'विरोध' बताया जाता है उनमें से एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी कहलाता है। 'प्रतियोगिन्' शब्द के बाद भावार्थक 'त्व' लगाने से प्रतियोगित्व तथा 'तन्' प्रत्यय लगाने से प्रतियोगिता शब्द निष्पन्न होता है। 'प्रतियोगित्व' तथा 'प्रतियोगिता' स्थूल रूप से समानार्थक शब्द है। नव्यन्याय में 'प्रतियोगिता' शब्द का प्रयोग अत्यधिक पाया जाता है। नव्यन्याय के द्वारा स्वीकृत कई पदार्थों की व्याख्या इसी शब्द के आधार पर की

जाती है। अतः 'प्रतियोगिता' शब्द का क्या अर्थ है और उसका पदार्थों के स्वरूप के स्पष्टीकरण में किस प्रकार प्रयोग किया जाता है, यह समझना आवश्यक हो जाता है।

नव्यन्याय में प्रतियोगिता मुख्यतः दो प्रकार की स्वीकार की गयी है- सांसर्गिक प्रतियोगिता (संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध के आधार पर स्पष्ट की जाने वाली) और अभावीय प्रतियोगिता (अभाव के आधार पर स्पष्ट की जाने वाली)। सामान्य रूप से प्रतियोगी शब्द विरोधी के अर्थ में रूढ होने पर भी नव्यन्याय में यह शब्द अभाव के विरोधी (यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय के मतानुसार प्रत्येक कार्य उसके प्रागभाव का प्रतियोगी माना जाता है।) तथा सम्बन्ध के सम्बन्धी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ एक तो अभाव के द्वारा उसके विरोधी पदार्थ के अथवा सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धी के निरूपित किये जाने से तात्पर्य है। इसलिये प्रतियोगी के स्वरूप या धर्म के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'प्रतियोगिता' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं : सांसर्गिक (सम्बन्ध के द्वारा निरूपित) प्रतियोगिता तथा अभावीय (अभाव के द्वारा निरूपित होनेवाली) प्रतियोगिता। सांसर्गिक प्रतियोगिता से तात्पर्य है सम्बन्ध के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला पदार्थ का धर्म या प्रतियोगिता, तथा अभावीय प्रतियोगिता से तात्पर्य है अभाव के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला पदार्थ का धर्म या प्रतियोगिता। यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्यायमतानुसार किसी भी धर्मी का ज्ञान उसके धर्मों के द्वारा होता है। लेकिन जिन धर्मों के द्वारा इस प्रकार का ज्ञान होता है वे एक तो अभाव के द्वारा अभिव्यक्त हुए हों या सम्बन्ध के द्वारा। अर्थात् धर्मी के धर्म का जो ज्ञान हमें होता है, वह उक्त धर्म एक तो अभाव के द्वारा निरूपित किया जाने से होता है या संबंध के द्वारा। इसलिए अभावीय तथा सांसर्गिक प्रतियोगिता अर्थात् धर्म का न्यायशास्त्र में अत्यधिक महत्त्व है।

कार्य के उपर्युक्त लक्षण में 'प्रतियोगी' पद अभाव के विरोधी के संदर्भ में प्रयुक्त है। कार्य एवं उसका अभाव (प्रतियोगी) एक साथ नहीं रहते अतः कार्य को उसके अभाव (प्रागभाव) के प्रतियोगी के रूप में परिभाषित किया गया है। दूसरे शब्दों में कार्य वह है जिसका प्रारम्भ हो। प्रागभाव अनादि होता है किन्तु अनन्त नहीं होता। प्रागभाव स्वयं अपना प्रतियोगी नहीं हो सकता, अतः वह कार्य नहीं है।

कार्य-कारणभाव - भारतीय दर्शन में कार्य-कारणभाव का विचार बहुत प्राचीन है। इसके सम्बन्ध में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से समय-समय पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में विचारणीय विषय है- कार्य और कारण में क्या सम्बन्ध है? 'कार्य' कारण में ही अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है या सर्वथा कारण से भिन्न है और इसकी नयी उत्पत्ति होती है? दर्शनों में इन प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया गया है।

इसके संदर्भ में मुख्यतः चार मत पाये जाते हैं - १. असत् से सत् की उत्पत्ति २. सत् से असत् की उत्पत्ति ३. सत से सत् की उत्पत्ति ४. एक मात्र सत पदार्थ का विवर्त।

प्रथम पक्ष बौद्धों का है। इनके अनुसार कारण से कार्यवस्तु तभी उत्पन्न हो सकती है, जब कारण-वस्तु असत् अर्थात् विनष्ट हो जाती है। वस्तु के वर्तमान होने के समय तक अन्य वस्तु उत्पन्न हो ही नहीं सकती।

द्वितीय मत न्याय-वैशेषिक का '**असत्कार्यवाद**' है। इनके मत से सत् से असत् की उत्पत्ति होती है। ये कार्य और कारण को दो भिन्न वस्तुयें मानते हैं, क्योंकि कारण, कार्य का उत्पादक है। 'कार्योत्पादकत्वं कारणत्वम्'। जैसे मृतिका से घट उत्पन्न होता है। यहाँ मिट्टी कारण और घड़ा कार्य है। मिट्टी और घड़े का अस्तित्व अलग-अलग है, क्योंकि एक कार्य है और दूसरा कारण। ये उत्पत्ति से पूर्व कार्य को कारण में असत् मानते हैं-कार्य का अस्तित्व नहीं मानते, बल्कि कार्य का नवीन आरम्भ या नई सृष्टि मानते हैं। कार्य की सृष्टि होने पर प्रागभाव ध्वस्त हो जाता है। कारण और कार्य को एक मान लेने पर उसकी उत्पत्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं होना चाहिए। इसके लिए वे निम्न तर्क देते हैं-

(१) यदि कार्य पहले से ही कारण में विद्यमान रहता है तो दिखाई क्यों नहीं देता?

(२) यदि कार्य और कारण अलग-अलग नहीं है तो मृत्तिका से घट का कार्य क्यों नहीं कर लिया जाता?

(३) घड़े के निर्माण के लिए कुम्हार की क्या आवश्यकता है?

अत: कार्य, कारण से सर्वथा पृथक् है और उसका नवीन प्रादुर्भाव होता है। इन्होंने परमाणु आदि में पूर्वत: अविद्यमान द्वयणुक आदि कारण से सृष्टि का नवीन आरम्भ माना है।

निष्कर्षत: **असत्यकार्यवाद** के अनुसार 'कार्य' 'कारण' से सर्वथा भिन्न है। वह किसी रूप में कारण में नहीं रहता। उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का 'प्रागभाव' कारण में है तथा नाश होने के पश्चात् उसका 'ध्वंसाभाव' हो जाता है। परन्तु यह सत्य है कि 'कार्य' 'समवाय-सम्बन्ध' के द्वारा कारण में सदैव रहता है। 'समवाय-सम्बन्ध' नित्य है। अत: जब कभी कार्य उत्पन्न होता है, तब वह 'समवाय-सम्बन्ध' से अपने 'समवायि-कारण' में ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। यह उन दोनों वस्तुओं का अपना 'स्वभाव' है। घट जब कभी उत्पन्न होता है, तब वह मृत्तिका में ही उत्पन्न होता है। यह घट और मृत्तिका का अपना 'स्वभाव' है। अतएव ये लोग एक प्रकार से कार्य को अपने समवायि-कारण के साथ नित्य रूप में सम्बद्ध मान कर भी उससे कार्य को सर्वथा भिन्न मानते हैं।

तृतीय मत सांख्य का है। इनके मतानुसार सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य, अपने कारण में पहले से ही अव्यक्त अवस्था में रहता है, जो व्यक्त होने पर कारण से भिन्न प्रतीत होने लगता है। वस्तुत: कारण और कार्य में भेद नहीं है। कारण का परिणाम ही कार्य है- इसी परिणाम से कारण और कार्य का स्वरूप-भेद हो जाता है-यही 'सत्कार्यवाद' है।

चतुर्थ मत वेदान्तियों का है। इनके अनुसार सत् कारण, असत् कार्य में भासित होता है, वास्तविक नहीं होता। इनके अनुसार कारण, अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना ही दूसरे रूप में प्रतीत होने लगता है। जैसे-रस्सी अपने स्वरूप को छोड़े बिना ही सर्प के रूप में प्रतीत होने लगती है। रस्सी की सर्प रूप में प्रतीति ही 'विवर्त' है।

सांख्य और नैयायिकों के सिद्धान्तों में, जिन्हें क्रमश: सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद कहा गया है, तीव्र प्रतिस्पर्द्धा है। अन्नम्भट्ट ने जो कार्य की परिभाषा दी है, उसमें असत्कार्यवाद स्पष्ट है। कार्य प्रागभाव का प्रतियोगी है और उत्पत्ति से पहले उसकी कोई स्थिति नहीं होती।

पदकृत्यम्

प्रागभावेति। कालादिवारणाय प्रागिति। असम्भवारणाय प्रतियोगीति।

प्राक्पद न देने पर अभाव पद से अन्योन्याभाव भी गृहीत हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होने से काल आदि में कार्यलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। प्राक्पद देने पर तो काल का प्रागभाव नहीं होने से प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षण काल में अतिप्रसक्त नहीं हुआ। प्रतियोगी शब्द का अर्थ है विरोधी। प्रतियोगी शब्द न देने पर 'प्रागभाव का' जो अविरोधी हो वह कार्य है, ऐसा लक्षण हो जायगा, जो असंभवदोष से ग्रस्त है। क्योंकि कोई भी कार्य प्रागभाव का अविरोधी नहीं होता किन्तु विरोधी ही होता है। अत: प्रतियोगी पद देना आवश्यक है।

तर्कदीपिका

कार्यलक्षणमाह - कार्यमिति॥

कारणं कतिविधम्?

४२. कारणं त्रिविधं-समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्।

कारण तीन प्रकार का है : समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण।

आशा पूर्व में कारण के दो भेद बताये गये हैं :- साधारण कारण तथा असाधारण कारण। कारण के उपर्युक्त तीन भेद असाधारण कारण के भेद हैं। अब क्रमश: इनका विवेचन करते हैं।

तर्कदीपिका

कारणं विभजते - कारणमिति।

समवायिकारणस्य किं लक्षणम्?

४३. यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तव: पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादे:।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से जो कोई कार्य उत्पन्न हो वह द्रव्य उस कार्य के प्रति समवायिकारण है। जैसे तन्तु पट का समवायिकारण है तथा पट स्वगत रूप के प्रति समवायि कारण है।

आशा जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है उसको 'समवायिकारण' कहते हैं। जैसे - तन्तु पट के समवायि कारण हैं। क्योंकि तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न

होता है, तुरी आदि में नहीं। आशय यह है कि पट की उत्पत्ति के प्रति 'तुरी' 'तन्तु' 'वेमा' आदि अनेक वस्तुएँ कारण हैं। परन्तु उनमें से समवायि कारण केवल तन्तु ही है। 'तुरी' 'वेमा' आदि पट के समवायि नहीं अपितु निमित्त कारण होते हैं।

यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि तन्तु के साथ सम्बन्ध के समान तुरी आदि के साथ भी पट का सम्बन्ध है दोनों ही पट के कारण भी हैं, तब फिर क्यों तंतुओं में ही समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है और तुरी आदि में क्यों नहीं? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि सम्बन्ध दो प्रकार का होता है एक संयोग और दूसरा समवाय। उनमें से दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय होता है और जो पदार्थ अयुतसिद्ध नहीं है उनका तो संयोग सम्बन्ध ही होता है, समवाय नहीं। इनमें से तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं इसलिए उनका सम्बन्ध समवाय है और तुरी पट अयुतसिद्ध नहीं है अत: उनका संयोग सम्बन्ध है। अत: तन्तु ही पट का समवायि कारण है। तुरी पट का समवायि कारण नहीं अपितु निमित्त कारण मात्र है।

तन्तु और पट परस्पर अयुतसिद्ध हैं परन्तु तुरी और पट परस्पर अयुतसिद्ध नहीं हैं, ऐसा क्यों? इसका उत्तर है कि **जिन दो में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता है वे दोनों ही परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं।** जैसे - १. 'अवयव-अवयवी', २. 'गुण-गुणी', ३. 'क्रिया-क्रियावान्', ४. 'जाति और व्यक्ति' तथा ५. 'नित्यद्रव्य और विशेष'।

तन्तु और पट भी क्रमश: अवयव और अवयवी हैं, इसलिए वे अयुतसिद्ध हैं। अयुतसिद्ध होने से उनका सम्बन्ध समवाय है। तुरी और पट अयुतसिद्ध नहीं है अत: उनका समवायसम्बन्ध नहीं है। तुरी और पट अयुतसिद्ध इसलिए नहीं हैं कि न तो तुरी पट के आश्रित ही रहती है और न पट तुरी के आश्रित ही रहता है। अत: (अयुतसिद्ध न होने से) उन दोनों का सम्बन्ध संयोग ही है। इस प्रकार यह निष्कर्ष हुआ कि तन्तु और पट के अयुतसिद्ध होने से तन्तु में पट समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला है। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति होती है वह समवायि कारण कहलाता है। इसलिए तन्तु ही पट का समवायि कारण है तुरी आदि नहीं।

पट अपने में रहने वाले रूप आदि गुणों का समवायि कारण है। क्योंकि गुण-गुणी भी अयुतसिद्ध हैं यह पूर्व में कह दिया गया है। **यह द्वितीय उदाहरण गुणों के उत्पत्तिक्रम के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक के एक विशेष सिद्धान्त को सूचित करता है।** साधारणत: यह प्रतीत होता है कि गुण और गुणी इन दोनों की उत्पत्ति एक साथ होती है। जिस समय पट उत्पन्न होता है उसी समय पट के रूपादि गुण भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए उनमें कार्य कारण भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि कार्य कारण भाव के लिए पौर्वापर्य आवश्यक है। जैसा कि 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' और 'अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वन्' इन कारण और कार्य के लक्षणों से भी उनका पौर्वापर्य सूचित होता है। अत: 'गुण और गुणी का समानकालीन जन्म होने से गुणी को गुणों

का समवायि कारण नहीं कहा जा सकता है।' इसका उत्तर न्याय-वैशेषिक दर्शन यह देते हैं कि प्रथम चरण में निर्गुण पट उत्पन्न होता है और अगले क्षणमें उसमें रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार गुणी और गुणों की उत्पत्ति में पौर्वापर्य बन जाता है और गुणी गण का समवायि कारण होता है। इस सिद्धांतपक्ष को द्वितीय उदाहरण सूचित करता है।

'अयुतसिद्ध' के विस्तृत विवेचन हेतु समवाय प्रकरण द्रष्टव्य है।

पदकृत्यम्

यदिति। यस्मिन्समवायसम्बन्धेन वर्तमानं कार्यमुत्पद्यते तदित्यर्थ:। चक्रादिवारणाय समवेतमिति।

जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण है। कपाल में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर घट उत्पन्न होता है अत: घट के प्रति कपाल समवायिकारण है। यदि 'जिसमें कार्य उत्पन्न हो उसे समवायिकारण कहते हैं' इतना ही लक्षण किया जाये और समवेत पद न दिया जाये तो चक्रादि में संयोगेन वर्तमान होकर घटादिकार्य उत्पन्न होता है, अत: चक्रादि में घटादिसमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति होगी। इसका वारण करने के लिये समवेत पद दिया है।

तर्कदीपिका

समवायिकारणस्य लक्षणमाह - यत्समवेतमिति। यस्मिन्समवेतमित्यर्थ:।

<u>असमवायिकारणस्य किं लक्षणम्, किञ्चोदाहरणम्?</u>

४४. कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणम-समवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोग: पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य।

कार्य अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर जो कारण हो वह असमवायि कारण है। जैसे तन्तु संयोग पट के प्रति असमवायिकारण है। तन्तुरूप पटरूप के प्रति असमवायिकारण है।

आशा मूल में कहा गया है कि जो कार्य अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहते हुये जो कारण हो वह असमवायिकारण होता है अर्थात् जो समवायिकारण में रहता हो और कार्योत्पादन में जिसकी सामर्थ्य निश्चित हो अर्थात जिसमें 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' यह कारण का लक्षण घटता हो उसको असमवायिकारण कहते हैं। जैसे तन्तुसंयोग पट का असमवायि कारण है। तन्तुसंयोग पट के समवायिकारण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता है अत: उसकी पट के समवायिकारण में प्रत्यासत्ति है और पट के प्रति अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व रूप कारण लक्षण से (तन्तुसंयोग) युक्त होने से पट के प्रति कारण भी है। अत: तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। इसी प्रकार तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है।

समवायिकारण में असमवायिकारण की विद्यमानता अर्थात् प्रत्यासत्ति साक्षात् तथा परम्परया दो प्रकार से मानी जा सकती है। इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के विशेष

प्रयोजन से असमवायिकारण का यह दूसरा उदाहरण दिया गया है। इसका विवेचन इस प्रकार है कि समवायिकारण में असमवायिकारण की प्रत्यासत्ति साक्षात् और परम्परया दो प्रकार से हो सकती है। कोई धर्म कार्य के साथ एक ही अर्थ में रहने से समवायिकारण में प्रत्यासन्न कहा जाता है। जैसे तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। वह पट के समवायिकारण तन्तुओं में कार्यभूत पट के साथ साक्षात् एकार्थ समवेत है। अर्थात् पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में रहता है तथा उन्हीं तन्तुओं में तन्तुसंयोगरूप गुण भी रहता है। इसलिए तन्तुसंयोग साक्षात् कार्यरूप पट के साथ तन्तुरूप एक अर्थ में समवेत है। प्रकार की प्रत्यासत्ति को साक्षात् प्रत्यासत्ति कहते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' अर्थात् कार्य पट के साथ कारण तन्तुसंयोग की एक अर्थ तन्तु में प्रत्यासत्ति भी कहते हैं। मूल में 'कार्येण' पद से यही सूचित किया गया है।

दूसरे प्रकार की प्रत्यासत्ति को 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' अथवा परम्परया प्रत्यासत्ति भी कहते हैं। जो धर्म कार्य के साथ नहीं अपितु कारण के साथ एक अर्थ में प्रत्यासन्न हो उसको 'कारणैकार्थप्रत्यासन्न' कहेंगे। जैसे 'तन्तुरूप' कार्यभूत 'पट-रूप' के साथ नहीं अपितु पट-रूप के कारण पट के साथ एक अर्थ तन्तु में प्रत्यासन्न है। अर्थात् पटरूप का कारण पट है, वह अपने समवायिकारण तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है। उसी 'तन्तु' गुणी में 'तन्तुरूप' गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिये 'तन्तुरूप' और 'पट' दोनों तन्तुओं में प्रत्यासन्न हुए। इस प्रकार 'तन्तुरूप' यद्यपि 'पट रूप' के साथ एकार्थ समवेत नहीं है परन्तु 'पटरूप' के कारण पट के साथ 'तन्तुस्वरूप' एकार्थ में समवेत है, इसलिए उसे भी परम्परया समवायिकारण में प्रत्यासन्न मान कर 'तन्तुरूप' को 'पटरूप' का असमवायिकारण कहा जा सकता है।

समवायिकारण केवल द्रव्य ही होगा, द्रव्य के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ समवायिकारण नहीं हो सकता और असमवायिकारण होना गुण तथा कर्म पदार्थों का ही साधर्म्य है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि **असमवायिकारण गुण और कर्म ही होते हैं** इनके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का समवायिकारण 'द्रव्य' ही होता है। वह 'द्रव्य' कभी भी असमवायिकारण नहीं होता और सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव तो किसी के भी कारण नहीं होते। असमवायिकारण केवल गुण-कर्म ही होते हैं। यथा पूर्वोक्त उदाहरणों में घट का असमवायिकारण 'तन्तुसंयोग' तथा पटरूप का असमवायिकारण 'तन्तुरूप' होता है। संयोग और रूप ये दोनों असमवायिकारण 'गुण' हैं। इसी तरह कर्म (क्रिया) भी संयोग-विभाग का असमवायिकारण होता है। कोई पक्षी उड़कर वृक्ष पर बैठता है, तब 'पक्षीवृक्षसंयोग' रूपी कार्य का असमवायिकारण पक्षी की 'उड्डयन क्रिया' है, क्योंकि उस संयोग का समवायिकारण वृक्ष और पक्षी दोनो हैं। उनमें से एक समवायिकारण पक्षी में क्रिया उड्डयन समवेत है, इस रीति से पक्षी में संयोगरूपकार्य और उसका असमवायिकारण कर्म दोनों वर्तमान (प्रत्यासन्न) हैं।

पदकृत्यम्

कार्येणेति। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति आत्मविशेषगुणभिन्नत्वे सति यत् कारणं तदसमवायिकारणम्। तन्तुसंयोगादावव्याप्तिवारणाय कार्येणेति। तन्तुरूपादावव्याप्तिवारणाय कारणेनेति। आत्मविशेषगुणे- ऽतिव्याप्तिवारणायात्मविशेषगुणभिन्नत्वे सतीति। विशेषवारणाय कारणमिति।

जो कार्य अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवेत होकर तथा आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न होकर कारण हो वह असमवायिकारण है। "कार्येण" पद न दिया जाय तो तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण नहीं हो सकेगा। क्योंकि तन्तुसंयोग पटकारणीभूत तन्तु के साथ एक जगह समवायसम्बन्ध से नहीं रहता है। कार्यपद देने पर तो पटात्मक कार्य के साथ वह तन्तु में रहता है, अतः तन्तुसंयोग में लक्षण की अव्याप्ति नहीं हुई। तन्तु का रूप पटरूपात्मक कार्य के प्रति असमवायिकारण होता है। किन्तु कार्य के साथ एक जगह नहीं रहता है, क्योंकि पटरूपात्मककार्य पट में रहता है और तन्तुरूप तन्तु में रहता है। अतः तन्तु रूप में असमवायिकरणलक्षण की अव्याप्ति हो गयी। कारणपद देने से उसका वारण हो गया। क्योंकि तन्तुरूप पटरूप के साथ भले ही एक जगह न रहे किन्तु पटरूप का कारण जो पट है, उसके साथ तो तन्तु में तन्तुरूप भी रहता ही है। अतः अव्याप्ति नहीं हुई।' आत्मा में रहने वाले विशेषगुण (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म और संस्कार) किसी के प्रति असमवायिकारण नहीं होते हैं।' अतः 'आत्मविशेषगुणभिन्नत्वे सति' पद लक्षण में दिया है। नित्य द्रव्यों (परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन) में रहने वाले विशेष पदार्थ में अतिव्याप्ति वारण के लिए कारण पद है। द्व्यणुकरूपकार्य के साथ परमाणु में विशेष पदार्थ भी समवायसम्बन्ध से रहता है, अतः विशेष भी द्व्यणुक के प्रति असमवायिकरण होने लगेगा इस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये कारणपद दिया है, क्योंकि द्व्यणुक के प्रति विशेष कारण ही नहीं होता है।

तर्कदीपिका

असमवायिकारणं लक्षयति - कार्येणेति। कार्येणेत्येतदुदाहरति - तन्तुसंयोग इति। कार्येण पटेनैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणमित्यर्थः। कारणेन सहेत्येतदुदाहरति - तन्तुरूपमिति। कारणेन पटेन सहैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारण- मित्यर्थः।

<u>निमित्तकारणस्य किं लक्षणम्? किञ्चोदाहरणम्?</u>

४५. तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।

इन दोनों समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न कारण को निमित्तकारण कहते हैं। जैसे कार्य पट के प्रति तुरी, वेमा आदि (पट बनाने के साधन) निमित्तकारण हैं।

आशा समवायिकारण तथा असमवायिकारण इन दोनों से भिन्न जो कारण, वह 'निमित्तकारण' नाम का तृतीय कारण है। जैसे – घट के प्रति दण्ड आदि और पट के प्रति तुरी, वेमा आदि निमित्तकारण हैं (सूत्रवेष्टित नली को 'तुरी', और बुनने के दण्डे को 'वेमा' कहते हैं)।

विशेष – ऊपर वर्णित तीनों प्रकार के समवायि, असमवायि और निमित्त कारण, भाव अर्थात् सत् पदार्थों के ही होते हैं। अभाव का तो केवल एक निमित कारण ही होता है क्योंकि अभाव का कहीं भी किसी भी पदार्थ के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं होता, अत: कोई भी पदार्थ उसका समवायिकरण नहीं हो सकता। इस प्रकार अभाव का जब कोई पदार्थ समवायिकारण ही नहीं हो सकता तब उसका असमवायिकारण भी नहीं हो सकता है। इसलिए अभाव का केवल निमित्तकारण ही होता है। समवाय केवल दो भाव पदार्थों का ही धर्म होता है,। अभाव का किसी से समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस कारण से अभाव के समवायि अथवा असमवायिकारण नहीं बन सकने से अभाव का केवल एक निमित्तकारण ही होता है। त्रिविध कारण केवल भाव पदार्थों के होते हैं, अभाव के नहीं।

पूर्व में ईश्वर, उसका ज्ञान इत्यादि साधारण कारण बताये गये हैं वे साधारण निमित्त कारण हैं तथा असाधारण निमित्तकारण सभी कार्यों के पृथक् पृथक् होते हैं। इस प्रकार निमित्त कारण के दो भेद किये जा सकते हैं :- साधारणनिमित्तकारण तथा असाधारणनिमित्तकारण।

कारणों की सामान्य विशेषताएँ – कारणों की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं :-

(१) **केवल द्रव्य ही समवायिकारण होता है।**

(२) **गुण और क्रिया ये ही दोनों असमवायिकारण होते हैं।**

(३) **कभी-कभी समवायिकारण के नाश से, और असमवायिकारण के नाश से तो सदैव, कार्य का नाश होता है।**

(४) **ईश्वर के सभी 'विशेष-गुण' निमित्तकारण हैं।**

(५) **अभाव का एकमात्र कारण है– निमित्तकारण।**

(६) **'निमित्तकारण' कार्य को उत्पन्न कर उससे पृथक् हो जाता है।**

पदकृत्यम्

तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणमिति। समवाय्यसमवायिकारणवारणाय तदुभयभिन्नमिति। विशेषादावतिव्याप्तिवारणाय कारणमिति।

समवायिकारण और असमवायिकारण में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'तदुभयभिन्नम्' पद दिया है। विशेष, अणुपरिमाण और अतीन्द्रिय सामान्य में अतिव्याप्ति वारण के लिए कारण पद है। क्योंकि विशेष आदि किसी के कारण नहीं हैं।

तर्कदीपिका

निमित्तकारणं लक्षयति - तदुभयेति। समवाय्यसमवायिभिन्नं कारणं निमित्तकारणमित्यर्थः॥

करणस्य निष्कृष्टलक्षणं किम्?

४६. तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम्।

इन तीनों (समवायि, असमवायि और निमित्त) कारणों में से जो असाधारण कारण हो उसे करण कहते हैं।

आशा त्रिविध कारण में से जो कारण किसी प्रकार से भी अन्यों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट (उपकारक) कारण है, वही करण कहलाता है।

पदकृत्यम्

तदेतदिति। यस्मात्करणत्वघटकं कारणमुपदर्शितं तस्मादेतत्त्रिविधसाधकमध्ये यत्साधकतमं तदेव करणमिति भावः॥ इति करणप्रपञ्चः।

क्योंकि करण के लक्षण में कारण घटकतया प्रविष्ट है अतः इन तीन प्रकार के साधकों में से जो साधकतम है वह ही करण है।

तर्कदीपिका

करणलक्षणमुपसंहरति - तदेतदिति॥

प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणं किम्?

४७. तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्।

इन चार प्रमाणों में से प्रत्यक्षज्ञान के असाधारण कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

आशा प्रत्यक्ष शब्द 'प्रति' शब्द और 'अक्ष' शब्द से 'प्रतिगतम् अक्षि' या 'अक्ष्याक्षिप्रति वर्त्तते' इन दोनों व्युत्पत्तियों के द्वारा निष्पन्न होता है। प्रकृत में अर्थ के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष शब्द से अभीष्ट है। अर्थात् विषय के साथ सम्बद्ध इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रमाण के द्वारा उत्पन्न यथार्थ ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' रूप प्रमिति है। फलतः इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो वह है प्रत्यक्ष-प्रमिति और इस प्रमिति का कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जो किसी व्यापार के द्वारा कार्य को उत्पन्न करता है वही कारणों के बीच करण नाम का कारण है। परन्तु जो कारण किसी व्यापार की अपेक्षा नहीं करके कार्य को उत्पन्न करता है वह व्यापाररहित चरम कारण करण नहीं है। अतएव विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध विशेषरूप जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष वह प्रत्यक्ष प्रमा का करण नहीं होने से प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। किन्तु वही इन्द्रिय वहीं पर प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि पूर्वोक्त इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष उक्त इन्द्रिय का व्यापार है उसके द्वारा वही इन्द्रिय उस प्रत्यक्ष का कारण होती है। अतः 'चक्षुषा पश्यति' 'घ्राणेन जिघ्रति' इत्यादि प्रयोग में चक्षुरादि इन्द्रिय ही दर्शन आदि

प्रत्यक्ष के करण के रूप में कहे जाते हैं। क्योंकि जिसके व्यापार के बाद क्रिया की निष्पति विवक्षित है वही करण है। **वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कहा भी है- 'क्रियाया: परिनिष्पत्ति यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते तदा तत्र करणं तत् प्रकीर्तितम्।'** चूँकि प्रत्यक्षज्ञान का करण हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन हैं अत: ये ही प्रत्यक्षप्रमाण कहलाते हैं और इनसे उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान या प्रमिति कहलाता है।

ध्यातव्य -'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग मुख्यत: प्रत्यक्ष प्रमा के 'करण' के लिए होना चाहिए। परन्तु उस करण से उत्पन्न होने वाली प्रमा जो उस प्रमाण का फल है वह भी 'प्रत्यक्ष' नाम से व्यवहार में कही जाती है। अन्य प्रमाणों में तो फल और करण में अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। जैसे अनुमान प्रमाण के फल के लिए अनुमिति, उपमान प्रमाण के फल के लिए उपमिति, शब्द प्रमाण के फल के लिए शाब्दबोध, शब्दों का प्रयोग प्राय: होता है। इसलिए उनमें 'प्रमाण' और 'प्रमा' का व्यवहार भिन्न-भिन्न शब्दों से होता है। परन्तु प्रत्यक्ष स्थल में प्रमाण और प्रमा दोनों के लिए ही प्रत्यक्ष पद का प्रयोग होता है। इसलिए यथास्थान उसका उचित अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उपर्युक्त मूलोक्त पंक्ति में 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग प्रत्यक्षप्रमाण के लिये किया गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के करण को प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं।

पदकृत्यम्

तत्रेति। प्रमाणचतुष्टयमध्ये। दण्डादिवारणाय ज्ञानेति। अनुमानादिवारणाय प्रत्यक्षेति।

तत्र = चार प्रमाणों के मध्य में। दण्डादि भी घटादि के प्रति करण होता है, अत: उसमें प्रत्यक्ष लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, एतदर्थ ज्ञानपद दिया। क्योंकि दण्ड ज्ञान का करण नहीं है। 'ज्ञानकरणं' में मात्र लक्षण मानने पर अनुमान आदि में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वे भी अनुमिति आदि के करण हैं अत: प्रत्यक्ष पद है।

तर्कदीपिका

प्रत्यक्षलक्षणमाह - तत्रेति। प्रमाणचतुष्टयमध्य इत्यर्थ:।

<u>प्रत्यक्षज्ञानलक्षणं किम्?</u>

४८. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् (ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्)।

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से जन्य ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं (अथवा जिस ज्ञान में अन्य ज्ञान करण न हो उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं)।

आशा इन्द्रिय शब्द से घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र तथा मन ये छ: इन्द्रियों समझनी चाहिये। अर्थ शब्द से उन सब इन्द्रियों के ग्राह्य अलग-अलग विषय समझने चाहिये। इन्द्रिय के द्वारा ग्रहणीय विषय के साथ उसके इन्द्रियग्राहकविशेष का जो सन्निकर्षसम्बन्धविशेष है, वही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है। उक्त इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जो अव्यभिचारी ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है उसी का नाम प्रत्यक्ष प्रमा है। जैसे-किसी पुस्तक का साक्षात् अनुभव तभी

होता है, जब हमारी आँखें, अर्थात् चक्षुरूपी ज्ञानेन्द्रिय का उस पुस्तक के साथ साक्षात् सम्बन्ध हो। इस सम्बन्ध से उत्पन्न जो ज्ञान हो, उसे 'चाक्षुष प्रत्यक्ष' कहते हैं। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान 'रासन प्रत्यक्ष', घ्राणेन्द्रिय के सम्बन्ध से 'घ्राणज प्रत्यक्ष', त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध से 'त्वाच प्रत्यक्ष' तथा श्रोत्रेन्द्रिय के सम्बन्ध से 'श्रावण प्रत्यक्ष', ये पाँच प्रकार के 'प्रत्यक्ष' होते हैं। ये सभी 'बाह्य प्रत्यक्ष' कहे जाते हैं।

इसी प्रकार 'मन' भी एक इन्द्रिय है। इसके साक्षात् सम्बन्ध से सुख, दु:ख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि का जो ज्ञान होता है, उसे भी 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहते हैं, परन्तु यह 'मानसिक प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

न्याय वैशेषिक दर्शन में **प्रत्यक्ष की प्रक्रिया** इस प्रकार बताई गयी है- **आत्मा मनसा संयुज्यते। मन इन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेनेति।** यद्यपि यहाँ प्रत्यक्ष के लिए तीन सन्निकर्ष हैं किन्तु उसमें अन्तिम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इसलिये माना गया है कि प्रथम दो सन्निकर्षों की आवश्यकता तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त स्थलों में भी होती है। न्यायसूत्र में **महर्षि गौतम** ने प्रत्यक्षज्ञान का लक्षण '**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसामात्मकं प्रत्यक्षम्** (१।१।४०) किया है।' मन के साथ आत्मा का विलक्षण संयोग तथा उस इन्द्रियविशेष के साथ मन का संयोग और उस ग्राह्य विषय के साथ उस इन्द्रिय का संयोग आदि सम्बन्ध रूप कई सन्निकर्ष जन्यप्रत्यक्ष के कारण हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत से साधारण कारण है। परन्तु उनमें ग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष को ही विशेष कारण के रूप में लेकर गौतम ने पूर्वोक्त सूत्र में जन्य-प्रत्यक्ष का लक्षण प्रकाशित करने के लिये कहा है- 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् ....।' इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य गुण, क्रिया तथा जाति आदि पदार्थों के साथ इन्द्रिय का संयोग रूप संबन्ध सम्भव नहीं है। अत: उक्त सूत्र में गौतम ने संयोग शब्द का प्रयोग नहीं करके सन्निकर्ष शब्द का प्रयोग किया है। उसके द्वारा संयोग सम्बन्ध के जैसे अन्यान्य संबन्धविशेष भी गृहीत हुए हैं। अर्थात् इन्द्रियग्राह्य विषय के साथ उस इन्द्रिय का जिस स्थल में जिस तरह का सम्बन्ध उस प्रत्यक्ष का जनक होता है वही उक्त स्थलों में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष शब्द से गृहीत हुआ है। प्रकृत में भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का आशय इसी तरह से समझना चाहिये। यह लौकिक सन्निकर्ष छ: तरह का माना गया है। इसका विवेचन आगे यथास्थान किया गया है।

(ज्ञाता की दृष्टि से) **प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है नित्य और अनित्य।** नित्य प्रत्यक्ष ईश्वर का तथा अनित्य प्रत्यक्ष मनुष्य आदि जीवों का होता है। अन्नम्भट्ट की उपर्युक्त परिभाषा में यह आपत्ति दी जा सकती है कि यह ईश्वरीय प्रत्यक्ष में अव्याप्त है। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान इच्छा आदि सभी नित्य माने गये हैं जन्य नहीं। अर्थात् चूँकि ईश्वर के इन्द्रियाँ नहीं होती अत: ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जन्य नहीं हो सकता। इस कारण यह लक्षण ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान में अव्याप्त हो गया। अत: दूसरी परिभाषा भी दी गयी है। तर्क संग्रह की **न्यायबोधिनी** टीका में इसे क्षेपक लक्षण बताया गया है। **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** में भी यह दूसरी परिभाषा दी गयी है :- '**ज्ञानाकरणकं ज्ञानं**' अर्थात् ज्ञानं न करणं यस्य तद्

ज्ञानाकरणम्-तादृशं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। 'ज्ञान' पद से आशय व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, पदज्ञान और अनुभव से है। जिस ज्ञान में उक्त ज्ञानों में से कोई करण नहीं हो उस ज्ञान को 'प्रत्यक्षज्ञान' कहते हैं, यह इस दूसरे लक्षण का अर्थ हुआ। अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान, उपमिति के प्रति सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान तथा स्मृति के प्रति अनुभव को करण कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्षातिरिक्त सभी ज्ञान, ज्ञानकरणक हैं अत: उनमें इस लक्षणान्तर की अतिव्याप्ति भी नहीं है। सामान्य जनों के प्रत्यक्ष के प्रति तथा ईश्वर-प्रत्यक्ष के प्रति नित्यानित्य द्विविध प्रत्यक्षज्ञान प्रमा ज्ञानाऽकरणक हुआ। इस प्रकार 'ज्ञानाकरणकत्वे सति ज्ञानत्वं' यह प्रत्यक्ष-लक्षण उभयविध प्रत्यक्ष में पूर्णरूपेण घटित हो जाता है। अत: इस प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण में कोई दोष नहीं रह जाता है।

बहिरिन्द्रियों में से चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय के द्वारा ही द्रव्य विशेष का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्ष में उस द्रव्य विशेष के साथ चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय का संयोग सम्बन्ध ही यथाक्रम उस द्रव्य का चाक्षुष तथा त्वाचप्रत्यक्ष का कारण है। कणाद तथा गौतम के मत में चक्षुरिन्द्रिय तैजस पदार्थ है। प्रदीप की तरह उसकी प्रभा या रश्मि है। उसी रश्मि के बाहर जाने तथा उसके ग्राह्य विषय के साथ संयुक्त होने पर चक्षुरिन्द्रिय का संयोग रूप सन्निकर्ष उत्पन्न होता है। अन्यान्य बहिरिन्द्रिय अपने स्थान में रहकर ही उसके ग्राह्य विषय के साथ सन्निकृष्ट होती हैं।

पदकृत्यम्

इन्द्रियार्थेति। इन्द्रियं चक्षुरादिकमर्थो घटादिस्तयोः सन्निकर्षः संयोगादिस्तज्जन्यं प्रत्यक्षमित्यर्थः। सन्निकर्षध्वंसवारणाय ज्ञानमिति। अनुमित्या-दिवारणायेन्द्रियार्थसन्निकर्षेति। ननु सोपनेत्रचक्षुषा कथं पदार्थग्रहणं? चक्षुष उपनेत्र निरुद्धत्वेन पदार्थेन सह सन्निकर्षाभावात्, कथं वा स्वच्छजाह्नवीसलिला-वृतमत्स्यादेश्चक्षुषा ग्रहणमिति चेन्न। स्वच्छद्रव्यस्य तेजोनिरोधकत्वाभावेन तदन्तश्चक्षुः प्रवेशसम्भवात्। न चेश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्। अत्र जन्यप्रत्यक्षस्यैव लक्षितत्वात्।

इन्द्रियों (चक्षुः, रसना, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र और मन) का अर्थ (घट, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और आत्मा) के साथ सम्बन्ध (संयोग आदि) से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। सन्निकर्ष का ध्वंस भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य है। अत: उसका वारण करने के लिये ज्ञानपद दिया। उत्पन्न ज्ञान अनुमिति, उपमिति आदि भी है अतिव्याप्ति वारण के लिए 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' पद है क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य नहीं है। अब यह शङ्का होती है कि जिसने उपनेत्र (चश्मा) लगा लिया है उसके नेत्र के उपनेत्र से ढके होने के कारण पदार्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं है। इसी प्रकार निर्मल गङ्गाजल से ढकी हुई मछली आदि का नेत्र से ग्रहण कैसे बनेगा? इसका उत्तर है कि चक्षुरिन्द्रिय तेज स्वरूप है और स्वच्छ द्रव्य तेज

का निरोधक नहीं होता इसलिये नेत्र का चश्मे के काच तथा निर्मल गङ्गा जल में प्रवेश सम्भव है। इस प्रत्यक्ष लक्षण की ईश्वर द्वारा किये जाने वाले प्रत्यक्षज्ञान में अव्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यहाँ जन्य प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है, ईश्वर के नित्यप्रत्यक्ष का नहीं। (अन्यथा प्रत्यक्षज्ञान का लक्षण 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्' माना जाये)।

तर्कदीपिका

प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह - इन्द्रियेति। इन्द्रियं चक्षुरादिकम्। अर्थो घटादि:। तयो: संनिकर्ष: संयोगादि:, तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थ:॥

४९. तद् द्विविधम् निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति।

निर्विकल्पकलक्षणं किम्?

तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथा किञ्चिदिदमिति।

सविकल्पकलक्षणं किम्?

सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथा डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति।

(ज्ञेय अर्थात् विषय के भेद की दृष्टि से) उस प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं :- एक निर्विकल्पक तथा दूसरा सविकल्पक। प्रकारता की प्रतीति रहित ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं, जैसे 'यह कुछ है'। सप्रकारक ज्ञान को सविकल्पक कहते हैं, जैसे यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है।

आशा बाह्य प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। बाह्य इन्द्रिय का जब अपने विषय के साथ साक्षात् सन्निकर्ष होता है, तब सबसे पहले 'आत्मा' में एक ज्ञान उत्पन्न होता है, जो 'सम्मुग्ध' या 'अव्याकृत' ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान में केवल 'उस वस्तु का होना' इतने का ही भान होता है, परन्तु उस वस्तु में कौन-सा गुण है, उसका क्या नाम है, इत्यादि का विशेष ज्ञान नहीं होता। हर प्रकार के गुण तथा धर्म से रहित केवल वस्तु की स्थिति मात्र का आभास इस अवस्था में होता है। गुण आदि विकल्पों से रहित होने के कारण इसे 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं। इसे निष्प्रकारक ज्ञान भी कहा जाता है, क्योंकि इस ज्ञान में वस्तु में रहने वाले रूप, जाति सम्बन्ध आदि विशेषणों की प्रतीति नहीं होती। विशेषण को ही प्रकार कहते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान में संसर्गता और प्रकारता का अवगाहन नहीं होता। उसमें विशेषण और विशेष्य असम्बद्ध रूप से उपस्थित रहते हैं। तात्पर्य यह है कि विषयता तीन प्रकार की होती है। संसर्गतारूपा, प्रकारतारूपा और विशेष्यतारूपा। जब हम 'घट:' बोलते हैं तब घट विशेष्य, घटत्व प्रकार और दोनों में समवाय संसर्ग है। जिस ज्ञान में तीनों विशेष्यतायें न हों वह निष्प्रकारक है। वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान तो यही है। इसे ही गौतम ने अपने सूत्र में 'प्रत्यक्ष' माना है। बौद्धों ने भी इसी को प्रत्यक्ष कहा है।

किन्तु इस व्यवहारिक जगत् में ज्ञान का उपयोग व्यवहार के लिए भी होता है। 'निर्विकल्पक' ज्ञान से तो कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिए उस ज्ञान को व्यवहार के योग्य बनाने के लिए न्यायमत में कहा जाता है कि उत्पन्न होने के प्रथम क्षण में तो प्रत्येक वस्तु का 'ज्ञान' नाम, जाति, गुण, आदि विकल्पों से रहित, अर्थात् निर्विकल्पक ही होता है। बाद में उस वस्तु के नाम, जाति, आकृति, गुण, आदि विकल्पों का भी ज्ञान होता है। तत्पश्चात् वही 'निर्विकल्पक' ज्ञान वाक्यों के द्वारा व्यवहार के लिए प्रकट किया जाता है, तब इसे 'सविकल्पक ज्ञान' कहते हैं। सविकल्प ज्ञान में विशेष्यता, प्रकारता और संसर्गता रहती है तथा विशेषण और विशेष्य परस्पर सम्बद्ध रूप से प्रतीत होते हैं। प्रकार (विशेषण) वह है जो एक ज्ञान विशेष को दूसरे ज्ञान विशेष से पृथक् करता है। यथा घटत्व वह प्रकार है जो घटज्ञान को पटज्ञान से पृथक् करता है। स्पष्ट है कि हम घट को तब तक सप्रकारक नहीं जान सकते, जब तक हमें घटत्व का ज्ञान न हो। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रथम क्षण में जो ज्ञान होता है, वह, मूक पुरुषों के ज्ञान के समान, व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है। इसीलिए निर्विकल्पक ज्ञान को बालक तथा गूंगे आदि पुरुषों के ज्ञान के रूप में भी परिभाषित किया गया है:-

'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'।

अर्थात् जैसे बालक एक पुस्तक को देखता है तो उसको भी पुस्तक के स्वरूप का ज्ञान उसी तरह का होता है जिस तरह प्रबुद्ध व्यक्ति को। जहाँ एक वस्तु के स्वरूपज्ञान का प्रश्न है, प्रबुद्ध और अत्यन्त अबोध बालक के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् अर्थ के ग्रहण काल में दोनों का ज्ञान एक सा ही होता है। परन्तु प्रबुद्ध व्यक्ति उसके नाम, जाति आदि को भी जानता है अतएव व्यवहार काल में वह उसके नाम, जाति आदि का उपयोग करता है। उस अवस्था में उसका वह ज्ञान सविकल्प हो जाता है। बालक उसके नाम जाति आदि से अनभिज्ञ है इसलिए वह नाम आदि से उसका व्यवहार नहीं कर सकता है। इस प्रकार बालक और प्रौढ़ पुरुष के ज्ञान में अर्थज्ञानकाल में कोई अन्तर नहीं है अपितु व्यवहारकाल में उन दोनों में अन्तर हो जाता है। इस प्रकार बालक और मूकादि पुरुषों का ज्ञान निर्विकल्पक और अन्य प्रौढ़ पुरुषों का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है। अर्थ के ग्रहण काल में प्रौढ़ पुरुषों को भी बालक के ज्ञान के समान नाम जात्यादि रहित निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है।

परन्तु 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' अर्थात् सम्बन्धियों में किसी एक का ज्ञान तुरन्त ही दूसरे सम्बन्धी का स्मरण करा देता है इस नियम के अनुसार प्रौढ़ पुरुष को अर्थ का स्वरूप ज्ञान होते ही अत्यन्त शीघ्रता से उसके नाम जात्यादि का स्मरण हो जाता है। इसलिए उसका ज्ञान तुरन्त सविकल्पक रूप में परिवर्तित हो जाता है। अत एव सविकल्पक ज्ञान की एक परिभाषा '**नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्**' इस रूप में भी दी गयी है। जैसे घट: पट: आदि की प्रतीति के साथ उनके नाम, जात्यादि का भान होने से, साधारणत: व्यवहार में आने वाले सभी ज्ञान सविकल्पक होते हैं। इसलिए हम निर्विकल्पक ज्ञान की कल्पना नहीं कर पाते हैं।

पदकृत्यम्

तत्र निष्प्रकारमिति। सविकल्पकेऽतिव्याप्तिवारणाय निष्प्रकारकमिति। प्रकारवारणाय ज्ञानमिति।

सप्रकारमिति। घटादिवारणाय ज्ञानमिति। निर्विकल्पकवारणाय सप्रकारमिति।

सविकल्पक ज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिए निष्प्रकारकं पद है। प्रकार में प्रकार नहीं होने से प्रकार भी निष्प्रकारक हो गया। अत: उसमें निर्विकल्पकत्व की अतिव्याप्ति न हो, इसके लिये ज्ञान पद दिया है।

घट भी घटत्वरूप प्रकार से युक्त होता है अत: सप्रकारक घट में अतिव्याप्ति वारण के लिए ज्ञान पद है। निर्विकल्पक में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'सप्रकारकम्' पद है।

तर्कदीपिका

तद्विभजते-तद् द्विविधमिति। निर्विकल्पकस्य लक्षणमाह - निष्प्रकारकमिति। विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानमित्यर्थ:॥ ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणम्? इति चेत् - न; गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वाद्दण्डीति ज्ञानवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्निर्विकल्पकसिद्धि:॥ सविकल्पकं लक्षयति - सप्रकारकमिति। नामजात्यादिविशेषणविशेष्य-संबन्धावगाहि ज्ञानमित्यर्थ:। सविकल्पकमुदाहरति- यथेति॥

<u>सन्निकर्ष: कतिविध:, कश्च स:?</u>

५०. प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्ष: षड्विध:। संयोग:, संयुक्तसमवाय:, संयुक्तसमवेतसमवाय:, समवाय:, समवेतसमवाय:, विशेषण-विशेष्यभावश्चेति।

प्रत्यक्षज्ञान के हेतुभूत सन्निकर्ष छ: प्रकार के है:- १. संयोग २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय, ५. समवेतसमवाय और ६. विशेषणविशेष्यभाव।

आशा ऊपर वर्णित इन्द्रिय और अर्थ का जो सन्निकर्ष साक्षात्कारिप्रमा का हेतु है वह छ: प्रकार का है :- १. संयोग, २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय, ५. समवेतसमवाय और ६. विशेषणविशेष्यभाव। ये छ: प्रकार के सन्निकर्ष लौकिक-सन्निकर्ष कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष भी माने गये हैं जिनका उल्लेख अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह में नहीं किया है। इनका विवेचन इस सन्निकर्ष प्रकरण के अन्त में हिन्दी टीका में किया गया है। अब पहले लौकिक सन्निकर्षों का क्रमश: विवेचन किया जा रहा है।

पदकृत्यम्

प्रत्यक्षेति। तच्च प्रत्यक्षं षड्विधं घ्राणजरासनचाक्षुषश्रौत्रत्वाचमान-सभेदात्। ननु प्रत्यक्षकारणीभूतेन्द्रिय-निष्ठप्रत्यक्षसामानाधिकरण्यघटकः सन्निकर्षः कः इत्यपेक्षायां तं विभज्य दर्शयति-प्रत्यक्षेति। लौकिकप्रत्यक्षेत्यर्थः।

(करण भेद की दृष्टि से) प्रत्यक्षज्ञान छः प्रकार का है;- घ्राणजन्य, रसनाजन्य, नेत्रजन्य, श्रोत्रजन्य, त्वग्जन्य और मनोजन्य। यहाँ पर प्रश्न है कि कार्य और कारण में सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में वृत्तित्व) होता है, अतः प्रत्यक्षरूप कार्य और इसके कारण इन्द्रिय में भी सामानाधिकरण्य होना चाहिए। वह सामानाधिकरण्य किसी सन्निकर्ष के द्वारा ही होगा अतः वे सन्निकर्ष क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर सन्निकर्षों के विभाग द्वारा दिया गया है। तात्पर्य यह है कि विषयता सम्बन्ध से जहाँ प्रत्यक्ष रहता है वहाँ पर संयोगादि सन्निकर्षों से इन्द्रिय भी रहती है। इस प्रकार संयोग आदि सन्निकर्ष उक्त सामानाधिकरण्य के घटक हुए। यहाँ प्रत्यक्ष पद का अर्थ लौकिकप्रत्यक्ष है।

तर्कदीपिका

इन्द्रियार्थसंनिकर्षं विभजते - प्रत्यक्षेति।

घट (द्रव्य) प्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः?

५१. चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः।

नेत्र से घट (द्रव्य) के प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष है।

आशा जब चक्षु से घटविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तब चक्षुः इन्द्रिय और घट अर्थ होता है और इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही होता है, अयुतसिद्धि का अभाव होने से अर्थात् यदि चक्षुः और घट अयुतसिद्ध होते तो उनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होता। परन्तु ये दोनों अयुतसिद्ध नहीं है अतः इनका सम्बन्ध संयोग ही है।

इसी प्रकार अन्तःकरण मन से जब आत्मविषयक ज्ञान होता है तब मन इन्द्रिय और आत्मा अर्थ होता है और इन दोनों का सम्बन्ध संयोग ही होता है।

इनमें से प्रथम बाह्येन्द्रिय के सन्निकर्ष का और द्वितीय उदाहरण अन्तरिन्द्रिय मन के सन्निकर्ष का है। त्वगेन्द्रिय के द्वारा किये जाने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में भी संयोगसन्निकर्ष ही होता है।

पदकृत्यम्

संयोगमुदाहरति-चक्षुषेति। तथा च द्रव्यचाक्षुषत्वाचमानसेषु संयोग एव सन्निकर्ष इति भावः।

संयोग सन्निकर्ष का उदाहरण देते हैं चक्षुषा इति। आशय यह है कि द्रव्य के चाक्षुष, त्वाच और मानस प्रत्यक्ष में संयोग ही सन्निकर्ष है।

तर्कदीपिका

संयोगसंनिकर्षमुदाहरति – चक्षुषेति। द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोग: संनिकर्ष इत्यर्थ:। आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते।

घटरूपप्रत्यक्षे क: सन्निकर्ष?

५२. घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवाय: सन्निकर्ष:, चक्षु:संयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्।

चक्षु से घट के रूप के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि नेत्र से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है।

आशा जब चक्षु: आदि इन्द्रिय से घटगत रूपादि गुण का ग्रहण होता है कि घट में रक्त रूप है तब चक्षु: इन्द्रिय और घटरूप अर्थ होता है और इन दोनों का सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवाय' ही होता है। चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय होने से चक्षु इन्द्रिय और घटरूप अर्थ का 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष होता है। सरल शब्दों में यथा चक्षु के द्वारा पुस्तक तथा पुस्तक के 'रूप' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि चक्षु के साथ 'पुस्तक-रूप' का भी सन्निकर्ष होता है, किन्तु यह सन्निकर्ष साक्षात् नहीं होता। 'रूप' पुस्तक में है। अतएव पुस्तक के द्वारा चक्षु 'रूप' के साथ सन्निकृष्ट होता है, अर्थात् चक्षु और पुस्तक में 'संयोग' सम्बन्ध होता है। 'पुस्तक' गुण को रखने वाली अर्थात् 'गुणी' है तथा पुस्तक-रूप उस पुस्तक का 'गुण' है। ये 'गुण-गुणी' होने के कारण 'अयुतसिद्ध' हैं, और इन दोनों में 'समवाय' सम्बन्ध हैं। इसलिए 'चक्षु' का 'पुस्तक-रूप' के साथ 'संयोग+समवाय' अर्थात् 'संयुक्त-समवाय' सम्बन्ध होने से 'पुस्तक-रूप' के प्रत्यक्ष में यही सन्निकर्ष है।

इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय मन से आत्मा में रहनेवाले सुखादि गुणों के ग्रहण होने पर भी संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष ही होता है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि चक्षु: आदि इन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय से भिन्न) से संयुक्त घटादि द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहने वाले पदार्थ का यदि (श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर) किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्षज्ञान होगा तो उसमें संयुक्तसमवायसन्निकर्ष ही कार्य करेगा, अन्य कोई सन्निकर्ष नहीं।

पदकृत्यम्

घटरूपेति। चक्षुषा इत्यनुषज्यते। तथा च द्रव्यसमवेतचाक्षुषत्वाचमानसरासनघ्राणजेषु संयुक्तसमवाय एव सन्निकर्ष इत्यर्थ:॥

चक्षुषा पद का अनुवर्तन यहाँ भी करना चाहिए। द्रव्यसमवेत अर्थात् द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहने वाले पदार्थ का चाक्षुष, त्वाच, मानस, रासन और घ्राणज प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से ही होता है।

तर्कदीपिका

संयुक्तसमवायमुदाहरति – घटरूपेति। तत्र युक्तिमाह – चक्षुःसंयुक्त इति।

रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः?

५३. रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः। चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्।

चक्षु से रूपत्वजाति के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में समवायसम्बन्ध से रूप और रूप में समवायसम्बन्ध से रूपत्व जाति रहती है।

आशा जब चक्षुः से घटरूप में समवेत रूपत्व आदि सामान्य का ग्रहण किया जाता है तब चक्षुः इन्द्रिय, रूपत्वादि सामान्य अर्थ और उन दोनों का सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' ही होता है। क्योंकि चक्षुः से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है और उस रूप में रूपत्व जाति समवाय सम्बन्ध से रहती है। इसलिए रूपत्व जाति के साथ चक्षुः का परम्परया 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सम्बन्ध हुआ।

प्रत्यक्ष ज्ञानमें यह देखा जाता है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से उसकी 'जाति' तथा उसके 'अभाव' का भी ज्ञान होता है। अर्थात् चक्षुरूप इन्द्रिय से 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, साथ ही साथ 'पुस्तकत्व' का तथा 'पुस्तकरूपत्व' का भी ज्ञान होता है। विचारणीय विषय यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, अतः 'चक्षु' इन्द्रिय के साथ 'पुस्तकरूपत्व' जाति का भी सन्निकर्ष होता है। यह सन्निकर्ष साक्षात् न होकर परम्परा सन्निकर्ष है। 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक' का 'संयोग' सम्बन्ध, 'चक्षु' के साथ 'पुस्तक-रूप' का 'संयुक्त-समवाय' तथा 'चक्षु' के साथ 'पुस्तकरूपत्व' का 'संयुक्त-समवेत-समवाय' सन्निकर्ष है। क्योंकि 'जाति' और 'व्यक्ति' 'अयुतसिद्ध' हैं, इनमें 'समवाय' सम्बन्ध ही होता है।

यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि चक्षुः आदि इन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय से भिन्न) से संयुक्त घटादि द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूपादि गुणों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली रूपत्व आदि जाति का यदि (श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर) किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्षज्ञान संभव है तो उस ज्ञान में 'संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्ष' ही होगा, अन्य कोई सन्निकर्ष नहीं।

पदकृत्यम्

रूपत्वेति। रूपत्वात्मकं यत्सामान्यं तत्प्रत्यक्ष इत्यर्थः। अत्रापि चक्षुषा इत्यनुषज्यते। तथा च द्रव्यसमवेतसमवेतचाक्षुषरासनघ्राणजस्पार्शनमानसेषु संयुक्तसमवेतसमवाय एव सन्निकर्ष इति भावः। अथ द्रव्यतत्समवेतप्रत्यक्षेऽपि संयुक्तसमवेतसमवाय एव सन्निकर्षोऽस्त्विति चेत्, नैतत् आत्मनोऽप्यनध्यक्षत्वप्रसङ्गात्।

रूपत्वजाति के प्रत्यक्ष में उक्त सन्निकर्ष है। यहाँ पर भी चक्षुषा पद का अनुवर्तन करना चाहिए। तब द्रव्य में समवेत गुण रूपादि उसमें समवेत जाति आदि के चाक्षुष, रासन, घ्राणज, स्पार्शन और मानस प्रत्यक्षों में संयुक्तसमवेतसमवाय ही सन्निकर्ष है। यहाँ कोई यह शंका करें कि द्रव्य, द्रव्य में समवेत रूप और उस रूप में समवेत रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष के लिये केवल संयुक्तसमवेतसमवाय एक ही सन्निकर्ष मानना चाहिये, क्योंकि घट के प्रत्यक्ष में चक्षुः संयुक्त कपालिका, उसमें समवेत कपाल, उसमें समवेत घट का प्रत्यक्ष बन जाता है फिर संयोग तथा संयुक्तसमवाय सन्निकर्षों के नाम से पूर्वोक्त दो को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है? किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि सावयव पदार्थों के प्रत्यक्ष में तो उपर्युक्त प्रकार से काम चल सकता है किन्तु तब पृथक् रूप से निरवयव आत्मा का मानसप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि आत्मा मन से सीधे संयुक्त है, न कि मनसंयुक्तसमवेतसमवेत है। अत: तीनों सन्निकर्षों को पृथक् पृथक् रूप से मानना अनिवार्य है।

तर्कदीपिका

संयुक्तसमवेतसमवायमुदाहरति – रूपत्वेति।

शब्दप्रत्यक्षे क: सन्निकर्ष:?

५४. श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवाय: सन्निकर्ष:। कर्णविवर-वर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वात् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

श्रोत्र से शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान में समवायसन्निकर्ष है। क्योंकि कर्ण विवर के आकाश को श्रोत्र कहते हैं, शब्द आकाश का गुण है और गुण और गुणी में समवाय सम्बन्ध ही होता है।

आशा जब श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द अर्थ होता है, और इन दोनों का सम्बन्ध समवाय ही होता है। क्योंकि कर्णशष्कुली (शष्कुली = कचौड़ी) के आकार का बना जो कर्ण का बाह्य गोलक, उस से घिरा हुआ उसका मध्यवर्त्ती आकाश श्रोत्र है। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय आकाश स्वरूप ही है आकाश से अतिरिक्त नहीं। इसलिए श्रोत्र के आकाश रूप होने से, शब्द के आकाश का गुण होने से तथा गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से श्रोत्र के द्वारा शब्द का प्रत्यक्षज्ञान समवाय सम्बन्ध से ही होता है। सरल शब्दों में :- 'कान' से 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए 'कान' और 'शब्द' में 'सन्निकर्ष' होना आवश्यक है। 'कान' को तर्कशास्त्र में 'आकाश' मानते हैं। 'शब्द' 'आकाश' का विशेष गुण है। 'आकाश' द्रव्य है और 'शब्द' उसका विशेष गुण है। इन दोनों में गुण-गुणी-भाव है। ये 'अयुतसिद्ध' हैं। अतएव इनमें 'समवाय' सम्बन्ध है। अत: 'कान' समवाय सम्बन्ध के द्वारा 'शब्द' का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

पदकृत्यम्

समवायसन्निकर्षमुदाहरति-श्रोत्रेणेति। जननीय इति शेषः। ननु श्रोत्रशब्दयोः कथं समवाय इत्यपेक्षमाणं प्रति तमुपपाद्य दर्शयति-कर्णेति। अथ समवायस्य नित्यत्वेन शब्दप्रत्यक्षे को व्यापार इति चेत्, शब्दः श्रोत्रमनःसंयोगो वेति गृहाण।

समवायसन्निकर्ष का उदाहरण देते हैं श्रोत्रेण इति। यहाँ 'साक्षात्कारे' के आगे जननीय पद जोड़ लेना चाहिये। कोई यह प्रश्न करे कि श्रोत्र और शब्द का समवाय कैसे होगा? इस अपेक्षा वाले जिज्ञासु के प्रति उपपादन करते हैं कर्ण इत्यादि। अब प्रश्न यह है कि समवाय सन्निकर्ष नित्य है। फिर शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान में व्यापार कौन है? इसका उत्तर है कि शब्द के प्रत्यक्ष में शब्द ही व्यापार है, अथवा श्रोत्र मनःसंयोग को व्यापार मानना चाहिए।

तर्कदीपिका

समवायमुदाहरति - श्रोत्रेणेति। तदुपपादयति - कर्णेति। ननु दूरस्थ-शब्दस्य कथं श्रोत्रसंबन्ध इति चेत्, - न; वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातस्य शब्दस्य श्रोत्रसंबन्धात्प्रत्यक्ष-त्वसंभवात्।

<u>शब्दत्वसाक्षात्कारे कः सन्निकर्षः?</u>

५५. शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः,श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

(श्रोत्र द्वारा) शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष है। क्योंकि श्रोत से समवेत शब्द में शब्दत्व समवायसम्बन्ध से रहता है।

आशा जब शब्द में समवाय संबंध से रहने वाले शब्दत्व सामान्य (जाति) का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्दत्व अर्थ है इन दोनों का सन्निकर्ष 'समवेतसमवाय' ही होता है। श्रोत्र इन्द्रिय में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द में शब्दत्व जाति का समवाय सम्बन्ध होने से श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दत्व जाति का ग्रहण समवेतसमवाय सन्निकर्ष से ही होता है। सरल शब्दों में प्रत्येक 'व्यक्ति' में एक 'जाति' रहती है, यह बात पूर्व में कही जा चुकी है। अतः 'शब्द' में भी 'शब्दत्व' जाति है और 'कान' से ही उस 'शब्दत्व' का भी प्रत्यक्ष होता है। शब्द और शब्दत्व के क्रमशः व्यक्ति और जाति होने से ये **'अयुतसिद्ध'** हैं। अतएव इनमें 'समवाय' सम्बन्ध है। अब 'कान' के साथ 'शब्द' का 'समवाय' सम्बन्ध तथा 'शब्द' के साथ 'शब्दत्व' का 'समवाय' सम्बन्ध है। अतः 'कान' के साथ 'शब्दत्व' का **'समवाय-समवाय'**, अर्थात् समवेत-समवाय सम्बन्ध है।

पदकृत्यम्

शब्दत्वेति। श्रोत्रेण जननीये इत्यनुकर्षशेष:।

यहाँ पर भी श्रोत्रेण पद का और जननीये पद का अध्याहार करना चाहिए।

तर्कदीपिका

समवेतसमवायमुदाहरति - शब्दत्वेति।

अभावप्रत्यक्षे क: सन्निकर्ष:?

५६. अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभाव: सन्निकर्ष:। घटाभाववद् भूतलमित्यत्र चक्षुसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्।

अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष होता है। जैसे 'घटाभाववद् भूतलम्' इस प्रतीति में चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है।

आशा जब चक्षु से संयुक्त भूतल में 'यहाँ भूतल में घट नहीं है' इस प्रकार घटाभाव का ग्रहण होता है, तब विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होता है। तब चक्षु से संयुक्त भूतल का घटाभाव विशेषण होता है और भूतल विशेष्य होता है।

इस प्रकार इन्द्रिय-सम्बद्ध भूतल में घटाभाव के विशेषण होने से घटाभाव के साथ इन्द्रिय का परम्परा से 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार जब 'भूतलनिष्ठ: घटाभाव:' इस प्रकार की प्रतीति होती है तब घटाभाव के साथ 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता' सम्बन्ध होता है। इस प्रकार इन्द्रिय का अभाव के साथ कहीं 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता' और कहीं 'इन्द्रियसम्बन्धविशेषणता' सम्बन्ध होता है। इसी को संक्षेप में 'विशेष्यविशेषणभाव' अथवा 'विशेषणविशेष्यभाव' सम्बन्ध कहा गया है।

इसे सरल भाषा में इस प्रकार समझा जा सकता है-पूर्वोक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्षों से 'भाव' पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। 'अभाव' का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। इसके लिए न्यायमत में 'विशेषण-विशेष्य-भाव' सम्बन्ध माना गया है।

किसी वस्तु का न होना, उस वस्तु का 'अभाव' कहा जाता है। जैसे- 'पुस्तक' का मेज पर न होना, मेज पर 'पुस्तक का अभाव' कहा जाता है। यह नियम है कि जिस इन्द्रिय से जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु के 'अभाव' का भी प्रत्यक्ष होता है। 'पुस्तक' का प्रत्यक्ष 'चक्षु' से होता है। अत: 'पुस्तक के अभाव' का भी प्रत्यक्ष ज्ञान 'चक्षु' से ही होगा। 'पुस्तक' और 'पुस्तक के अभाव' में एक 'भाव' द्रव्य है और दूसरा 'अभाव'-रूप पदार्थ है। अतएव इन दोनों में पूर्वोक्त पाँच प्रकार के सन्निकर्ष नहीं हो सकते।

इसलिए तर्कशास्त्र में 'अभाव' के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** नाम का एक छठा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। 'पुस्तकाभाव' मेज पर है, अर्थात् 'पुस्तकाभाव' मेज का 'विशेषण' है और 'मेज' 'विशेष्य' है। इसलिए इन दोनों में 'विशेषण-विशेष्य-भाव' सम्बन्ध है और इसी सम्बन्ध के द्वारा चक्षु को 'पुस्तकाभाव' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध के अन्तर्गत एक कोई और भी सम्बन्ध होना आवश्यक है। जैसे 'घटवत् भूतलम्' इस प्रतीति में भूतल विशेष्य है और घट उसका विशेषण है। भूतल और घट का संयोग सम्बन्ध है। इसलिये भूतल में घट संयोग सम्बन्ध से विशेषण है, यह कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'पटवन्तस्तन्तव:' इस प्रतीति में तन्तु विशेष्य है तथा पट विशेषण है। इन दोनों का समवाय सम्बन्ध है। इसलिए तन्तु में पट समवाय सम्बन्ध से विशेषण है। इस प्रकार विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध के अन्तर्गत कोई एक संबंध और होना चाहिए। वह सम्बन्ध ऊपर गिनाए हुए सम्बन्धों में से ही कोई हो सकता है। ऊपर इन्द्रिय और विषय के छ: प्रकार के सम्बन्ध बताये गये हैं। इनमें से एक तो स्वयं विशेष्यविशेषणभाव ही है। इसलिए उसको छोड़कर शेष पाँच सम्बन्ध और रह जाते हैं जो इस विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध के नियामक हो सकते हैं। इसलिए उन पञ्चविध सम्बन्धों में से किसी एक सम्बन्ध से घटादि विशेषण भूतलादि विशेष्य के साथ सम्बद्ध हो सकते हैं। और जिस सम्बन्ध से घटादि भाव पदार्थ भूतलादि में विशेषण होते हैं उन घटादि का अभाव भी उसी सम्बन्ध से भूतल आदि में विशेषण होता है। इसलिए पूर्वोक्त पञ्चविध सम्बन्ध में से अन्यतम सम्बन्ध द्वारा घटाभावादि भूतलादि में विशेष्य या विशेषण हो सकते हैं। इसी विशेष्यविशेषण भाव से चक्षु: आदि द्वारा घटाभावादि का ग्रहण होता है।

इस प्रकार संक्षेप में १. संयोग, २. संयुक्तसमवाय, ३. संयुक्तसमवेतसमवाय, ४. समवाय और ५. समवेतसमवाय इन पाँच प्रकार के सम्बन्धों में किसी एक संबंध से सम्बद्ध विशेष्यविशेषणभाव रूप इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से अभाव का इन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। अत: मीमांसकों के समान अभाव के ज्ञान हेतु 'अभाव' नामक पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार समवाय का ज्ञान भी विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध द्वारा इन्द्रिय से ही होता है। चक्षु से संयुक्त तन्तु का विशेषणभूत पटसमवाय 'इन तन्तुओं में पटसमवाय सम्बन्ध से हैं' इस प्रतीति में विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध से गृहीत होता है।

मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय का सन्निकर्ष – इन सभी ज्ञानों में इन्द्रिय तथा अर्थ के अतिरिक्त 'मन' तथा 'आत्मा' का भी 'संयोग' आवश्यक है। 'आत्मा' ही तो ज्ञान का आश्रय है। 'ज्ञान' आत्मा में ही उत्पन्न होता है। 'ज्ञान' को उत्पन्न करने के लिए आत्मा के साथ मन-रूप इन्द्रिय का संयोग आवश्यक है। आत्मा विभु है। अतएव मन के साथ उसका सम्बन्ध तो एक प्रकार से सदैव रहता ही है, किन्तु उस 'संयोग-सम्बन्ध' से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। अर्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय के साथ जब मन का संयोग होता है, तब उक्त संयोग से युक्त मन के साथ आत्मा का एक नवीन सन्निकर्ष होने पर उस 'आत्मा' में उस अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए 'त्वक्' इन्द्रिय के साथ मन का संयोग सदैव रहना आवश्यक है। इस संयोग के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतएव 'पुरीतत्' नाड़ी में जब सुषुप्तिदशा में मन प्रवेश करता है, तब वहाँ ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ 'त्वगिन्द्रिय' नहीं है।

मानसिक सन्निकर्ष - ऊपर बाह्येन्द्रियों के द्वारा 'सन्निकर्षों' का विचार किया गया है। इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय 'मन' के द्वारा भी सुख, दु:ख आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वहाँ भी ये ही सम्बन्ध होते हैं। सुख, दु:ख आदि 'आत्मा' के गुण हैं, अर्थात् ये गुण सब 'आत्मा' में समवाय सम्बन्ध से हैं। अतएव मन का आत्मा के साथ 'संयोग', आत्मा के गुणों के साथ **'संयुक्तसमवाय'**, उन गुणों में रहने वाली 'जातियों' के साथ **'संयुक्त-समवेत-समवाय'** तथा आत्मा में 'सुखाभाव' आदि का **'विशेषण-विशेष्य-भाव'** सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

विशेष - अभी तक जिस प्रत्यक्ष प्रमाण का विचार किया गया है, वह **'लौकिक सन्निकर्षों'** से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में है। इनके अतिरिक्त विशेष ज्ञान के लिए तर्कशास्त्र में कुछ **'अलौकिक सन्निकर्षों'** का भी विचार किया गया है। यद्यपि इन सन्निकर्षों का विवेचन तर्कसंग्रह में नहीं किया गया है परन्तु 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' इत्यादि प्रौढ़ ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन मिलता है। अत: उनका भी परिचय देना उपर्युक्त होगा। ये अलौकिकसन्निकर्ष तीन हैं :- १. 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' २. 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' और ३. 'योगज प्रत्यासत्ति'। इनका वर्णन करते हुए श्री विश्वनाथ ने **कारिकावली** में लिखा है-

> **'अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविध: परिकीर्तित:।**
> **सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा॥'**
> **आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते।**
> **तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते॥**
> **विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षण:।**
> **योगजो द्विविध: प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदत:॥**
> **युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपर:।**

१. 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' :- जब हम एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो उस प्रकार की समस्त वस्तुओं को अपने आप समझ लेते हैं। हर एक वस्तु के ज्ञान के लिए अलग प्रयत्न नहीं करता पड़ता है। उनमें रहने वाले सामान्य धर्म के द्वारा एक वस्तु के ज्ञान से ही सजातीय समस्त वस्तुओं का सामान्य ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान सामान्य के आधार पर होता है इसलिए अन्य पदार्थों के साथ लौकिक सन्निकर्ष न होने पर भी सामान्य द्वारा उन सबके साथ अलौकिक सन्निकर्ष हो जाने से उन सबका ज्ञान हो सकता है। जैसे महानस में धूम और वह्नि को देखते हैं तो वहाँ धूमत्व सामान्य से समस्त धूमों का और वाह्नित्व सामान्य से सामान्य से समस्त वह्नियों का प्रत्यक्ष हो जाता है। तब ही धूम सामान्य और वह्नि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण होता है। इसके लिये सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति को भी एक अलौकिक सन्निकर्ष माना है।

फिर भी यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि जहाँ-जहाँ धूम को आग के साथ देखा, वहाँ तो सर्वत्र चक्षु और धूम का 'संयोग' सम्बन्ध है, अतएव उन स्थानों में धूम का

प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसी से आग का भी ज्ञान होता है। परन्तु भूत, भविष्यत् एवं अप्रत्यक्षीभूत वर्तमान धूमों के साथ तो चक्षु का 'संयोग' नहीं होता, फिर सभी धूमों के साथ 'आग' के होने की निश्चित व्याप्ति किस प्रकार स्थिर हो सकती है? अर्थात् सभी धूमों के साथ चक्षु का सम्बन्ध न होने से सभी धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि प्रथम बार जब एक 'धूम' का प्रत्यक्ष ज्ञान 'संयोग' सम्बन्ध से हुआ, उस ज्ञान में 'धूम' विशेष्य है और धूम में रहने वाला 'सामान्य' या 'जाति', अर्थात् 'धूमत्व' 'प्रकार' या 'विशेषण' है। यहाँ यह ध्यान में रखना है कि जिस समय आँख के साथ 'धूम' का 'संयोग सम्बन्ध' हुआ, उसी समय 'धूमत्व' के साथ भी आँख का 'संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध' हुआ और 'धूमत्व' का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हुआ। यह 'धूमत्व जाति' नित्य है और भूत, भविष्यत् सभी धूमों में विद्यमान है। इस 'धूमत्व जाति' से धूम कभी भी अलग नहीं हो सकता, अतएव रसोई घर के धूम तथा धूमत्व को आँख से देख कर सभी अविद्यमान धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान 'धूमत्व' सामान्य के साथ चक्षु का सम्बन्ध होने से होता है। अतएव इस सम्बन्ध को 'सामान्यलक्षणा' प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) कहते हैं।

२. **'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति'** :- यथा एक दिन बाजार में किसी ने चन्दन के टुकड़े को सूँघकर जाँच लिया कि यह चन्दन का टुकड़ा सुगन्धित है। दूसरे दिन किसी ग्राहक ने वह चन्दन का टुकड़ा उसी व्यक्ति को दिखलाकर उसके विषय में उसकी सम्मति पूछी। तो उसने दूर से ही उसको देखकर कहा कि यह सुगन्धित चन्दन है। यहाँ इस समय उसने चन्दन को आँख से तो देखा, परन्तु उसकी गन्ध को घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया है फिर भी 'सुरभि चन्दनखण्डम्' यह प्रतीति उसे हो रही है। इस प्रतीति में चंदन, उसमें रहनेवाली चन्दनत्व जाति, और उसके सौरभ गुण, इन तीनों का प्रत्यक्ष होता है इसमें से चन्दन के साथ चक्षु का संयोग सम्बन्ध, और चंदनत्व सामान्य के साथ संयुक्तसमवाय सम्बन्ध होता है। ये दोनों लौकिक सन्निकर्ष के अन्तर्गत ही हैं। परन्तु सौरभ (गन्ध) के साथ चक्षु का लौकिक सन्निकर्ष नहीं बन सकता है। अतएव यहाँ चक्षु का और सौरभ का 'चक्षु:संयुक्तमन:संयुक्तात्मसमवेतज्ञानरूपेण' अथवा 'चक्षु:संयुक्तात्मसमवेत-संस्काररूपेण' अर्थात् चक्षु से संयुक्त जो मन, उससे संयुक्त जो आत्मा, उस आत्मा में समवेत जो सौरभ गुण का ज्ञान अथवा उस सौरभज्ञान से उत्पन्न संस्कार रूप अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा चक्षु से ही उस सौरभ का ग्रहण हो जाता है। इसलिए सौरभ के चक्षु का विषय न होने पर भी ऐसे स्थल में 'सुरभि चन्दनखण्डम्' इस ज्ञान को चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हैं। यही 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' हैं।

३. **योगज सन्निकर्ष** :- योगियों को भूत, भविष्यत, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो सकता है। व्यवहित, भूत, भविष्यत् आदि की वस्तुओं के साथ लौकिक इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं बन सकता है अतएव वहां योगज सामर्थ्य से अलौकिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साधक लौकिक उपायों की आवश्यकता योगियों को नहीं होती। परन्तु उन्हें इन सबका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान को '**योगज**' प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। योगियों की सिद्धि के प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप में ये

ज्ञान साधारण या असाधारण सन्निकर्ष के बिना ही होते हैं। वह भी 'युक्त' और 'युञ्जान' भेद से दो प्रकार का होता है। 'युक्त' योगी को सर्वदा भान होता है और 'युञ्जान' को चिन्तन करने से अर्थ का भान होता है।

पदकृत्यम्

विशेषणेति। विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेति बोध्यम्। इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषणत्वमिन्द्रियसम्बद्धविशेष्यत्वमिति यावत्। विशेषणभावसन्निकर्षमुपपाद्य दर्शयति घटाभाववदिति। 'इह भूतले घटो नास्ति' इत्यादौ विशेष्यता-सन्निकर्षोऽवसेयः सप्तम्यन्तस्य विशेषणत्वात्।

अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणता और विशेष्यता दोनों ही सन्निकर्ष हैं। क्योंकि अभाव ज्ञान दो प्रकार से होता है। एक तो 'घटाभाववद् भूतलम्' दूसरा 'भूतले घटो नास्ति।' इनमें प्रथम प्रकार में इन्द्रिय सम्बद्ध भूतल में घटाभाव विशेषण है, और द्वितीय प्रकार में नेत्र संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेष्य है। इस प्रकार इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता अथवा इन्द्रिय सम्बद्धविशेष्यता ही सम्बन्ध है। विशेषणभाव सम्बन्ध का उपपादन करते हैं घटाभाववत् भूतलमिति। 'इह भूतले घटो नास्ति' इस ज्ञान में विशेष्यता सन्निकर्ष है क्योंकि सप्तम्यन्त विशेषण होता है अतः घटाभाव का प्रत्यक्ष विशेष्यता सम्बन्ध से है।

तर्कदीपिका

विशेषणविशेष्यभावमुदाहरति - अभावेति। तदुपपादयति घटा-भाववदिति। 'भूतले घटो नास्ति' इत्यत्र घटाभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्। एतेनानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत। दर्शनाभावान्नास्तीति तर्कितप्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धिसहकृतेन्द्रियेणैवाज्ञानोप-पत्तावनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वासंभवात्। अधिकरणज्ञानार्थमपेक्षणीयेन्द्रियस्यैव करणत्वोपपत्तावनुपलब्धेः करणत्वस्यायुक्तत्वात्। विशेषणविशेष्यभावो विशेषणविशेष्यस्वरूपमेव, नातिरिक्तः संबन्धः।

<u>प्रत्यक्षप्रमाणस्य निष्कृष्टं लक्षणं किम्?</u>

५७. एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तत्करणमिन्द्रियम्, तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

॥ इति तर्कसंग्रहे प्रत्यक्षपरिच्छेदः॥

इस प्रकार छः सन्निकर्षों से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। उनका करण इन्द्रियाँ हैं। इसलिए इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यह सिद्ध हुआ।

आशय उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष रूप से यह कहा गया है कि लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान में पूर्व वर्णित छः प्रकार के सन्निकर्ष ही इन्द्रिय और उसके विषय के मध्य बनते हैं।

इन्द्रियों के इन सन्निकर्षों से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण अर्थात् करण इन्द्रिय ही है, अतः इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानी जाती है।

॥ तर्कसंग्रह के प्रत्यक्षपरिछेद की आशा टीका समाप्त ॥

पदकृत्यम्

प्रत्यक्षप्रमाणमुपसंहरति एवमिति। उपदर्शितक्रमेणेत्यर्थः। ननु सिद्धान्ते प्रत्यक्षज्ञानकरणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षः किं न स्यादिति चेन्नेत्याह–तत्करणमिति। प्रत्यक्षप्रमाणं निगमयति–तस्मादिति। प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वादित्यर्थः। सिद्धमिति। न्यायसिद्धान्ते सिद्धिमित्यर्थः।

इति पदकृत्ये प्रत्यक्षपरिच्छेदः॥

प्रत्यक्षप्रमाणप्रकरण का उपसंहार करते हैं एवम् इति। बताई हुई रीति से यह एवम् का अर्थ है। अब प्रश्न यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रिय और अर्थ सन्निकर्ष को सिद्धान्त रूप में क्यों नहीं माना जाता? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्षज्ञान का करण इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार निगमन द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण को स्थिर करते हैं तस्मात् पद से। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा का करण इन्द्रियाँ हैं अतः प्रत्यक्ष प्रमाणं सिद्धम् का तात्पर्य है कि 'यह न्याय वैशेषिक शास्त्र में सिद्ध हुआ।'

॥ पदकृत्य टीका के हिन्दी भाषा अनुवाद का प्रत्यक्षपरिच्छेद पूर्ण हुआ ॥

तर्कदीपिका

प्रत्यक्षज्ञानमुपसंहरंस्तस्य करणमाह – एवमिति। असाधारण-कारणत्वादिन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणत्यिर्थः। प्रत्यक्षमुपसंहरति–तस्मादिति॥

॥ इति तर्कदीपिकायां प्रत्यक्षपरिच्छेदः॥

अनुमान-परिच्छेदः

अनुमानस्य किं लक्षणम्?

५८. **अनुमितिकरणमनुमानम्।**

अनुमितिः का?

परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः।

परामर्शस्य किं स्वरूपम?

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्नि-व्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः।

व्याप्तिः का?

यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।

पक्षधर्मतायाः किं लक्षणम्?

व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं।

परामर्श से जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं।

व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं। जैसे- 'वह्नि के व्याप्य धूम का अधिकरण यह पर्वत है' यह ज्ञान परामर्श है। इस प्रकार के परामर्श से जन्य ज्ञान 'पर्वतो वह्निमान्' को अनुमिति कहते हैं।

'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है' इस प्रकार के नियत सहचार को व्याप्ति कहते हैं। यहाँ धूम के साथ अग्नि का नियत सहचार है। अतः धूम और अग्नि की व्याप्ति मानी जाती है।

व्याप्य की पर्वत आदि पक्ष में विद्यमानता को पक्षधर्मता कहते हैं।

आशा प्रत्यक्ष के बाद दूसरा स्थान 'अनुमान' प्रमाण का है। अनुमान शब्द का अर्थ वात्स्यायन भाष्य में 'मितेन लिङ्गेन अर्थस्य अनु पश्चान्मानमनुमानम्' अर्थात् 'प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिङ्ग द्वारा अर्थ के अनु अर्थात् पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं' इस प्रकार किया गया है। यहाँ अनुमान पद का प्रयोग अनुमिति के अर्थ में किया गया है। वस्तुत: अनुमान प्रमाण का फल 'अनुमिति' है अत: मूल में अनुमिति के करण को अनुमान कहा गया है।

(तर्कसंग्रह की मूलोक्त पंक्तियों की हिन्दी व्याख्या से पूर्व हम अनुमान प्रमाण का सरल विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे विद्यार्थियों को इस पूरे प्रकरण को हृदयङ्गम करने में सुगमता रहेगी : – प्रत्यक्ष प्रमाण के विवेचन में हमने देखा कि वस्तु के प्रत्यक्षज्ञान हेतु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अनिवार्य है। जिस वस्तु के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न हो, वह 'परोक्ष' कहलाती है। जिस चिह्न या प्रक्रिया के द्वारा 'परोक्ष' वस्तु का ज्ञान हो, उसे 'अनुमान' कहते हैं। 'हेतु' या 'चिह्न' या 'लिंग' के 'परामर्श' के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है। इसलिए 'लिंग–परामर्श' को 'अनुमान' कहते हैं। जैसे – अपने या दूसरे के रसोई घर में बारबार धुआँ के साथ आग को देखकर देखने वाले के मन में 'जहाँ धुआँ है, वहाँ आग है', इस प्रकार का एक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद वह पुरुष जंगल में कभी जाता है तो उसे पर्वत से निकलता हुआ धुआँ दिखाई देता है। जब उसे स्मरण होता है कि 'जहाँ धुआँ हो वहाँ आग होती है'। इसके बाद वह उसी पर्वत में पुन: धुएँ को देखता हुआ यह भी जानता है कि वह धुआँ 'यत्र धूम: तत्र वह्नि:' इस व्याप्ति से विशिष्ट है। अन्त में वह निर्णय करता है कि 'यहाँ आग है।' यही 'अनुमान' की पूरी प्रणाली है। इसमें 'धुआँ' 'लिंग' या 'हेतु' कहा जाता है। इसी के द्वारा 'साध्य' 'आग' का ज्ञान होता है। 'धुआँ के साथ आग का रहना' एक प्रकार से धुआँ और आग के बीच एक 'स्वाभाविक सम्बन्ध' को प्रकट करता है। इसी 'स्वभाविक सम्बन्ध' को 'व्याप्ति' कहते हैं। व्याप्ति को स्मरण करते हुए दूसरी बार धुआँ को पर्वत में देखने के ज्ञान को 'परामर्श' या 'लिंगपरामर्श' कहते हैं। इस अनुमान में 'पर्वत' 'आश्रय' या 'पक्ष' कहा जाता है। 'आग' को 'साध्य' तथा 'धुआँ' को 'लिंग' कहते हैं। 'रसोईघर' को 'दृष्टान्त' कहते हैं। इसे 'सपक्ष' भी कहते हैं।

इस 'अनुमान' के दो मुख्य अंग है– 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता'। व्याप्ति से युक्त 'हेतु' का 'पक्ष' में होना पक्षधर्मता कहलाता है। 'पक्षधर्मता' के ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं।

अनुमान के भेद – विभिन्न दार्शनिकों के विवेचनों के आधार पर अनुमान के भेदों को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है– (I) पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट, (II) स्वार्थ एवं परार्थ और (III) केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि तथा अन्वयव्यतिरेकि। प्रथम वर्गीकरण योग और वेदान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राय: सभी दार्शनिक परम्पराओं में न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध होता है। द्वितीय वर्गीकरण प्राय: सभी दार्शनिकों को मान्य है।

तृतीय वर्गीकरण का विवेचन वैदिक परम्परा में ही पाया जाता है, बौद्ध और जैन परम्पराओं में नहीं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

(I) पूर्ववत् - 'पूर्व', अर्थात् 'पहले', अर्थात् 'कारण'। पहले के अनुसार जो अनुमान हो, अर्थात् 'कारण' से 'कार्य' के अनुमान को 'पूर्ववत्' अनुमान कहते हैं। जैसे - मेघ को जल से भरा हुआ देखकर 'वृष्टि होगी', ऐसा कोई अनुमान करे तो उसे 'पूर्ववत्' अनुमान कहेंगे।

शेषवत् - 'शेष', अर्थात् 'कार्य'। 'कार्य' को देखकर 'कारण' के अनुमान को 'शेषवत्' कहते हैं। जैसे - नदी में जल के आधिक्य तथा वेग को देखकर 'कहीं वृष्टि हुई होगी', ऐसे अनुमान को 'शेषवत्' कहते हैं।

सामान्यतो दृष्ट - साधारण रूप से परोक्ष वस्तु का जिसके द्वारा ज्ञान हो, उसे 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान कहते हैं। जैसे - सूर्य को प्रात:काल पूर्व दिशा में देखने के पश्चात् सायंकाल को पुन: पश्चिम दिशा में देखकर अनुमान किया जाता है कि 'सूर्य में गति है'।

(II) अनुमान के द्वितीय तरह के विभाजन का आधार इसका प्रयोजन है। स्वयं अपने ज्ञान का हेतुभूत अनुमान **स्वार्थानुमान** तथा स्वयं अनुमिति करके उसे दूसरे को ज्ञापित कराने का हेतुभूत पञ्चावयवयुक्त अनुमान **परार्थानुमान** कहलाता है। इसका विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा।

(III) लिङ्ग (हेतु) की साध्य के साथ किस प्रकार की व्याप्ति है, इसके आधार पर अनुमान का तृतीय प्रकार का विभाजन किया जाता है। इसके अनुसार अनुमान के **केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि** तथा **अन्वयव्यतिरेकि** तीन भेद हैं। इनका विवेचन भी आगे लिङ्ग-भेद-विवेचन के प्रसंग में किया जायेगा। **(अब मूलोक्त पंक्तियों की व्याख्या की जा रही है)**

अनुमिति को परामर्शजन्य ज्ञान कहा गया है और इसी प्रकरण में आगे अन्नंभट्ट ने लिङ्गपरामर्श को ही अनुमान प्रमाण कहा है। अत: अनुमान प्रकरण को ठीक से समझने के लिये "**अनुमिति**", "**परामर्श**", "**लिङ्ग**", "**व्याप्ति**" आदि पदों का विशेष विवेचन अपेक्षित है।

परामर्श से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। परामर्श लिङ्ग का किया जाता है। 'लिङ्ग' का लक्षण है 'व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्'। अर्थात् व्याप्ति बल से जो अर्थ का बोधक है उसको लिङ्ग कहते हैं। व्याप्ति का अर्थ है 'साहचर्य नियम'। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि:' अर्थात् जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोधक हो उसको 'लिङ्ग' कहते हैं। जैसे धूम वह्नि का लिङ्ग है। पर्वतादि पर धूम देखकर 'जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां वह्नि होती है' इस साहचर्य नियम या व्याप्ति के आधार पर अप्रत्यक्ष वह्नि का ज्ञान होता है। इसलिए धूम वह्नि का लिङ्ग कहलाता है। लिङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति 'लीनम् (अप्रत्यक्षं) अर्थं गमयति इति लिङ्गम्' यह की गई है।

'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्परामर्शः' - यह परामर्श का लक्षण है। 'वह्निव्याप्य-धूमवान् अयं पर्वतः' इत्याकारक जो ज्ञान है, वही व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान है, उसी को 'परामर्श' कहते हैं। इस परामर्श से 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक जो ज्ञान होता है, उसी को 'अनुमिति' कहते हैं। अर्थात् उक्त परामर्श रूप व्यापार द्वारा व्याप्तिज्ञान जिस ज्ञान का जनक होता है, वह ज्ञान है 'पर्वतो वह्निमान्', और उसी ज्ञान को अनुमितिज्ञान (प्रमा) कहते हैं। अभिप्राय यह है कि पर्वत पर जब हम धूम को देखते हैं, तब महानस में गृहीत हुई धूम-वह्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है और तब पर्वत पर हुआ धूमज्ञान उस व्याप्तिस्मृति से विशिष्ट हो जाता है। तदनन्तर 'वह्नि' से व्याप्य (व्याप्तिविशिष्ट) धूमवाला यह पर्वत है अर्थात् जिस धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति (नित्य सम्बन्ध) है, वह धूम से युक्त यह पर्वत है। यही है 'व्याप्तिविशिष्ट (धूम) का पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्व) ज्ञान' और इसी को परामर्श कहते हैं। इस परामर्श के होते ही 'पर्वतो वह्निमान्'-पर्वत वह्निवाला है- यह अनुमिति प्रमा तत्काल हो जाती है। इसलिए 'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः' यह अनुमिति का लक्षण किया गया है।

परामर्श को लिङ्ग के तृतीय ज्ञान के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। इसको इस तरह समझा जा सकता है :- जितने बार के दर्शन से इस स्वाभाविक सम्बन्ध या 'व्याप्ति' का निश्चय होता है। वह सब मिलकर धूम का 'प्रथम दर्शन' कहा जायगा। 'व्याप्ति' ग्रहण के बाद जो पर्वतादि में धूम का दर्शन होता है उसको द्वितीय दर्शन समझना चाहिए। उस द्वितीय दर्शन से पूर्वगृहीत धूम और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है। इस 'व्याप्ति स्मृति' के बाद 'वह्निव्याप्य धूमवांश्चायं पर्वतः' इस प्रकार का ज्ञान होता है इसी को 'तृतीय ज्ञान' कहते हैं। यही अनुमिति के प्रति करण होने से 'अनुमान' कहा जाता है। इसी 'तृतीय ज्ञान' के बाद तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' (इसलिए पर्वत वह्नि युक्त है) यह अनुमति हो जाती है। इसलिए 'वह्निव्याप्य-धूमवांश्चायं पर्वतः' यह तृतीय ज्ञान ही वह्नि ज्ञान के प्रति 'करण' है और इसी को 'अनुमान' कहते हैं।

इस तृतीय ज्ञान के दो अंश हैं एक अंश 'व्याप्ति' को सूचित करता है और दूसरा 'पक्षधर्मता' को। 'वह्निव्याप्य' इतने अंश से व्याप्ति सूचित होती है और 'धूमवांश्च पर्वतः' इस अंश से धूम का पर्वत रूप पक्ष में अस्तित्व प्रतीत होता है। इसको 'पक्षधर्मता' ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार अनुमान के दो मुख्य अंश होते हैं, एक 'व्याप्ति' और दूसरा 'पक्षधर्मता'। 'वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः' इस तृतीय ज्ञान में ये दोनों अंश प्रतीत होते हैं। इसलिए इस 'तृतीय ज्ञान' को 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' भी कहते हैं। इसलिए 'व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' और 'लिङ्गस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः' ये दोनों ही 'परामर्श' के लक्षण कहे जाते हैं। यह 'परामर्श' ही 'अनुमान' प्रमाण है क्योंकि यही अनुमिति का कारण है- लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

पदकृत्यम्

प्रत्यक्षानुमानयोः कार्यकारणभावसङ्गतिमभिप्रेत्य प्रत्यक्षानन्तरमनुमानं निरूपयति-अनुमितीति। अनुमितेः करणमनुमानमित्यर्थः। तच्च लिङ्गपरामर्श एवेति

निवेदयिष्यते। कुठारादावतिव्याप्तिवारणाय अनुमितीति। प्रत्यक्षादावतिव्याप्ति-वारणाय अन्विति।

नन्वनुमितेरेव दुर्निरूपत्वात्तद्घटितानुमानमपि दुर्निरूपमित्यत आह-परामर्शेति। प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिवारणाय परामर्शजन्यमिति। परामर्शध्वंसवारणाय ज्ञानमिति। परामर्शप्रत्यक्षवारणाय हेत्वविषयकमित्यपि बोध्यम्।

व्याप्तिविशिष्टेति। विषयितासम्बन्धेन व्याप्तिविशिष्टं पक्षधर्मताज्ञानं परामर्श इत्यर्थ:। घटादिज्ञानवारणाय पक्षधर्मतेति। धूमवान्पर्वत इत्यादिज्ञानवारणाय व्याप्तिविशिष्टेति। तदिति। परामर्शजन्यमित्यर्थ:।

यत्र यत्रेति। यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्तेरभिनय:। तत्र साहचर्य-नियम इति लक्षणम्। सहचरतीति सहचरस्तस्य भाव: साहचर्यं सामानाधिकरण्यमिति यावत्। तस्य नियमो व्याप्तिरित्यर्थ:। स चाव्यभिचरितत्वम्। तच्च व्यभिचाराभाव:। व्यभिचारश्चसाध्याभाववद्वृत्तित्वम्। तथा च साध्याभाववदवृत्तित्वं व्याप्तिरिति पर्यवसन्नम्। महानसं वह्निमत् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निस्तदभाववान् जलह्रदादि-स्तद्वृत्तित्वं नौकादाववृत्तित्वं प्रकृते हेतुभूते धूमे इति कृत्वा लक्षणसमन्वय:। धूमवान् वह्नेरित्यादौ साध्यो धूमस्तदभाववदयोगोलकं तद्वृत्तित्वमेव वह्न्यादाविति नातिव्याप्ति:।

ननु ज्ञातेयं व्याप्ति:। पक्षधर्मताज्ञानमित्यत्र का नाम पक्षधर्मता इत्यपेक्षमाणं प्रति तत्स्वरूपं निरूपयति-व्याप्यस्येति। व्याप्यो नाम व्याप्त्याश्रय:, स च धूमादिरेव। तस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मतेत्यर्थ:।

प्रत्यक्ष और अनुमान में कार्य-कारणभाव सङ्गति समझ कर प्रत्यक्षनिरूपण के बाद अनुमान का निरूपण कहते हैं। अनुमिति इति। अनुमिति का करण अनुमान होता है। लिङ्ग परामर्श ही अनुमान है यह आगे बतायेंगे। यदि अनुमान का लक्षण 'करण' इतना ही कहा जाये तो छिदा के करण कुठार में अतिव्याप्ति होगी अत: लक्षण में अनुमिति पद दिया है। 'मिति करण' को अनुमान कहने पर प्रत्यक्ष आदि में अतिव्याप्ति होगी, अत: अनु पद दिया है।

अनुमिति का ज्ञान हुए बिना अनुमान का ज्ञान नहीं हो सकता। अत: अनुमिति का लक्षण कहते हैं **परामर्श इति**। प्रत्यक्षादि ज्ञान मात्र में अतिव्याप्ति वारण के लिए परामर्शजन्य पद है। परामर्शजन्य परामर्शध्वंस में अतिव्याप्ति वारण के लिए ज्ञान पद है। परामर्श का मानसप्रत्यक्ष भी परामर्शजन्य है, अत: उसमें अनुमिति लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये 'हेत्वविषयक' ऐसा विशेषण लगाना चाहिये। 'पर्वतोऽवह्निमान्' यह प्रत्यक्षज्ञान हेत्वविषयक है अत: अतिव्याप्ति नहीं होती।

विषयिता सम्बन्ध से व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान को परामर्श कहते हैं। ज्ञान में विषयिता और वस्तु में विषयता धर्म रहता है। विषयिता सम्बन्ध से घटज्ञान में अतिव्याप्ति

वारण के लिए पक्षधर्मता पद है। 'धूमवान् पर्वत' इस पक्षधर्मता ज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिए व्याप्तिविशिष्ट पद है। 'तज्जन्यं' से परामर्श जन्यम् अर्थ समझना चाहिए।

'यत्र-यत्र धूम: तत्र-तत्र अग्नि:' यह व्याप्ति का लक्षण नहीं किन्तु अभिनय है। 'साहचर्य नियम' यह लक्षण है। साथ चलते हैं बिछुड़ते नहीं, उन्हें सहचर कहते हैं। सहचर के भाव को साहचर्य कहते हैं। साहचर्य और सामानाधिकरण्य पर्यायपद हैं। साहचर्य का नियम ही व्याप्ति है। वह नियम अव्यभिचरितत्व रूप है। अव्यभिचरितत्व का अर्थ व्यभिचाराभाव है। 'साध्याभाववद् वृत्तित्वम्' व्यभिचार है। इसका अभाव 'साध्याभाववदवृत्तित्वम्' व्याप्ति है। 'महानसं वह्निमत् धूमात्' में साध्य वह्नि है उसका अभाव वह्न्यभाव का अधिकरण जल ह्रद, उसमें धूम की अवृत्तिता है। इस प्रकार व्याप्ति के लक्षण का समन्वय है। 'धूमवान् वह्नेः' इत्यादि में साध्य धूम, साध्याभाव धूमाभाव, उसका अधिकरण अयोगोलक उसमें वह्नि की वृत्तिता है। अत: व्याप्ति के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हुई है।

व्याप्ति समझ ली गयी। परामर्श के लक्षण पक्षधर्मताज्ञानम् में पक्षधर्मता पद है। उसका क्या स्वरूप है? इसका उत्तर 'व्याप्यस्य' से कहते हैं। व्याप्य वह है जो व्याप्ति का आश्रय है। वह वह्नि धूम के सम्बन्ध में धूम है। उसका पर्वत वृत्तित्व 'धूमवान् पर्वत:' ज्ञान पक्षधर्मता है।

तर्कदीपिका

अनुमानं लक्षयति - अनुमितिकरणमिति। अनुमितेर्लक्षणमाह - परामर्शेति। ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षेऽतिव्याप्ति:, स्थाणुपुरुषसंशयानन्तरं, पुरुषत्व-व्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सति, पुरुष एवेति प्रत्यक्षजननात्। न च तत्रानु-मितिरेवेति वाच्यम्। 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायविरोधादिति चेत्, - न; पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्। सिषाधयिषाविरहसहकृत-सिद्ध्यभाव: पक्षता। साध्यसिद्धिरनुमितिप्रतिबन्धिका सिद्धि-सत्त्वेऽपि 'अनुमिनु-याम्' इतीच्छायामनुमितिदर्शनात् सिषाधयिषोत्तेजिका। ततश्चोत्तेजकाभाव-विशिष्टमण्यभावस्य दाहकारणत्ववत् सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्य-भावस्याप्यनुमितिकारणत्वम्॥ परामर्शं लक्षयति - व्याप्तीति। व्याप्तिविषयकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श इत्यर्थ:। परामर्शमभिनीय दर्शयति - यथेति। अनुमितिमभिनयति - तज्जन्यमिति। परामर्शजन्यमित्यर्थ:॥ व्याप्तेर्लक्षणमाहयत्रेति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तेरभिनय:। साहचर्यनियम इति लक्षणम्। साहचर्यं सामानाधिकरण्यं, तस्य नियम:। हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावा-प्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थ:। पक्षधर्मतास्वरूपमाह - व्याप्यस्येति॥

अनुमानं कितिविधम्?

५९. (क) अनुमानं द्विविधं:- स्वार्थं परार्थं च।

अनुमान दो प्रकार का है:- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

आशा मनुष्य तो क्या संसार में प्राणी मात्र के सभी कार्यकलाप किसी न किसी अभिप्राय को लेकर ही निष्पन्न होते हैं। 'जिस अभिप्राय से प्रयुक्त होकर मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। किसी अभीप्सित वस्तु के ग्रहण अथवा अनिष्ट वस्तु के परित्याग करने के लिए ही किसी कार्य का आरम्भ किया जाता है, इसीलिए यह प्रयोजन सभी प्राणियों, सकल कर्मों तथा समस्त विद्याओं में व्याप्त है तथा इसी के आधार पर न्याय की प्रवृत्ति होती है। आन्वीक्षिकी-विद्या से सम्बद्ध होने के कारण अनुमान भी प्रयोजनविहीन नहीं है, अपितु इसके दो प्रयोजन स्पष्टत: दृष्टिगोचर होते हैं प्रथम - स्वयं द्वारा अर्थविषयक अभिनवज्ञान का अर्जन तथा द्वितीय - अन्य पुरुषहितार्थ उसका उचित प्रतिपादन। परोक्ष अथवा अपरोक्ष किसी भी वस्तु का परीक्षण, स्वयं अपने लिये भी किया जा सकता है और स्वयं द्वारा निर्धारित तथ्यों के आधार पर, उसका प्रतिपादन, अन्य व्यक्तियों को भी कराया जा सकता है। अनुमान विवेचन के प्रसङ्ग में इस द्विविध प्रणाली का विशेष ही महत्त्व है। इन्हीं दो प्रयोजनों के आधार पर अनुमान के दो भेद स्वार्थ और परार्थ किये जाते हैं। 'स्वयमस्य अर्थ: प्रयोजनं यस्मात् तत् स्वार्थमिति' तथा 'परस्य अर्थ: प्रयोजनं यस्मात् तत् परार्थमिति' इन व्युत्पत्तियों के अनुसार स्वयं के प्रयोजन से जो अनुमान किया जाता है, उसे स्वार्थानुमान तथा अपर व्यक्ति के अभिप्राय से प्रवृत्त होने वाला अनुमान परार्थ कहलाता है। उपलब्ध प्राचीन न्याय ग्रन्थों में से स्वार्थ-परार्थ अनुमान लक्षणों का स्पष्ट विवरण 'प्रशस्तपादभाष्य' तथा 'प्रमाणसमुच्चय' में ही मिलता है। स्वार्थानुमान केवल अपनी शंकाओं के निवारण के लिये ही किया जाता है, इसलिये इसमें अवयव वाक्यों के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु परार्थानुमान का प्रयोजन दूसरों को समझाना ही रहता है, इसलिये इसमें अवयव वाक्यों का प्रयोग आवश्यक रूप से किया जाता है।

पदकृत्यम्

अथ कथमनुमानमनुमितिकरणं कथं वा तस्मादनुमितेर्जनिरिति जिज्ञासमानं प्रति लाघवादनुमानविभागमुखेनैव बुबोधयिषुरनुमानं विभजते अनुमानमिति। द्वैविध्यं दर्शयति-स्वार्थं परार्थं चेति। स्वस्यार्थ: प्रयोजनं यस्मात् तत् स्वार्थमिति समास:। स्वप्रयोजनं च स्वस्यानुमेयप्रतिपत्ति:। एवं परार्थमित्यस्यापि।

अनुमान अनुमिति का करण कैसे है अथवा उससे अनुमिति का जन्म कैसे होता है? इस प्रकार जिज्ञासा करने वाले को अल्प प्रयत्न से समझाने के लिए अनुमान का विभाग बताते हैं कि वह दो प्रकार का है। स्वार्थ शब्द का अर्थ स्वप्रयोजन है। स्वप्रयोजन भी अपने लिए अनुमेय का ज्ञान होना है। अनुमेय अर्थ का ज्ञानरूप अपना प्रयोजन जिस अनुमान से सिद्ध हो, वह स्वार्थानुमान है तथा दूसरे को अनुमेयार्थज्ञानरूप प्रयोजन जिससे सिद्ध हो, वह परार्थानुमान है।

<u>किं नाम स्वार्थानुमानम्?</u>

५९. (ख) स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः, तथाहि स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति- 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति'। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते तस्मात् पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत् स्वार्थानुमानम्।

स्व के लिए अनुमिति का जो हेतु उसे स्वार्थ कहते हैं। जैसे किसी ने रसोई घर में बार-बार धूम और अग्नि का सहचार देखकर 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस प्रकार की व्याप्ति को समझ लिया। फिर वह पर्वत के समीप गया। वहाँ सन्देह हुआ कि पर्वत में आग है या नहीं। तब वह पर्वत में धूम देखकर व्याप्ति का स्मरण करता है कि 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ आग है'। उसके बाद 'वह्नि के व्याप्य धूम का आश्रय यह पर्वत है' यह ज्ञानं उत्पन्न होता है। इसे ही लिङ्गपरामर्श कहते हैं। इससे पर्वतो वह्निमान् यह अनुमिति रूप ज्ञान उत्पन्न होता है यह स्वार्थानुमान का प्रकार है।

आशा स्वयं अपने ज्ञान का हेतु भूत अनुमान स्वार्थानुमान कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति रसोईघर आदि में विशेष प्रत्यक्ष से स्वयं ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण करके पर्वत के समीप गया हुआ और पर्वतगत अग्नि के विषय में 'पर्वत में अग्नि है या नहीं' इस प्रकार का सन्देह करता हुआ पर्वत पर विद्यमान अविच्छिन्नमूला धूम की रेखा को देख कर, धूम के दर्शन से संस्कार का उद्बोध हो जाने से उद्बुद्ध संस्कार वाला पुरुष 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है' इस व्याप्ति को स्मरण करता है। उसके बाद यहाँ पर्वत में भी धूम है इस प्रकार (तृतीय बार पर्वत में वह्नि व्याप्य धूम को) जानता है। इसलिए इस पर्वत पर अग्नि भी है इस प्रकार स्वयमेव पर्वत पर अग्नि को जान लेता है। इसे ही स्वार्थानुमान कहते हैं।

पदकृत्यम्

अयमिति। व्याप्तिबलेन लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्, तच्च धूमादि, तस्य परामर्शो ज्ञानविशेष इत्यर्थः। तस्मादिति। लिङ्गपरामर्शादित्यर्थः। स्वार्थानुमानमुपसंहरति तदेदिति। यस्मादिदं स्वप्रतिपत्तिहेतुस्तस्मादेतत्स्वार्थानुमानमित्यर्थः।

व्याप्ति के बल से लीन (छिपे हुए) अर्थ को प्रकट कराने वाला लिङ्ग कहा जाता है। वह धूमादि है। उसका परामर्श एक प्रकार का विशेष ज्ञान है। तस्मात् पद का अर्थ लिङ्ग परामर्शात् है। तदेतत् पद स्वार्थानुमान के उपसंहार के लिए प्रयुक्त है। क्योंकि यह स्वयं के ज्ञान का हेतु है, अतः यह स्वार्थानुमान है।

तर्कदीपिका

अनुमानं विभजते - अनुमानमिति। स्वार्थानुमितिं दर्शयति स्वयमेवेति। भूयोदर्शनेनेति। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे साध्यसाधनयोर्भूयः सहचारदर्शनेनेत्यर्थः। ननु पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वादौ शतशः सहचारदर्शनेऽपि वज्रादौ व्यभिचारोपलब्धेर्भूयोदर्शनेन कथं व्याप्तिग्रहः? इति चेत् न; व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात्। व्यभिचारज्ञानं द्विविधम् निश्चयः शङ्का च। तद्विरहः क्वचित्तर्कात् क्वचित्स्वतः सिद्ध एव। धूमाग्निव्याप्तिग्रहे कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गलक्षणस्तर्को व्यभिचारशङ्कानिवर्तकः॥ ननु सकलवह्निधूमयोरसंनिकर्षात्कथं व्याप्तिग्रहः? इति चेत्,-न; धूमत्ववह्नित्वरूपसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सकलधूमवह्निज्ञानसंभवात्॥ तस्मादिति। लिङ्गपरामर्शादित्यर्थः।

<u>परार्थानुमानस्य किं स्वरूपम्?</u>

६०. यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रतिबोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्। यथा- पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथेति। अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।

स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरों को बोध करने के लिए जो पंञ्चावयववाक्य का प्रयोग करते हैं वह परार्थानुमान है। जैसे पर्वत, अग्नि का आश्रय है क्योंकि धूम वाला है। जो-जो धूम वाला होता है वह-वह अग्नि का आश्रय होता है। जैसे-रसोईघर। यह पर्वत भी वैसा ही है अतः वह भी रसोईघर की भाँति अग्नि वाला है। इस प्रकार लिङ्ग का प्रतिपादन सुनकर दूसरे को भी पर्वत में अग्नि की अनुमिति हो जाती है।

आशा जब कोई व्यक्ति स्वयं स्वार्थानुमान पद्धति से किसी वस्तु की अनुमिति कर लेता है, तत्पश्चात् उसी अनुमिति का यदि वह किसी अन्य व्यक्ति को ज्ञान कराना चाहता है तो वह परार्थानुमान की पद्धति का अवलम्बन करता है। इसके अन्तर्गत उसे पाँच अवयवों से युक्त वाक्य का प्रयोग करना पड़ता है। पूर्वोक्त स्वार्थानुमान में धूम द्वारा अग्नि की अनुमिति को ही परार्थानुमान में पञ्चावयव युक्त वाक्य द्वारा इस प्रकार अन्य व्यक्ति को समझाया जाता है :- यह पर्वत अग्नि से युक्त है, क्योंकि यह पर्वत धूम से युक्त है, (कारण यह है कि) जो जो आश्रय धूम से युक्त होता है, वह वह आश्रय अग्नि से युक्त भी होता है, जैसे रसोईघर आदि, यह पर्वत भी (रसोईघर की तरह) धूम से युक्त है, अतः (यह पर्वत भी रसोईघर की तरह) अग्नि से युक्त है। इस व्यवस्थित वाक्य के प्रयोग से दूसरे व्यक्ति को भी पर्वत में अप्रत्यक्ष अग्नि की अनुमिति हो जाती है। यही परार्थानुमान है।

पञ्चावयवों का प्रतिपादन आगे मूल में किया गया है।

पदकृत्यम्

क्रमप्राप्तं परार्थानुमानमाह-यत्त्विति। यत्पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते-तत्परार्थानुमानमिति सम्बन्धः। पञ्चावयवेति। अथावयवत्वं नाम द्रव्यसमवायिकारणत्वम्, प्रतिज्ञादिषु तदसम्भवात्कथमेतेऽवयवाः स्युरिति चेत्। अनुमानवाक्यैकदेशत्वात्तु अवयवा इत्युपचर्यत इति गृहाण। नन्वेवमपि पञ्चावयववाक्यस्यानुमानत्वमेव न विचारसहं तस्य लिङ्गपरामर्शत्वाभावादिति चेत्। मैवम्। लिङ्गपरामर्शप्रयोजकलिङ्गप्रतिपादकत्वेनानुमानमित्युपचारमात्रत्वात्। तदुदाहरति-यथेति। तथा चायमिति। अयं च पर्वतः, तथा वह्निव्याप्यधूमवानित्यर्थः। तस्मात्तथेति। वह्निव्याप्यधूमवत्त्वाद्वह्निमानित्यर्थः। अनेनेति। अनेन पञ्चावयववाक्येनेत्यर्थः।

क्रमप्राप्त परार्थानुमान को कहते हैं यत्तु इति ।·जहाँ पञ्चावयववाक्य का प्रयोग होता है वह परार्थानुमान है। यहाँ कोई यह शंका करे कि अवयवों को समवायिकारण कहा गया है, यथा तन्तु और पट में तन्तु अवयव हैं जो कि पट (अवयवी) रूप कार्य का समवायिकारण है। अतः परार्थानुमान में प्रयुक्त वाक्य के अँशों को अवयव कहना उचित नहीं है। इस शंका का समाधान यह है कि अनुमान के लिए प्रयुक्त वाक्य के एक-एक अवयवों के लिए पञ्चावयव, यह प्रयोग औपचारिक है। यदि कहा जाय कि पञ्चावयव वाक्य अनुमान नहीं हैं, क्योंकि वे लिङ्ग परामर्श नहीं हैं? तो यह उचित नहीं है। क्योंकि लिङ्ग परामर्श का प्रयोजक लिङ्ग का प्रतिपादक होने के कारण अनुमान यह पञ्चावयव वाक्य में औपचारिक प्रयोग है। उदाहरण के लिए 'यथा' शब्द है। यह पर्वत वह्निव्याप्य धूम वाला है यह 'तथाचायं' का अर्थ है। वह्नि व्याप्य धूम वाला है अतः वह्निमान है यह 'तस्मात् तथा' का अर्थ है। 'अनेन' शब्द से 'पञ्चावयव वाक्य से' इस वाक्य का बोध होता है।

तर्कदीपिका

परार्थानुमानमाह-यत्त्विति॥ यच्छशब्दस्य तत्परार्थानुमानमिति तच्छब्देनान्वयः॥ पञ्चावयववाक्यमुदाहरति-यथेति।

पञ्चावयवाः के?

६१. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमानित्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्।

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन, निगमन ये पञ्चावयव हैं। पर्वत में आग है यह 'प्रतिज्ञा' है। 'धूमवत्वात्' यह हेतु है। जो-जो धूम वाला है वह-वह अग्नि वाला है यह 'उदाहरण' है। यह पर्वत भी वह्निव्याप्य धूमवान् है, यह 'उपनय' है। यतः पर्वत धूमवान् है अतः वह्निमान भी है, यह 'निगमन' है।

आशा जो कोई धूम से स्वयं अग्नि का अनुमान करके उसी का दूसरे को बोध कराने के लिए पञ्चावयव अनुमान का प्रयोग करता है उस अनुमान को परार्थानुमान कहते हैं। पञ्चावयव युक्त अनुमान वाक्य के प्रयोग का उदाहरण देते हैं। १. **यह पर्वत अग्निमान् है** यह प्रथम अवयव प्रतिज्ञा है। २. **धूम युक्त होने से** यह हेतु रूप दूसरा अवयव है ३. **जो जो धूमयुक्त होता है वह वह वह्नि युक्त भी होता है जैसे रसोई घर** यह उदाहरण रूप तीसरा अवयव हुआ ४. **यह पर्वत भी उसी प्रकार के धूम से युक्त है** यह चौथा अवयव उपनय हुआ। (इसको 'वह्निव्याप्य-धूमवांश्चायं' इस रूप में बोलना चाहिए। परन्तु संक्षेप में उसको 'तथा चायं' कह कर भी व्यवहार किया जाता है। इसमें व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों की प्रतीति होती है। इसलिए इसको 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' या 'लिङ्गपरामर्श' रूप 'अनुमान' भी कहते हैं। क्योंकि) इसके बाद ५. निगमन रूप पञ्चम अवयव **इस लिए वैसा अर्थात् अग्नियुक्त है** इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है जो अनुमिति रूप है।

मूलोक्त प्रतिज्ञा आदि परार्थानुमान के अवयव कहे गये हैं। परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिये ही प्रयुक्त होता है, अतः इसमें वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। जिन वाक्यों द्वारा दूसरों को समझाया जाता है, उन्हें पारिभाषिक शब्दावली में 'न्यायावयव' या न्याय के अवयव कहा जाता है। अतः न्याय अवयवों के विवेचन के पूर्व न्याय तथा अवयव का लक्षण जान लेना आवश्यक है। वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण द्वारा वस्तुओं की परीक्षा करना ही न्याय है (न्यायभाष्य १।१।१)। अन्यत्र अवयवों में समस्त प्रमाणों का पर्यवसान करते हुए उन्होंने अवयव समूह को भी परम न्याय कहा है। जैसे - 'पर्वत अग्निमान् है' इस प्रतिज्ञा वाक्य में शब्द-विषयक प्रतीति होने के कारण, शब्द प्रमाण का, 'धूम होने से' इस हेतु वाक्य में उदाहरण में सादृश्य प्रतिपत्ति होने से, अनुमान प्रमाण का, 'जो-जो धूमवान् है वह-वह अग्निमान् है यथा पाकशाला' इस उदाहरण वाक्य में दृष्ट (प्रत्यक्ष) हेतु धूम के द्वारा अदृष्ट अग्नि के साहचर्य नियम को प्रदर्शित किया जाने से, प्रत्यक्ष प्रमाण का, 'यह पर्वत भी धूमवान् है' इस उपनय वाक्य में साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा उपसंहार होने से, उपमान प्रमाण का समावेश हो जाता है तथा निगमन वाक्य में उक्त चारों वाक्यों के समाविष्ट हो जाने के कारण पञ्च वाक्य रूप अवयव समुदाय को परम न्याय कहा जाता है। अवयव की परिभाषा देते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि साधनीय अर्थ का निश्चय करने के लिये, शब्द समूह रूप कुछ वाक्यों का प्रयोग करना आवश्यक है और जिन प्रतिज्ञादि वाक्यों से साध्य की सिद्धि की जाती है, उनको समूह की अपेक्षा से अवयव कहा जाता है। न्यायसूत्र १।१।३२ में इन पाँचों अवयवों का इसी नाम से उल्लेख किया गया है। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में भी इनका उल्लेख है परन्तु इनके नाम क्रमशः प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान तथा प्रत्याम्नाय दिये गये हैं।

प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयवों के लक्षण इस प्रकार है :-

प्रतिज्ञा - जिस वाक्य द्वारा साध्य का उल्लेख किया जाय उसे प्रतिज्ञा कहते हैं (साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, न्यायसूत्र १।१।३३)। इस लक्षण का परिष्कार करते हुए भाष्यकार

ने 'साध्य' पद की व्याख्या - 'साधनीयधर्मविशिष्ट धर्मी' करने के उपरान्त, उसके कथन को प्रतिज्ञा कहा है। जैसे 'शब्द अनित्य है' यह वाक्य अनित्यत्वधर्मविशिष्ट शब्द रूप धर्मी का बोधक होने से प्रतिज्ञा कहलाता है।

हेतु - इसके दो भेद बताते हुये महर्षि गौतम ने 'उदाहरण के सादृश्य के आधार पर साध्य के प्रतिपादक वाक्य को साधर्म्य हेतु और उदाहरण के वैसादृश्य के आधार पर साध्य के प्रतिपादक वाक्य को वैधर्म्य हेतु' कहा है (न्यायसूत्र १।१।३४)। महर्षि कणाद ने हेतु, अपदेश, लिङ्ग आदि शब्दों से हेतु को प्रकट किया है। लिङ्ग और हेतु शब्द पर्याय हैं। अत: सरल शब्दों में 'जो व्याप्ति के बल से अपने साध्य रूप अर्थ का बोधक हो उसे लिङ्ग कहते हैं' (तर्कभाषा)।

उदाहरण - न्यायसूत्र के अनुसार, साध्य के समान धर्म वाला होने के नाते, दृष्टान्त वचन, साधर्म्य उदाहरण कहलाता है। 'दृष्टोऽन्तो निश्चयो येन स: दृष्टान्त:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिसको देख लेने के पश्चात् किसी बात का निश्चय हो जाता है, उसे दृष्टान्त कहा जाता है। न्याय सूत्रकार के शब्दों में 'जिस पदार्थ में लौकिक और परीक्षक पुरुष की समान बुद्धि पायी जाये, वह दृष्टान्त कहलाता है।' साध्य के साथ, समानधर्मता से, जिस अधिकरण में, साध्य का धर्म अर्थात् साधन रहता हो, उसे साधर्म्य दृष्टान्त तथा उसके कथन को साधर्म्य उदाहरण कहा जाता है। जैसे 'जो-जो उत्पत्तिधर्मक होता है वह-वह अनित्य होता है यथा स्थाली' इस रूप से स्थाली में साध्य-साधन के नियत सम्बन्ध को देखकर, अनुमाता हेतु 'उत्पत्तिधर्मकत्व' से धर्मी 'शब्द' में साध्य 'अनित्यत्व' का अनुमान कर लेता है। इस अनुमान में साध्य निश्चय के लिये प्रयुक्त हेतु 'उत्पत्तिधर्मकत्व' का अधिकरण जैसे, शब्द है, उसी प्रकार उसका अधिकरण स्थाली भी है। शब्द के इसी सादृश्य के कारण स्थाली आदि साधर्म्य दृष्टान्त कहलाते हैं।

साधर्म्य दृष्टान्त के विरुद्ध धर्म से युक्त होने के कारण दृष्टान्त वचन वैधर्म्य उदाहरण कहलाता है। तदनुसार साध्य के साथ, विरुद्धधर्मता से (वैसादृश्य द्वारा) जिस अधिकरण में, साध्य का धर्म अर्थात् साधन न पाया जाय, उसे वैधर्म्य दृष्टान्त तथा उसके कथन को वैधर्म्य उदाहरण कहा जाता है। जैसे - 'शब्द अनित्य है', उत्पत्तिधर्मक होने से, जो भी नित्य होता है वह उत्पत्तिधर्मक नहीं होता, जैसे- आत्मा आदि। यहाँ दृष्टान्त आत्मा आदि में, उत्पत्तिधर्म के अभाव में, नित्यत्व को देखकर शब्द में भी विपरीत धर्म अनित्यत्व का अनुमान किया जाता है, क्योंकि शब्द में उत्पत्ति धर्म का अभाव नहीं, किन्तु भाव ही पाया जाता है? इस कारण उसमें अनित्यता सिद्ध की जा सकती है इसलिये 'अनित्यत्व' धर्म के विपरीत 'नित्यत्व' धर्म से विशिष्ट होने के कारण आत्मा आदि को वैधर्म्य दृष्टान्त कहा जाता है।

उपनय - उदाहरण सापेक्ष होने के नाते उपनय भी उदाहरण की भांति साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है- साधर्म्य उपनय और वैधर्म्य उपनय। एक ही सूत्र में उपनय के दो प्रकारों का वर्णन करते हुए महर्षि गौतम ने उनके लक्षणों को इस प्रकार

व्यक्त किया है-''उदाहरण की अपेक्षा से 'तथा इति' - (उसी प्रकार यह भी वैसा है) या 'न तथा' (उसी प्रकार यह भी वैसा नहीं है) इस प्रकार से साध्य का उपसंहार (पुनर्कथन) उपनय है।'' उदाहरण के अनुसार ही उपसंहार होना चाहिए। दृष्टान्त में साध्य-साधन की व्याप्ति जिस प्रकार से उपलब्ध होती है, उसी प्रकार की व्याप्ति का उपसंहार उपनय वाक्य में किया जाता है। जैसे, पक्ष साधर्म्य द्वारा कथन किये हुए स्थाली आदि दृष्टान्त में 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु की 'अनित्यत्व' साध्य के साथ अन्वय व्याप्ति पायी जाती है उसी प्रकार, ऐसी व्याप्ति से युक्त उदाहरण की अपेक्षा रखते हुए 'तथा शब्द इति' अर्थात् 'स्थाली की तरह उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द भी अनित्य है' इस प्रकार शब्द रूप पक्ष में 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु का साधर्म्य या अन्वय रूप से ही उपसंहार होना चाहिये। अत: पक्ष में हेतु के साधर्म्य रूप से उपसंहार होने के कारण यह साधर्म्य उपनय कहलाता है तथा पक्ष वैधर्म्य से कथन किये गये आत्मा आदि दृष्टान्तों में साध्याभाव-साधनाभाव रूप व्यतिरेक व्याप्ति पायी जाने के कारण 'न च तथा शब्द इति-'आत्मा आदि के समान शब्द भी उत्पत्ति धर्म के अभाव वाला नहीं है' इस प्रकार पक्ष शब्द में अनुत्पत्ति धर्म-प्रतिषेध के द्वारा हेतु उत्पत्तिधर्मकत्व का वैधर्म्य या व्यतिरेक रूप से उपसंहार होना चाहिये। अत: पक्ष में हेतु के वैधर्म्य रूप से उपसंहार होने के नाते इसे वैधर्म्य उपनय कहा जाताहै। इस प्रकार उदाहरण की अपेक्षा से जहाँ-जहाँ वैधर्म्य दृष्टान्त होता है वहाँ-वहाँ उसकी 'न तथा' इस प्रकार का वैधर्म्य उपनय तथा जहाँ जहाँ साधर्म्यदृष्टान्त होता है, वहाँ वहाँ 'तथा इति' इस प्रकार से उपसंहार होकर साधर्म्य उपनय का प्रयोग होता है।'

निगमन - 'हेतु के कथन द्वारा प्रतिज्ञा के उपसंहार वाक्य' को महर्षि गौतम के अनुसार निगमन कहा जाता है (न्याय सूत्र १।१।३९)। हेतु, उदाहरण और उपनय की भांति महर्षि ने निगमन के द्विविध प्रकारों को सूचित नहीं किया है, किन्तु भाष्यकार ने, साधर्म्य निगमन और वैधर्म्य निगमन ये दो भेद स्पष्टत: अंकित किये हैं। सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि उदाहरण के अनुसार साधर्म्य अथवा वैधर्म्य हेतु के उपसंहार के आधार पर, 'इसलिये उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है' इत्यादि वाक्य से जो प्रतिज्ञा वाक्य का पुन: कथन किया जाता है, उसे निगमन कहते हैं। साधर्म्य रूप से निगमन को 'तस्मात् तथा' और वैधर्म्य रूप से 'तस्मात् न तथा' आदि शब्दों में व्यक्त किया जाता है। जैसे - 'तस्मात्' - 'हेतुविशिष्ट होने से'- 'उत्पत्तिधर्मक होने से' पक्ष शब्द, 'तथा'-साध्यवाला-अनित्य है एवं 'तस्मात्'-हेत्वभाव के अभाव से विशिष्ट होने के कारण-'अनुत्पत्तिधर्मक न होने के कारण पक्ष शब्द 'न तथा'-'साध्याभाव वाला'-'नित्य नहीं है।' 'निगम्यन्ते अनेन इति निगमनम्' इस व्युत्पति के आधार पर जो वाक्य, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय इन चारों अवयवों को एकत्र सूत्रबद्ध करने की क्षमता रखता हो, उसे निगमन कहा जाता है।

पदकृत्यम्

ननु पञ्चावयववाक्यमित्यत्र के ते पञ्चावयवा अतस्तान्दर्शयति-प्रतिज्ञेति। प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वमवयवत्वम्। साध्यविशिष्टपक्षबोधकवचनं प्रतिज्ञा। पञ्चम्यन्तं

तृतीयान्तं वा लिङ्गवचनं हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। उदाहृतव्याप्तिविशिष्टत्वेन हेतोः पक्षधर्मताप्रतिपादकवचनमुपनयः। पक्षे साध्यस्याबाधितत्वप्रतिपादकवचनं निगमनम्। इदमेव लक्षणं हृदि निधाय प्रतिज्ञादीन्विशिष्य दर्शयति पर्वतो वह्निमानित्यादिना।

पञ्चावयव वाक्य में पाँच अवयव कौन हैं? अतः उन्हें प्रदर्शित करते हैं, प्रतिज्ञा आदि। प्रतिज्ञादि में प्रत्येक का नाम अवयव है। साध्य के साथ पक्ष बोधक 'पर्वतो वह्निमान्' यह वाक्य प्रतिज्ञा है। पञ्चम्यन्त अथवा तृतीयान्त लिङ्ग वचन को हेतु कहते हैं। व्याप्ति का प्रतिपादक दृष्टान्त-वचन उदाहरण कहलाता है। उदाहृत व्याप्ति से विशिष्ट हेतु की पक्षधर्मता का प्रतिपादक वचन उपनय है, जैसे 'वह्निव्याप्य धूमवाँश्चायं पर्वतः'। पक्ष में साध्य के अबाधितत्व के प्रतिपादक वचन को निगमन कहते हैं, जैसे 'वह्निव्याप्य धूमवत्वात् वह्निमान् पर्वतः'। इन्हीं लक्षणों को ध्यान में रखकर पञ्चावयवों के स्वरूप मूल में अलग अलग दिखाये गये हैं।

तर्कदीपिका

अवयवस्वरूपमाह – प्रतिज्ञेति। उदाहृतवाक्ये प्रतिज्ञा-दिविभागमाह – पर्वतो वह्निमानिति। साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा। पञ्चम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं, हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम्। व्याप्तिविशिष्टलिंगप्रतिपादकं वचनमुपनयः। हेतुसाध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं निगमनम्। पक्षज्ञानं प्रतिज्ञाप्रयोजनम्। लिंगज्ञानं हेतुप्रयोजनम्। व्याप्तिज्ञानमुदाहरणप्रयोजनम्। पक्षधर्मताज्ञानार्थमुपनयः। अबाधितत्वादिकं निगमनप्रयोजनम्।

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योः किं करणम्?

६२. स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

स्वार्थानुमिति हो या परार्थानुमिति दोनों में लिङ्ग परामर्श ही करण है। इसलिए लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है।

आशा आशय यह है कि पूर्व में मूल तर्क संग्रह में अथवा इसकी हिन्दी व्याख्या में जितने भी अनुमान के भेद प्रतिपादित किये गये हैं या अन्यत्र भी चाहे अनुमान के कितने ही भेद बताये गये हों सभी में लिङ्गपरामर्श ही करण होता है। अतः यही अनुमान प्रमाण कहलाता है।

पदकृत्यम्

लिङ्गेति। अनुमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वृद्धोक्तं न युक्तम्, इयं यज्ञशाला वह्निमती अतीतधूमादित्यादौ लिङ्गाभावेऽप्यनुमितिदर्शनादित्यभिप्रायवाँल्लिङ्गपरामर्श एव करणमित्याचष्टे -लिङ्गपरामर्श एवेति। अनुमानमुपसंहरति तस्मादिति। अनुमितिकरणत्वादित्यर्थः। अयमेव

तृतीयज्ञानमित्युच्यते। तथाहि-महानसे धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां यद् धूमज्ञानं तदादिमम्। पक्षे यत् धूमज्ञानं तद् द्वितीयम्। अत्रैव वह्निव्याप्यत्वेन यद् धूमज्ञानं तत्तृतीयम्। इदमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। अनुमानमिति। व्यापारवत्कारणं करणमिति मते व्याप्तिज्ञानमेवानुमानं लिङ्गपरामर्शो व्यापार इत्यवसेयम्।

न्याय के प्राचीन विद्वानों ने ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति का करण माना है किन्तु नवीनों को यह मान्य नहीं है। क्योंकि 'इयं यज्ञशाला वह्निमती अतीतधूमात्' इस उदाहरण में धूम लिङ्ग के वर्तमान में न होने पर भी अनुमिति होती है। अत: लिङ्ग परामर्श ही अनुमिति का करण है। अनुमान का उपसंहार करते हैं तस्मात् अर्थात् अनुमिति का करण होने के कारण लिङ्ग परामर्श ही अनुमान है। इसे तृतीयज्ञान भी कहते हैं। जैसे महानस में धूम और अग्नि की व्याप्तिग्रहण में जो धूमज्ञान है वह प्रथम। पक्ष में जो धूमज्ञान है वह द्वितीय। पक्ष में ही वह्निव्याप्यत्वेन जो धूमज्ञान है वह तृतीय है। यही लिङ्गपरामर्श कहा जाता है। यदि व्यापारवत् कारणं करणं यह मत माना जाय तो व्याप्तिज्ञान अनुमान है और लिङ्गपरामर्श व्यापार है।

तर्कदीपिका

अनुमितिकरणमाह - स्वार्थेति। ननु व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मताज्ञानाभ्यामेवानुमितिसंभवे व्याप्तिविशिष्टलिङ्गपरामर्श: किमर्थमङ्गीकर्तव्य:? इति चेत्,-न; वह्निव्याप्यधूमवानयमिति शाब्दपरामर्शस्थले विशिष्टपरामर्शस्यावश्यकता लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव करणत्वात्। लिङ्गं न करणम्; अतीतादौ व्यभिचारात्। 'व्यापारवत्कारणं करणम्' इति मते परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम्। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापार:। अनुमानमुपसंहरति - तस्मादिति।

<u>लिङ्गं कतिविधं किञ्चान्वयव्यतिरेकिलक्षणम्?</u>

६३. लिङ्गं त्रिविधम्:- अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि, यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसमित्यन्वयव्याप्ति:। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रद इति व्यतिरेकव्याप्ति:।

लिङ्ग तीन प्रकार का है। अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी।

अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा जिसकी व्याप्ति है, वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। यथा वह्नि साध्य में धूमवत्व हेतु है। जहाँ-जहाँ धूम वहाँ-वहाँ अग्नि जैसे महानस, यह अन्वयव्याप्ति है। और जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम नहीं, जैसे ह्रद, यह व्यतिरेकव्याप्ति है।

आशा मूल में लिङ्ग अर्थात् हेतु के तीन भेद बताये गये हैं। 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' तथा इन दोनों के मेल से तीसरा 'अन्वयव्यतिरेकी'। हेतु के ये तीनों भेद हेतु के साध्य के साथ व्याप्तिसम्बन्ध पर आधारित हैं, अर्थात् हेतु की साध्य के साथ जिस तरह की व्याप्ति होगी, हेतु का वह भेद उसी नाम से कहा जाता है। (इसी आधार पर अनुमान का विभाजन भी कर दिया जाता है जैसाकि पूर्व में हिन्दी टीका में सूचित किया गया है)। अतः हेतु के उपर्युक्त तीनों भेदों को समझने के लिये व्याप्ति के भेदों को समझना आवश्यक है। पूर्व में बताया जा चुका है कि 'हेतु के साध्य के साथ साहचर्य नियम' को व्याप्ति कहते हैं। यह साहचर्य सम्बन्ध मुख्यतः दो प्रकार का होता है- अन्वय तथा व्यतिरेक। इसे ही अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति के नाम से कहा जाता है। यहाँ अन्वय तथा व्यतिरेक शब्दों का आशय समझना आवश्यक है। **यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम् अन्वयः तथा यदभावे यदभावः व्यतिरेक** अर्थात् 'जिसके रहने पर जो रहे' यह अन्वयसहचार तथा 'जिसके अभाव में जिसका अभाव रहे' यह व्यतिरेक सहचार कहलाता है। जिस हेतु का साध्य में केवल अन्वय-सहचार हो वह हेतु केवलान्वयी और जिस हेतु का साध्य में केवल व्यतिरेक सहचार हो वह हेतु केवलव्यतिरेकी कहलाता है। जिस हेतु में अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनों के उदाहरण मिल जावें वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहलाता है। यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इस अनुमान में पर्वत का अग्निमत्त्व साध्य है धूमवत्व हेतु है। और यह धूमवत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी है। क्योंकि उसकी अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति में उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे कि जहाँ-जहाँ धूमवत्व होता है वहाँ-वहाँ अग्निमत्त्व होता है जैसे महानस में। यह अन्वय व्याप्ति हुई। महानस (रसोई घर) में धूम और अग्नि के होने से। इसी प्रकार जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता जैसे महाह्रद (तालाब) में, यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई। महाह्रद में धूम और अग्नि के अभाव होने से। वहाँ अग्नि के अभाव में धूम का अभाव होने से व्यतिरेक व्याप्ति होती है। इस प्रकार अन्वय व्याप्ति में महानस, और व्यतिरेक व्याप्ति में महाह्रद, ये दोनों उदाहरण बन जाते हैं अतएव धूमवत्त्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु है। यहाँ अन्वय उदाहरण विधिपरक है तथा व्यतिरेक उदाहरण निषेधपरक है।

पदकृत्यम्

अन्वयव्यतिरेकिणो लक्षणमाह-अन्वयेति। तृतीयायाः प्रयोज्यत्वमर्थः। साध्यसाधनयोः साहचर्यमन्वयः। तदभावयोः साहचर्यं व्यतिरेकः, यथा चान्वयप्रयोज्यव्याप्तिमत् व्यतिरेकप्रयोज्यव्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकीत्यर्थः। केवलव्यतिरेकिण्यतिव्याप्तिवारणाय अन्वयेनेति। केवलान्वयिनि व्यभिचारवारणाय व्यतिरेकेणेति। तथा चान्वयव्याप्तिरूपदर्शितैव। व्यतिरेकव्याप्तिश्च साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः। तदुक्तं-

व्याप्यव्याकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते॥

अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
साध्याभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापक: साधनात्यय:॥

अन्वयव्यतिरेकि का लक्षण कहते हैं- अन्वयेन। अन्वयेन में तृतीया विभक्ति का प्रयोज्यत्व अर्थ है। साध्य और साधन के साहचर्य को अन्वय और साध्याभाव तथा साधनाभाव के साहचर्य को व्यतिरेक कहते हैं। इस प्रकार अन्वयप्रयोज्यव्याप्तिमत् व्यतिरेकप्रयोज्यव्याप्ति-मदन्वयव्यतिरेकि यह लक्षणार्थ है। केवल व्यतिरेक में अतिव्याप्तिवारण के लिए 'अन्वयेन' पद है। केवलान्वयि में व्यभिचार वारण के लिए 'व्यतिरेकेण' पद है। अन्वयव्याप्ति बतायी जा चुकी है। व्यतिरेकव्याप्ति का लक्षण है:- साध्याभावव्यापकी-भूताभावप्रतियोगित्व। जैसे वह्निमान धूमात् में साध्य वह्नि, उसका अभाव वह्न्यभाव, उसका व्यापकीभूत अभाव धूमाभाव, उसकी प्रतियोगिता धूम में होने से धूम में वह्नि की व्यतिरेकव्याप्ति भी सिद्ध हो गयी। कहा भी है कि भावव्याप्ति में साध्यसाधन का जिस रूप में व्याप्यव्यापकभाव गृहीत है। अभावव्याप्ति में उन साध्याभाव तथा साधनाभावों का व्याप्यव्यापकभाव विपरीत होता है। अन्वयव्याप्ति में साधन (हेतु) व्याप्य और साध्य व्यापक होता है किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति में इसके विपरीत साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव (हेत्वभाव) व्यापक होता है।

तर्कदीपिका

लिङ्गं विभजते - लिङ्गमिति॥ अन्वयव्यतिरेकि लक्षयति - अन्वयेनेति। हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिरन्वयव्याप्ति:। तदभावयोर्व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्ति:॥

<u>केवलान्वयिन: किं लक्षणम्?</u>

६४. अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेय: प्रमेयत्वात् पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च।

अन्वयमात्र व्याप्ति जिस हेतु से बने वह केवलान्वयि है। जैसे 'घटोऽभिधेय: प्रमेयत्वात्' यहाँ प्रमेयत्व और अभिधेयत्व की अन्वयव्याप्ति है। किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थ प्रमेय अतएव अभिधेय भी है।

आशा केवलान्वयिहेतु में विधिपरक उदाहरण से ही व्याप्ति बनती है। 'घटोऽभिधेय: प्रमेयत्वात्, पटवत्' इस मूलोक्त उदाहरण में प्रमेयत्व हेतु को केवलान्वयि हेतु का उदाहरण बताया गया है। इसका आशय है- घट 'अभिधेय' अर्थात् किसी शब्द द्वारा कथन करने योग्य है 'प्रमेय' (प्रमा का विषय) होने से। जो 'प्रमेय होता है वह अभिधेय' होता है जैसे पट। यह घट भी उसी प्रकार का प्रमेय है, अत एव वैसा ही अभिधेय है। यहाँ घट का 'अभिधेयत्व' साध्य है, 'प्रमेयत्व' हेतु है, और यह 'केवलान्वयी' ही है। क्योंकि उसकी 'जो अभिधेय नहीं होता है' वह प्रमेय भी नहीं होता है इस व्यतिरेक व्याप्ति में जैसे 'अमुक' इस प्रकार 'व्यतिरेक दृष्टान्त' नहीं मिलता है। इसका कारण यह है कि सर्वत्र प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात होने वाला

प्रामाणिक अर्थ ही दृष्टान्त हो सकता है और वह प्रमेय भी होता है और अभिधेय भी। इसलिए व्यतिरेक व्याप्ति में यहाँ उदाहरण नहीं मिल सकता है। अत: यह हेतु 'केवलान्वयी' हेतु ही है।

पदकृत्यम्

केवलान्वयिनो लक्षणमाह अन्वयेति। अन्वयेनैव व्याप्तिर्यस्मिन् स तथा। प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिं निराकरोति-अत्रेति। अभिधेयत्व-साध्यकानुमान इत्यर्थ:। ननु कुतस्तन्निषेधोऽतस्तत्र हेतुमाह सर्वस्येति। पदार्थमात्रस्येत्यर्थ:। तथा च सकलपदाभिधेयत्वस्येश्वरप्रमाविषयत्वस्य चात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वरूपकेवलान्वयित्वेन तदभावाप्रसिद्ध्या तद्घटितव्यतिरेक - व्याप्तिर्न सम्भवत्येवेति भाव:।

केवलान्वयि का लक्षण कहते हैं-अन्वय। अन्वय से ही जिसकी व्याप्ति है, वह केवलान्वयि है। प्रमेयत्व और अभिधेयत्व की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं बनती यह बताते हैं- अत्र इति। अत्र शब्द का अर्थ है 'अभिधेयत्वसाधक अनुमान में'। व्यतिरेकव्याप्ति क्यों नहीं बनती इसका कारण कहते हैं- सर्वस्य इति। पदार्थ मात्र का, यह सर्वस्य का अर्थ है। इस प्रकार सकल पदाभिधेयत्व और ईश्वरप्रमाविषयत्व के अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न हो वह केवलान्वयि है। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व भी केवलान्वयि का लक्षण है, इसलिए अभिधेयत्वाभाव के अप्रसिद्ध होने से उसके साथ व्यतिरकेव्याप्ति बन ही नहीं सकती। इसका आशय यह है कि घटपदाभिधेयत्व केवल घट में अन्यत्र नहीं है, ऐसे ही पटपदाभिधेयत्व केवल पट में ही है, अन्यत्र उसका अत्यन्ताभाव है। किन्तु सर्वपद का अभिधेयत्व सबमें होने से केवलान्वयी हुआ। इसी प्रकार हमारी प्रमा की विषयता कुछ ही पदार्थों में है। किन्तु ईश्वरीयप्रमाविषयताा सर्वत्र होने से अत्यनताभाव का अप्रतियोगी वह भी हुई। इसलिये प्रमेयत्व भी केवलान्वयी हुआ। इसलिये केवलान्वयी होने से अभिधेयत्व और प्रमेयत्व का अभाव अप्रसिद्ध होगा। अत: अभावघटित व्यतिरेकव्याप्ति प्रमेयत्व और अभिधेयत्व में नहीं हो सकती है। इसलिये इसे केवलान्वयी कहते हैं।

तर्कदीपिका

केवलान्वयिनो लक्षणमाह - अन्वयेति। केवलान्वयिसाध्यकं केवलान्वयि। अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम्। केवलान्वयिनमुदाहरति- यथा घटोऽभिधेय: प्रमेयत्वादिति। ईश्वरप्रमाविषयत्वं सर्वपदाभिधेयत्वं च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभाव:॥

<u>केवलव्यतिरेकिण: किं लक्षणम्?</u>

६५. व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि। यथा पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्; यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा जलम्।

न चेयं तथा। तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वय-दृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

जिस हेतु में केवल व्यतिरेकव्याप्ति हो वह केवलव्यतिरेकि है। जैसे पृथ्वी इतर से भिन्न है, क्योंकि गन्धवाली है। जो इतर से भिन्न नहीं है वह गन्धवती भी नहीं है जैसे जल। पृथ्वी गन्धाभाववती नहीं है, इसलिए पृथ्वी इतरभिन्न नहीं है। यहाँ 'जो गन्धवाला है वह इतर भिन्न है' इस प्रकार की अन्वयव्याप्ति दृष्टान्ताभाव के कारण नहीं बनती। क्योंकि पृथ्वीमात्र (समस्त पृथ्वी) पक्ष है तथा दृष्टान्त का पक्ष से भिन्न होना आवश्यक है।

आशा जिस हेतु का अन्वयव्याप्ति में उदाहरण न मिल सके और केवल व्यतिरेकव्याप्ति में ही उदाहरण मिले उसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। यहाँ व्याप्ति निषेधपरक उदाहरण से ही बनती है। इसका उदाहरण है- 'पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसमें गंध है।' इसका सपक्ष दृष्टान्त नहीं हो सकता। क्योंकि जहाँ भी गंध नामक गुण होगा वह पृथ्वी ही हो सकती है कोई और पदार्थ नहीं। इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि समस्त पदार्थ दो भागों में बंटे हैं- पृथ्वी और पृथ्वीतर। पृथ्वी तो इस अनुमान में पक्ष ही है और हेतु है गंध। गंध पृथ्वी के अतिरिक्त और कहीं नहीं रहती है। अतः हम इसका कोई अन्वय उदाहरण नहीं दे सकते।

लिङ्ग की त्रिविधता के कारण व्याप्ति की भी त्रिविधता कह दी जाती है।

व्याप्ति कहने के नियम :- अन्वय व्याप्ति में हेतु 'व्याप्य' और साध्य 'व्यापक' होता है तथा व्यतिरेक व्याप्ति में साध्याभाव 'व्याप्य' और साधनाभाव 'व्यापक' होता है। व्याप्ति को बोलते समय व्याप्य को पहले 'यत्र यत्र' के साथ और व्यापक को उसके बाद 'तत्र तत्र' के साथ बोलना चाहिए। व्यतिरेक व्याप्ति के बनाने का तो क्रम यह है कि अन्वयव्याप्ति में जो व्याप्य होता है उसका अभाव यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति में व्यापक होता है और जो व्यापक होता है उसका अभाव यहाँ व्याप्य होता है।

विशेष :- अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी, तीनों हेतुओं में से जो अन्वयव्यतिरेकी हेतु है वह पाँच विशेषताओं से युक्त होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है। वे पाँच विशेषतायें निम्न हैं :- **१. पक्षसत्त्व, २. सपक्षसत्व, ३. विपक्षव्यावृत्तत्व, ४. अबाधितविषयत्व और ५. असत्प्रतिपक्षत्व**। केवलान्वयी हेतु 'विपक्षव्यावृत्तत्व' विशेषता को छोड़कर शेष चार विशेषताओं से युक्त होने पर साध्य को सिद्ध करता है तथा केवलव्यतिरेकी हेतु 'सपक्षसत्व' विशेषता को छोड़कर शेष चार विशेषताओं से युक्त होने पर साध्य की सिद्धि करता है। इनकी व्याख्या पक्ष, सपक्ष आदि के प्रकरण में की गयी है।

पदकृत्यम्

केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह-व्यतिरेकेति। व्यतिरेकेणैव व्याप्तिर्यस्मिंस्तत्तथा। अन्व्यव्यतिरेकिण्यतिव्याप्ति[illegible]रणाय मात्रेति। न चेयं तथेति। इयं पृथिवी, न तथा-न गन्धाभाववतीत्यर्थः। तस्मान्न तथेति। गन्धाभाववत्त्वा-

भावादितरभेदाभाववती नेत्यर्थः। नन्वत्र किमिति नान्वयव्याप्तिरित्याशङ्क्य परिहरति- अत्रेति। इतरभेदसाधकानुमान इत्यर्थः। इदमुपलक्षणम्। जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणदिमत्त्वात्, यन्नैवम् तन्नैवम्, यथा घटः। प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रत्यक्षाभासः। विवादास्पदम् आकाशमिति व्यवहर्तव्यं शब्दवत्त्वादित्यादिकमपि केवलव्यतिरेकीति द्रष्टव्यम्।

अत्रेदं बोध्यम्-अन्वयव्यतिरेकि तु पञ्चरूपोपपन्नं स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, तानि कानि? इति चेत् श्रूयताम् पक्षधर्मत्वं, सपक्षसत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्ति- रबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति। अबाधितः साध्यरूपो विषयो यस्य तत्तथोक्तम्, तस्य भावस्तत्त्वम्। एवं साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्ष इत्युच्यते, स नास्ति यस्य सोऽसत्प्रतिपक्षः, तस्य भावस्तत्त्वमिति बोध्यम्। केवलान्वयि तु चतूरूपोपपन्नमेव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, तस्य विपक्षविपर्ययेण तद्व्यावृत्तिविपर्ययात्। केवलव्यतिरेक्यपि तथा, यस्य सपक्षविपर्ययेण तत्सत्त्वविपर्ययादिति, उपदर्शितरूपाणां मध्ये कतिपयरूपोपपन्नत्वात्।

केवलव्यतिरेकि का लक्षण कहते हैं कि व्यतिरेक इति। जिसकी व्यतिरेक मात्र से ही व्याप्ति बनती है वह केवलव्यतिरेकि है। अन्वयव्यतिरेकि में अतिव्याप्ति वारण के लिए मात्र पद है। 'यह पृथ्वी गन्धाभाववती नहीं है' यह 'न चेयम् तथा' का अर्थ है। 'गन्धाभावाभाववान होने के नाते पृथ्वी इतर भेदाभाववती नहीं है'। यह 'तस्मान् न तथा' का अर्थ है। यहाँ अन्वयव्याप्ति क्यों नहीं बनती इसका समाधान करते हैं अत्र इत्यादि से। अत्र का अर्थ है इतर भेद साधक अनुमान में। यह उपलक्षण है। अन्य उदाहरण यथाः- जीवित शरीर सात्मक है, प्राणादियुक्त होने से, जो प्राणादियुक्त नहीं होता वह जीवित नहीं होता, जैसे घट। प्रत्यक्षादि को प्रमाण कहना चाहिए क्योंकि उनमें प्रमाकरणत्व है, जो प्रमाकरण नहीं है, वह प्रमाण नहीं है जैसे प्रत्यक्षाभास। विवादास्पद वस्तु को आकाश कहना चाहिए, क्योंकि उसमें शब्द रहता है इत्यादि सब वाक्यों को भी केवलव्यतिरेकि का उदाहरण समझना चाहिए। इन हेतुओं के साथ अन्वयव्याप्ति के लिए कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है, अतः ये सब केवलान्वयि हेतु हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि **अन्वयव्यतिरेकि हेतु पाँच रूपों से युक्त होकर अपने साध्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं**। उन पाँचों रूपों का नाम इस प्रकार है:- पक्षधर्मत्व, सपक्षत्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। अबाधित है साध्यरूप विषय जिसका वह अबाधित विषय है, उसके भाव को अबाधितविषयत्व कहते हैं। इसी प्रकार 'साध्याभाव का साधक दूसरा हेतु जिसका हो वह हेतु सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है, ऐसा हेतु जिसका न हो वह असत्प्रतिपक्ष है, उसके भाव को असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं। **केवलान्वयिहेतु चार रूपों से ही युक्त** होकर अपने साध्य की सिद्ध में विपक्ष नहीं होता। केवलव्यतिरेकि में भी चार ही रूप होते हैं, इसमें सपक्ष नहीं होता। इस प्रकार बताये गये रूपों

में से जिन हेतुओं में कतिपय रूप ही रहते हों वे हेतु के समान भासित न होने के कारण हेत्वाभास कहे जाते हैं।

तर्कदीपिका

केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह - व्यतिरेकेति। केवलव्यतिरेकिणमुदाहरति - पृथिवीति। नन्वितरभेदः प्रसिद्धो वा न वा? आद्ये यत्र प्रसिद्धस्तत्र हेतुसत्त्वेऽन्वयित्वम्, असत्त्वेऽसाधारण्यम्। द्वितीये साध्यज्ञाना-भावात्कथं तद्विशिष्टानुमितिः?। विशेषणज्ञानाभावे विशिष्टज्ञानानुदयात्। प्रतियोगिज्ञानाभावाद् व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्यादिति चेत्, - न; जलादित्रयो-दशान्योन्याभावानां त्रयोदशशु प्रत्येकं प्रसिद्धानां मेलनं पृथिव्यां साध्यते। तत्र त्रयोदशत्वावच्छिन्न-भेदस्यैकाधिकरणवृत्तित्वाभावान्नान्वयित्वासाधारण्ये। प्रत्येकाधिकरणे प्रसिद्ध्या साध्यविशिष्टानुमितिर्व्यतिरेकव्याप्तिनिरूपणं चेति॥

पक्षस्य किं लक्षणम्?

६६. सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः।

सपक्षस्य किं लक्षणम्?

निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसम्।

विपक्षस्य किं लक्षणम्?

निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः।

जहाँ साध्य का संदेह हो उसे पक्ष कहते हैं। जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात् में पर्वत पक्ष है।

जहाँ साध्य का निश्चय हो वह सपक्ष है। जैसे इसी उदाहरण में महानस सपक्ष है।

जिसमें साध्य के अभाव का निश्चय हो उसे विपक्ष कहते हैं जैसे इसी उदाहरण में महाह्रद (तालाब), (क्योंकि महाह्रद में अग्नि का न होना निश्चित है)।

आशा पूर्व में तीनों प्रकार के हेतुओं के पञ्चरूपोपपन्न होने की बात कही गयी है। इन पञ्च रूपों में 'पक्ष' 'सपक्ष' और 'विपक्ष' शब्द आये हैं अत: हेतु की पञ्चरूपोपपन्नता को समझने के लिये उनको समझना आवश्यक है अत: इनके लक्षण मूल भाग में किये गये हैं।

पक्ष :- 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः', अर्थात् जिसमें वह्नि आदि साध्य सन्दिग्ध अवस्था में हों उसको 'पक्ष' कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमान में पर्वत में अग्नि की सिद्धि की जा रही है। जब तक अग्नि की सिद्धि न हो जाये तब तक पर्वत में अग्नि का सन्देह ही है। इसलिए सन्दिग्धसाध्यवान् होने से पर्वत 'पक्ष' कहलाता है, और धूम हेतु उसमें (पर्वत में) रहता है अत: यह उस धूम हेतु का प्रथम रूप 'पक्षसत्त्व' हुआ।

सपक्ष :- 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः' अर्थात् 'सपक्ष' उसको कहते हैं जिसमें वह्नि आदि साध्य का निश्चय हो। निश्चित साध्य से युक्त धर्मी को 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे

उपर्युक्त वह्नि के अनुमान में महानस अर्थात् रसोईघर 'सपक्ष' है क्योंकि उसमें साध्य वह्नि का निश्चय है। इस सपक्ष रूप महानस में धूम रूप हेतु रहता है। यह हेतु धूम का दूसरा रूप 'सपक्षसत्त्व' हुआ।

विपक्ष :- 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' अर्थात् जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो उसको 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे उपर्युक्त अनुमान में महाह्रद 'विपक्ष' है। क्योंकि महाह्रद अर्थात् तालाब में साध्यरूप वह्नि का अभाव निश्चित है। इसलिए महाह्रद, 'विपक्ष' कहलाता है। उस महाह्रद रूप विपक्ष में धूम भी नहीं रहता है। यह उसका तीसरा रूप 'विपक्षव्यावृत्तत्व' हुआ।

इसी प्रकार धूमवत्त्व हेतु 'अबाधितविषय' भी है। 'अबाधितविषय' पद में 'विषय' शब्द का अर्थ साध्य है। अबाधितविषय का लक्षण 'प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः' इस प्रकार किया गया है। जिस हेतु के विषय अर्थात् साध्य का अभाव किसी प्रमाणान्तर अर्थात् प्रबलतर दूसरे प्रमाण से निश्चित हो जाये उस हेतु को 'बाधितविषय' कहते हैं। जैसे कोई यह अनुमान प्रस्तुत करे कि 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात् घटवत्।' अग्नि कृतक होने से घट के समान अनुष्ण अर्थात् शीतल है। घट कृतक अर्थात् जन्य है और अनुष्ण है। इसी प्रकार अग्नि भी जन्य होने से घट के समान अनुष्ण है। इस अनुमान में अग्नि 'पक्ष' है उसमें 'अनुष्णत्व' 'साध्य' है और कृतकत्व 'हेतु' है। इस 'कृतकत्व' हेतु का जो साध्य 'अनुष्णत्व' है उसका अभाव अर्थात् 'उष्णत्व' अग्नि में स्पर्श द्वारा त्वाच-प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इसलिए 'त्वाचप्रत्यक्ष' रूप प्रमाणान्तर से 'कृतकत्वात्' इस हेतु के विषय अर्थात् साध्य रूप अनुष्णत्व का अभाव 'उष्णत्व' अग्नि में पूर्व सिद्ध होने से यह 'बाधितविषय' (नाम का हेत्वाभास कहलाता) है। इसी प्रकार यदि वह्निविषयक अनुमान में प्रयुक्त धूमवत्त्व हेतु के साध्य रूप वह्नि का पर्वत में किसी प्रबल प्रमाणान्तर से अभाव निश्चित होता तो धूमवत्त्व हेतु 'बाधित विषय' कहा जाता। परन्तु ऐसा नहीं है इसलिए धूमवत्त्व हेतु 'अबाधित-विषय' है। क्योंकि धूमवत्त्व हेतु का विषय अर्थात् साध्य जो कि अग्निमत्त्व है वह पर्वत रूप पक्ष में किसी प्रमाण से बाधित नहीं है अर्थात् पर्वत में वह्नि का अभाव किसी अन्य प्रमाण से गृहीत नहीं है। अतः यह धूमवत्त्व हेतु 'अबाधित' विषय है।

इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। 'असत्प्रतिपक्ष' को समझने के लिए पहिले उसके विरोधी 'सत्प्रतिपक्ष' को समझना आवश्यक है। जिसहेतु का प्रतिपक्ष विद्यमान है उसको सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। प्रतिपक्ष का लक्षण 'साध्यविपरीतसाधकं तुल्यबलं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः' है। एक हेतु का जो साध्य है उससे विपरीत बात का सिद्ध करने वाला तुल्यबल दूसरा 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। जिस हेतु का इस प्रकार का प्रतिपक्ष विद्यमान है उसको 'सत्प्रतिपक्ष' (हेत्वाभास) कहते हैं। जैसे 'शब्दो नित्यः अनित्यधर्मानुपलब्धेः' और 'शब्दः अनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः' ये दोनों तुल्यबल विरोधी हेतु हैं। अतः ये एक दूसरे के 'प्रतिपक्ष' हैं और वे दोनों हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' (नामक हेत्वाभास) कहे जाते हैं। परन्तु प्रकृत धूमवत्त्व हेतु का इस प्रकार का साध्यविपरीत साधक तुल्यबलविरोधी कोई दूसरा हेतु नहीं

पाया जाता है। अतएव वह 'सत्प्रतिपक्ष' नहीं है। अर्थात् उसमें 'असत्प्रतिपक्षत्व' रूप पञ्चम हेतुरूप भी विद्यमान है। अतः धूमवत्त्व जो कि अन्वयव्यतिरेकि हेतु है 'पञ्चरूपोपपन्न' है।

अग्नि का 'पक्षधर्मत्त्व' अर्थात् पक्ष रूप पर्वत में रहना हेतु अर्थात् धूम की 'पक्षधर्मता' अर्थात् पर्वत में विद्यमानता के बल से सिद्ध होता है। क्योंकि अनुमान के दो अङ्ग हैं 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता'। उसमें व्याप्ति से 'जहां धूम होगा वहाँ अग्नि होगी' इस प्रकार के साध्य सामान्य की सिद्धि होती है और पक्षधर्मता से साध्य अग्नि के 'पक्ष अर्थात् पर्वत में विद्यमानता' रूप विशेष की सिद्धि होती है। पक्ष पर्वत के धर्म अर्थात् पर्वत में विद्यमान रूप धूमवत्त्व से अग्नि भी पर्वत से सम्बन्धित ही गृहीत होता है। अन्यथा पक्षधर्मता के अभाव में साध्यसामान्य 'जहां धूम होगा वहाँ अग्नि होगी' इस प्रकार के व्याप्तिग्रह से ही सिद्ध होने से अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

जैसा कि पूर्व में बताया गया है - अन्वय और व्यतिरेक स्वरूप दो प्रकार की व्याप्ति के आधार पर 'केवलान्वयी' और 'केवलाव्यतिरेकी' ये दो भेद हेतु के होते हैं, और तीसरा भेद इन दोनों के सम्मिश्रण से 'अन्वयव्यतिरेकी' भेद के नाम से होता है। इन व्याप्तियों में से 'अन्वयव्याप्ति' भावभूत धूम तथा वह्नि आदि की, और व्यतिरेक व्याप्ति वह्न्यभाव तथा धूमाभाव रूप अभावों की होती है। केवलान्वयी में अन्वय व्याप्ति का ही उदाहरण मिलता है, व्यतिरेक व्याप्ति का नहीं। इसलिए उसमें 'विपक्ष' कोई होता ही नहीं। अतः विपक्ष के न होने से 'विपक्षव्यावृत्तत्व' रूप धर्म उसमें नहीं बन सकता है। अतः वह चार रूप से ही युक्त होता है। इसी प्रकार 'केवलव्यतिरेकी' हेतु में व्यतिरेक व्याप्ति का ही उदाहरण मिलता है अन्वय व्याप्ति का नहीं। अतः उसका 'सपक्ष' कोई न होने से उसमें 'सपक्षसत्त्व' रूप धर्म नहीं बन सकता है। अतः वह भी चार रूप से ही युक्त होता है। इस प्रकार 'अन्वयव्यतिरेकी' हेतु 'पञ्चरूपोपपन्न' होने पर तथा 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' हेतु चार रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकते हैं अन्यथा ये हेत्वाभास हो जाते हैं।

पदकृत्यम्

अथ पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वादित्यत्र किं नाम पक्षतेत्यपेक्षायां तां निर्वक्ति-सन्दिग्धेति। सपक्षवारणाय सन्दिग्धेति।

निश्चितेति। पक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय निश्चितेति। तत्रैवेति। धूमवत्त्वहेतावेवेत्यर्थः।

निश्चितेति। सपक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय साध्येति। पक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय निश्चितेति। तत्रैव धूमवत्त्व एव।

केवल व्यतिरेकी हेतु के लक्षण विवेचन में 'पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्' कहा गया है। अतः पक्ष क्या है? इस जिज्ञासा के उत्तर में पक्ष का लक्षण कहते हैं- सन्दिग्ध इति। सपक्ष में अतिव्याप्ति वारण के लिए संदिग्ध पद है।

पक्ष में अतिव्याप्ति वारण के लिए निश्चित पद है। तत्रैव पद से 'धूमवत्व हेतु का अनुमिति में' यह अर्थ समझना चाहिए।

सपक्ष में अतिव्याप्ति वारण के लिए साध्यपद है। पक्ष में अतिव्याप्ति वारण के लिए निश्चित पद है। तत्रैव पद का आशय है धूमवत्व हेतुक अनुमिति में, इस अनुमिति में महाह्रद विपक्ष है, क्योंकि उसमें साध्य वह्नि का अभाव निश्चित है।

तर्कदीपिका

पक्षलक्षणमाह – संदिग्धेति। ननु श्रवणानन्तरभाविमनन-स्थलेऽव्याप्तिः। तत्र वेदवाक्यैरात्मनो निश्चितत्वेन संदेहाभावात्; किं च प्रत्यक्षेऽपि वह्नौ यत्रेच्छयानुमितिस्तत्राप्यव्याप्तिरिति चेत्,-न; उक्तपक्षताश्रयत्वस्य पक्षलक्षणत्वात्॥

सपक्षलक्षणमाह – निश्चितेति॥

विपक्षलक्षणमाह – निश्चितेति॥

हेत्वाभासाः कतिविधाः?

६७. सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षाऽसिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः।

सव्यभिचार विरुद्ध सत्प्रतिपक्ष असिद्ध और बाधित ये पाँच हेत्वाभास हैं।

आशा ऊपर हेतु के तीन भेदों का विवेचन करते समय यह बताया जा चुका है कि इन तीनों प्रकार के हेतुओं में अन्वयव्यतिरेकि हेतु पञ्चरूपोपन्न होता है तथा केवलान्वयिहेतु तथा केवलव्यतिरेकि हेतु चार चार रूपों से युक्त होते हैं। इन तीनों प्रकार के हेतुओं में यदि इनके लिये निर्धारित उपर्युक्त रूप अर्थात् विशेषतायें नहीं पायी जायें, उस स्थिति में इन्हें शुद्ध हेतु या सद्‌हेतु नहीं कहा जा सकता। हेतु के आधार पर ही अनुमान होता है। यदि हेतु विशुद्ध (दोष रहित) हो तो अनुमान विशुद्ध होता है अन्यथा वह अनुमान भी दूषित होता है। ऐसी स्थिति में उस दोष युक्त हेतु को असत् हेतु या हेत्वाभास कहते हैं। (हेत्वाभास = हेतु के समान दिखाई देता है किन्तु वस्तुतः हेतु नहीं है)। इस तरह के हेत्वाभास के पाँच भेद हैं- सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित। आगे क्रमशः इनका विवेचन किया गया है।

पदकृत्यम्

हेतून्निरूप्य प्रसङ्गाद्धेत्वाभासान्नाह-सव्यभिचारेति। हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः। तत्त्वं चानुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वम्। बाधस्थले 'वह्निरनुष्ण' इत्यनुमितिप्रतिबन्धकं यज्ज्ञानमुष्णत्ववद्वह्नावनुष्णत्वसाधकं द्रव्यत्वमित्याकारकं तद्विषयत्वस्य विषयतासम्बन्धेन द्रव्यत्वरूपहेत्वाभासे सत्त्वा-ल्लक्षणसमन्वयः। सद्धेतुवारणाय यथार्थेति। घटादिवारणाय अनुमितितत्करणान्यतर-प्रतिबन्धकेति। व्यभिचारिणि अव्याप्तिवारणाय तत्करणान्यतरेति।

हेतु का निरूपण कर लेने के बाद प्रसङ्गतः हेत्वाभासों को कहते हैं- सव्यभिचार इति। जो हेतु की भाँति प्रतीत होते हों वे हेतु नहीं हेत्वाभास हैं। अनुमिति और उसका करण

व्याप्तिज्ञान इन दोनों में किसी एक का प्रतिबन्धक जो यथार्थज्ञान अर्थात् सव्यभिचारत्व, विरुद्धत्व, सत्प्रतिपक्षत्व, असिद्धत्व और बाधितत्व का यथार्थज्ञान, इसका जो विषय सव्यभिचार आदि, वे ही हेत्वाभास हैं। जैसे- बाधस्थल में "वह्निरनुष्ण:" इस अनुमिति का प्रतिबन्धक ज्ञान होगा "उष्णे वह्नौ अनुष्णत्वसाधकं द्रव्यत्वम्" इत्याकारक, उसकी विषयता द्रव्यत्व में है। इसलिये द्रव्यत्व हेतु नहीं है किन्तु हेत्वाभास है। सत् हेतु में अतिव्याप्ति वारण के लिए यथार्थ पद है। घट आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए अनुमिति तत्करण 'अन्यतरप्रतिबन्धक' पद है। व्यभिचारी में अव्याप्तिवारण के लिए तत्करणान्यतर पद है।

तर्कदीपिका

एवं सद्धेतुं निरूप्यासद्धेतुं निरूपयितुं विभजते - सव्यभिचारेति। अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम्।

सव्यभिचारस्य किं लक्षणं, कति विधश्च स:?

६८. सव्यभिचारोऽनैकान्तिक:। स त्रिविध:-साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहारिभेदात्।

सव्यभिचार को अनैकान्तिक भी कहते हैं वह तीन प्रकार का है साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी।

आशा सव्यभिचार का अर्थ है व्यभिचारसहित, व्यभिचार का अर्थ है हेतु का साध्य के अभाव के साथ रहना। महर्षि कणाद ने इसे 'सन्दिग्ध' नाम से कहा है। प्रशस्त पादभाष्य में इसका विवेचन करते हुये कहा गया है कि जो हेतु, अनुमेय में रहते हुए उसके सजातीय एवं विजातीय पदार्थों में भी पाया जाय अर्थात् पक्ष-सपक्ष-विपक्ष तीनों में समान रूप से सम्बद्ध रहता हो, वह पक्ष में साध्यसंदेह का कारण होने के नाते, संदिग्ध हेत्वाभास कहलाता है। इसका उदाहरण भी सूत्रकार से ही लिया गया है। जैसे- 'यह पशु गाय है, विषाणवाली होने से।' इस अनुमान में हेतु विषाणित्व अनुमेय गाय में, सपक्षभूत समानजातीय अन्य गायों में तथा विपक्षभूत-विरुद्ध जातीय भैंस, बकरी आदि में भी पाया जाता है। पक्ष-सपक्ष और विपक्ष तीनों में साधारण रूप से सम्बद्ध रहने के कारण, 'पक्षभूत' पशु गाय है अथवा भैंस, ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है। इस संदेह का उत्पादक होने के कारण, विषाणित्व हेतु, संदिग्ध हेत्वाभास कहलाता है। चूँकि इस हेत्वाभास से साध्य और साध्य का अभाव दोनों सिद्ध होते हैं अत: इसे अनैकान्तिक भी कहते हैं। इसके तीन भेदों का विवेचन आगे किया जा रहा है।

केशव मिश्र ने तर्कभाषा में अनैकान्तिक हेत्वाभास के साधारण और असाधारण नाम से दो ही भेद किये हैं।

तर्कदीपिका

सव्यभिचारं विभजते - स त्रिविध इति।

<u>साधारणस्य किं लक्षणम्?</u>

६९. तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादि' ति। अत्र प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्।

उनमें साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का रहना **साधारण** नाम का अनैकान्तिकहेत्वाभास है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान प्रमेयत्वात्'। इस उदाहरण में प्रमेयत्व हेतु साध्य वह्नि में रहने के साथ ही वह्नि के अभावस्थान ह्रद में भी विद्यमान है।

आशा साधारण अनैकान्तिक के मूलोक्त उदाहरण में 'पर्वत' पक्ष है, 'वह्नि' साध्य है तथा 'प्रमेयत्व' हेतु है। यहाँ प्रमेयत्व हेतु साध्यवह्नि के अभाव स्थल तालाब आदि में भी विद्यमान है अर्थात् प्रमेयत्व हेतु ऐसे स्थलों पर भी विद्यमान है जहाँ साध्यवह्नि नहीं रहता। इस प्रकार यह प्रमेयत्व हेतु साध्य के अभाव वाले स्थलों पर भी रहने वालाअर्थात् 'साध्याभाववद्वृत्ति' हो गया, अतः प्रमेयत्व हेतु न होकर हेत्वाभास की श्रेणी में आ गया। तर्कभाषा आदि पुस्तकों में इसे इस प्रकार समझाया गया है- पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहने वाला (अर्थात् विपक्षव्यावृत्तत्व धर्म से रहित) साधारणानैकान्तिक है। जैसे 'शब्द नित्य है, प्रमेय होने से, आकाश के समान'। यहाँ प्रमेयत्व हेतु है और प्रमेयत्व पक्ष शब्द में रहने के साथ ही सपक्ष नित्य आकाश में तथा विपक्ष अनित्य घट पट आदि में भी रहता है अतः हेतु न होकर हेत्वाभास है।

पदकृत्यम्

तत्रेति। साधारणादित्रितयमध्य इत्यर्थः। अथ विरुद्धेऽतिप्रसक्तिरिति मा स्म दृप्यः, सपक्षवृत्तित्वस्यापि निवेशात्। अथैवमपि स्वरूपासिद्धे दूषणं जागर्तीति मा वह गर्वम्, पक्षवृत्तित्वस्यापि तथात्वात्।

तत्र - व्यभिचार के साधारण आदि तीन भेदों में से साधारण का लक्षण कहते हैं- साध्य इति। यहाँ साधारण व्यभिचार के लक्षण की विरुद्ध में अतिव्याप्ति वारण के लिए सपक्षवृत्तित्वे सति और जोड़ देना चाहिए अर्थात् साध्याभाववद्वृत्तित्व विरुद्धहेतु में भी रहता है, अतः उसमें साधारणानैकान्तिकत्व की अतिप्रसक्ति रोकने के लिये सपक्षवृत्तित्व का निवेश कर देना चाहिये। फिर स्वरूपासिद्धि में अतिव्याप्ति होगी यह गर्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि लक्षण में पक्षवृतित्व भी निविष्ट है। स्वरूपासिद्ध में अतिव्याप्तिवारण के लिये पक्षवृत्तित्व का भी निवेश कर देना चाहिये। तब यों लक्षण बन गया-सपक्षवृत्तित्वे सति पक्षवृत्तित्वे सति साध्याभाववद्वृत्तित्वमनैकान्तिकत्वम् इति।

तर्कदीपिका

साधारणं लक्षयति - तत्रेति। उदाहरति - यथेति।

<u>असाधारणस्य किं लक्षणम्?</u>

७०. सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा 'शब्दो नित्यः शब्दत्वादि' ति। अत्र शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति।

जो हेतु सभी सपक्षों और विपक्षों से व्यावृत्त हो, तथा पक्षमात्र में वृत्ति हो वह असाधारण व्यभिचार है। जैसे 'शब्दः नित्यः शब्दत्वात्' इस उदाहरण में शब्दत्व समस्त नित्य आकाशादि सपक्षों और अनित्य घटादि विपक्षों से व्यावृत्त है और पक्ष शब्द मात्र में ही रहता है।

आशा जो हेतु केवल 'पक्ष' में रहे और 'सपक्ष' तथा 'विपक्ष' में न रहे, वह हेतु 'असाधारण अनैकान्तिक' नाम का 'हेत्वाभास' है। मूलोक्त उदाहरण में 'शब्द' पक्ष है, 'नित्यत्व' साध्य है तथा 'शब्दत्व' हेतु है। यह शब्दत्व हेतु नित्य आकाश इत्यादि सपक्षों तथा अनित्य घटपटादि विपक्षों दोनों में ही नहीं रहता, जबकि इसे पक्ष शब्द के साथ सपक्ष नित्य आकाशादि में भी विद्यमान होना चाहिये। इस प्रकार शब्दत्व हेतु के केवल शब्द मात्र पक्ष में ही विद्यमान होने के कारण इसे सद्हेतु नहीं कहा जा सकता अतः यह हेत्वाभास की श्रेणी में चला जाता है। इसका अन्य उदाहरण जैसे - पृथ्वी नित्य है, क्योंकि उसमें गन्ध है। यहाँ 'गन्ध होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है। यह 'हेतु' केवल पृथ्वी-रूपी 'पक्ष' में है। नित्य आकाश आदि 'सपक्ष' में तथा अनित्य जल आदि द्रव्य जो 'विपक्ष' हैं, उनमें नहीं रहता, इसलिए यह **'असाधारण अनैकान्तिक'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

पदकृत्यम्

पक्षमात्रेति। सर्वे ये सपक्षा विपक्षास्तेभ्यो व्यावर्तत इति सपक्षविपक्षव्यावृत्तः। केवलव्यतिरेकिवारणाय तद्भिन्न इत्यपि देयम्।

समस्त जो सपक्ष और विपक्ष हैं उनसे व्यावृत को सपक्षविपक्षव्यावृत कहते हैं। केवल व्यतिरेकि में अतिव्याप्ति वारण के लिए केवल 'व्यतिरेकिभिन्नत्वे सति' लक्षण में जोड़ देना चाहिए।

तर्कदीपिका

असाधारणं लक्षयति - सर्वेति।

<u>अनुपसंहारिणः किं लक्षणम्?</u>

७१. अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

जो हेतु अन्वय दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त से शून्य हो उसे अनुपसंहारी नाम का अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे सर्वम् अनित्यम् प्रमेयत्वात्। सर्व के पक्ष होने के कारण दृष्टान्त नहीं है।

आशा जिस हेतु में न तो अन्वय दृष्टान्त हो और न व्यतिरेक दृष्टान्त हो, वह **'अनुपसंहारी'** नाम का 'हेत्वाभास' है। मूलोक्त उदाहरण में 'सर्व' पक्ष है, 'अनित्यत्व' साध्य है तथा 'प्रमेयत्त्व' हेतु है। इस उदाहरण में समस्त सांसारिक पदार्थ ही पक्ष के अन्तर्गत हैं, जबकि दृष्टान्त हमेशा पक्ष से भिन्न होना चाहिये, जो कि समस्त पदार्थों के पक्ष मात्र के अन्तर्गत आ जाने से संभव नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में 'प्रमेयत्व' हेतु का न तो अन्वय दृष्टान्त संभव है और न ही व्यतिरेक दृष्टान्त। अत: 'प्रमेयत्व' हेतु यहाँ पर हेतु न होकर हेत्वाभास हो गया।

पदकृत्यम्

अन्वयेति। केवलान्वयिन्यतिव्याप्तिवारणाय अन्वयेति। केवलव्यतिरेकिण्यतिव्याप्तिवारणाय व्यतिरेकेति। अत्रेति। उपदर्शितानुमान इत्यर्थः।

(व्यतिरेक दृष्टान्त शून्य) केवलान्वयि में अतिव्याप्ति वारण के लिए अन्वय पद है। (अन्वय दृष्टान्त शून्य) केवलव्यतिरेकि में अतिव्याप्ति वारण के लिए व्यतिरेक पद है। अत्र का तात्पर्य मूल में प्रदर्शित अनुमान प्रयोग से है।

तर्कदीपिका

अनुपसंहारिणो लक्षणमाह – अन्वयेति॥

<u>विरुद्धस्य किं लक्षणम्?</u>

७२. साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वाद् घटवदिति। अत्र कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्।

जिस हेतु की व्याप्ति साध्याभाव से बनती हो उसे विरुद्ध कहते हैं। जैसे 'शब्दो नित्य: कृतकत्वात् घटवद्' इस अनुमान में कृतकत्व हेतु की व्याप्ति नित्यत्व के साथ न होकर नित्यत्वाभाव रूप अनित्यव के साथ है।

आशा जिस हेतु की व्याप्ति साध्य के साथ न होकर साध्याभाव के साथ हो अर्थात् साध्य के विपरीत अथवा अभाव के साथ व्याप्त हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास है अथवा जो हेतु साध्य के विपरीत वस्तु को सिद्ध करे, वह 'विरुद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' है। जैसे मूलोक्त उदाहरण 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है', में 'उत्पन्न होना' हेतु है और 'नित्य होना' साध्य है। यह 'उत्पन्न होना' हेतु 'नित्य-रूपी' साध्य का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है, वह अनित्य है। इसलिए यह हेतु 'नित्य'-रूपी साध्य के विपरीत 'अनित्य' को सिद्ध करता है अर्थात् 'उत्पन्न होना' हेतु की 'नित्य होना' साध्य के साथ व्याप्ति न होकर इसके विरोधी 'अनित्य होना' के साथ व्याप्ति है। इसलिए यह 'विरुद्ध' नाम का 'हेत्वाभास' कहा जाता है।

पदकृत्यम्

विरुद्धं लक्षयति-साध्येति। सद्धेतुवारणाय साध्याभावव्याप्त इति। सत्प्रतिपक्षवारणाय सत्प्रतिपक्षभिन्न इत्यपि बोध्यम्। कृतकत्वादिति। कार्यत्वादित्यर्थः। कृतकत्वमिति। अनित्यत्वेन व्याप्तमिति। यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यमिति व्याप्तिर्भवत्येव तथेति भावः।

विरुद्ध का लक्षण कहते हैं- साध्य इति। सद्धेतु में अतिव्याप्ति वारण के लिए साध्याभावव्याप्त पद है। चूँकि सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी साध्याभाव से व्याप्त होता है अतः उसमें अतिव्याप्ति वारण के लिए 'सत्प्रतिपक्षभिन्नत्वे सति' पद जोड़ देना चाहिए। कृतकत्वात् का अर्थ कार्यत्वात् है। जो-जो कृतक है वह-वह अनित्य है यह व्याप्ति बनती है।

तर्कदीपिका

विरुद्धं लक्षयति - साध्येति॥

सत्प्रतिपक्षस्य किं लक्षणम्?

७३. साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः। यथा शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवत्।

जिस हेतु के साध्याभाव का साधक दूसरा हेतु विद्यमान हो वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। जैसे शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्। (ठीक इसके विपरीत) शब्दः अनित्यः कार्यत्वात् घटवत्। (यहाँ शब्द पक्ष का अनित्यत्व साध्य, कार्यत्व हेतु, घट उदाहरण है। यहाँ शब्द में नित्यत्व साधने वाले श्रावणत्व हेतु के साध्य के अभाव अनित्यत्व का साधक हेत्वन्तर कार्यत्व है। अतः श्रावणत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित है।)

आशा सत्प्रतिपक्ष को ही प्रकरणसम भी कहते हैं। जिस हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु विद्यमान हो वही प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। मूलोक्त उदाहरण में 'शब्द' पक्ष है, 'नित्यत्व' साध्य है तथा 'श्रावणत्व' हेतु है तथा 'शब्दत्व' दृष्टान्त है। इस अनुमान में श्रावणत्व हेतु से नित्यत्व को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है परन्तु इसका विपरीत उदाहरण भी विद्यमान है - शब्द, अनित्य है, कार्य होने से, घट के समान। इस अनुमान में 'शब्द' पक्ष है, 'अनित्यत्व' साध्य है, 'कार्यत्व' हेतु है तथा 'घटवद्' दृष्टान्त है। इस उदाहरण में 'शब्द' पक्ष में अनित्यत्व की सिद्धि करने का प्रयास किया है। इसमें 'कार्य होने से' यह हेतु दिया गया है। उपर्युक्त स्थल में 'शब्द' में नित्यत्व की सिद्धि करने वाले हेतु 'श्रावणत्व' के साध्य के अभाव 'अनित्यत्व' की सिद्धि के लिए अन्य हेतु 'कार्यत्वात्' प्रस्तुत किया गया है। अतः श्रावणत्व एवं कार्यत्वात् दोनों ही हेत्वाभास कहलायेंगे। इसका अन्य उदाहरण :- 'शब्द अनित्य है नित्य धर्म से रहित होने से' (शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्) यह एक अनुमान है। इसके विपरीत शब्द को नित्य सिद्ध करने वाला और उसका तुल्यबलविरोधी

दूसरा अनुभान 'शब्द नित्य है अनित्य धर्म से रहित होने से' (शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वात्) यह है। यहाँ पहले अनुमान में नित्यधर्मरहितत्वात् और दूसरे अनुमान में अनित्यधर्मरहितत्वात् ये दोनों हेतु एक दूसरे के साध्य से विपरीत अर्थ को सिद्ध करते हैं। एक शब्द में नित्यत्व सिद्ध करना चाहता है और दूसरा उसी शब्द में अनित्यत्व सिद्ध कर रहा है। इसलिए साध्यविपरीतसाधक तुल्यबल दूसरे हेतु के विद्यमान होने से ये दोनों हेतु परस्पर 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास हैं। इनमें से कोई भी अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता। इसमें दोनों हेतुओं का तुल्यबल होना आवश्यक है अन्यथा एक के दुर्बल और दूसरे के प्रबल होने पर 'सत्प्रतिपक्ष' नहीं होगा।

पदकृत्यम्

सत्प्रतिपक्षं लक्षयति-साध्येति। यस्य हेतोः साध्याभावसाधकं = साध्याभावस्यानुमापकं हेत्वन्तरं = प्रतिपक्षो हेतुः विद्यते स हेतुः सत्प्रतिपक्ष इत्यर्थ। अयमेव प्रकरणसम इत्युच्यते। विरुद्धवारणाय हेत्वन्तरं यस्येति, वह्न्यादिवारणाय साध्याभावेति।

सत्प्रतिपक्ष का लक्षण कहते हैं- साध्य। जिस हेतु के साध्य के अभाव का साधक हेत्वन्तर = प्रतिपक्ष हेतु हो वह हेतु सत्प्रतिपक्ष है। इसे ही प्रकरणसम भी कहा जाता है। विरुद्ध में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'हेत्वन्तरम् यस्य' पद है। वह्नि रूप साध्य के साधक हेतु धूम की भाँति आलोक आदि भी है। अतः उनमें अतिव्याप्ति वारण के लिए साध्याभाव पद है, आलोक तो साध्य-साधक है।

तर्कदीपिका

सत्प्रतिपक्षं लक्षयति - यस्येति॥

असिद्धः कतिविधः

७४. असिद्धस्त्रिविधः-आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

असिद्ध तीन प्रकार का है आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध।

आशा न्यायसूत्र में असिद्ध नामक हेत्वाभास को साध्यसम के नाम से कहा गया है (साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः १.२.८)। जो हेतु, स्वयं साध्य होने के कारण साध्य से विशिष्ट न हो अर्थात् साध्य के समान हो, उसे साध्यसम कहा जाता है। प्रत्येक अनुमान में हेतु को सर्वदा दो प्रकारसे सिद्ध रहना चाहिये-प्रथम वह साध्य की व्याप्ति से युक्त हो और द्वितीय वह व्याप्ति-विशिष्ट हेतु पक्ष का धर्म अर्थात् पक्ष में अनिवार्यतः रहता हो। इसी व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु द्वारा, अपने साध्य की सिद्धि की जा सकती है। साध्य को पूर्व में सिद्ध न रहने के कारण, साधन द्वारा सिद्ध किया जाता है। यदि साध्य की भांति हेतु को भी सिद्ध करने की अपेक्षा रहे, तो वह साधन नहीं कहला सकता। कहा भी गया है- 'स्वयमसिद्धः

कथं परान् साधयति?'- 'जो स्वयं असिद्ध है, वह दूसरे की सिद्धि किस प्रकार कर सकता है'। अत एव तर्कभाषाकार केशव मिश्र ने लिङ्गत्व रूप से अनिश्चित हेतु को असिद्ध नामक हेत्वाभास कहा है (लिङ्गत्वेनासिद्धो हेतुरसिद्धः)। सरल शब्दों में जिस प्रकार साध्य संदिग्ध होता है वैसें ही जिस अनुमान में हेतु भी संदिग्ध हो तो वह हेतु असिद्ध नामक हेत्वाभास हो जाता है। असिद्धि से 'परामर्श' (लिङ्ग परामर्श) निर्विघ्न नहीं हो सकता। क्योंकि परामर्श के तीन अङ्ग हैं- व्याप्ति, पक्षता तथा पक्षधर्मता। मूल में असिद्ध के तीन भेद बताये गये हैं। जहाँ पक्ष दूषित हो वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होता है, जहाँ हेतु दूषित हो वहाँ स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होता है और जहाँ व्याप्ति दूषित हो वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है।

पदकृत्यम्

असिद्धं विभजते – असिद्ध इति॥ आश्रयासिद्ध्याद्यन्यतमत्वमसिद्धत्वम्।

असिद्ध का विभाग कहते हैं असिद्ध इति। आश्रयासिद्ध आदि में से कोई एक होना असद्धित्व का लक्षण है।

तर्कदीपिका

असिद्धं विभजते – असिद्ध इति।

७५. आश्रयासिद्धो यथा-गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

आश्रयासिद्ध जैसे 'गगनारविन्दम् सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्' (यहाँ गगनारविन्द पक्ष है, सुरभित्व साध्य है, अरविन्दत्व हेतु है, और सरोजारविन्द उदाहरण है)। यहाँ साध्य सुरभित्व का आश्रय गगनारविन्द की सत्ता ही नहीं है।

आशा आश्रयासिद्ध हेत्वाभास को सरल शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :- हेतु को पक्ष में रहना उचित है। किन्तु जहाँ पक्ष ही एक काल्पनिक वस्तु हो, वास्तव में उसका अस्तित्व ही न हो, ऐसे पक्ष में हेतु ही किसी प्रकार रह सकता है? इसलिए यहाँ 'पक्ष', जिसे 'आश्रय' (हेतु का आश्रय) भी कहते हैं, असिद्ध है, अर्थात् है ही नहीं। अतएव यह **'आश्रयासिद्ध'** या **'पक्षासिद्ध'** नाम का 'हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे – आकाश का कमल सुगन्ध वाला है, क्योंकि (यह) कमल है। जो कमल है, वह सुगन्ध वाला है; जैसे - तालाब में उगने वाला कमल। यहाँ 'आकाश का कमल' पक्ष है, 'सुगन्ध वाला होना' **साध्य** है, '(वह) कमल है,' **हेतु** है और 'तालाब में उगने वाला कमल' **दृष्टान्त** है। हेतु का पक्ष में रहना आवश्यक है। किन्तु यहाँ 'आकाश का कमल' जो **पक्ष** है, उसी का होना असम्भव है, आकाश में फूल होते ही नहीं। इसलिए उसमें हेतु का रहना भी एक कल्पनामात्र है और इसीलिए वह सुगन्ध वाला भी नहीं हो सकता।

मूल में आश्रयासिद्ध का लक्षण नहीं दिया गया है। मथुरानाथ के अनुसार, इसका लक्षण इस प्रकार है – 'जिस हेतु का पक्ष, पक्षतावच्छेदक (अर्थात् पक्षवृत्ति धर्म) के अभाव

वाला हो, उसे आश्रयासिद्ध कहते हैं (तत्वचिन्तामणिरहस्य)। पदकृत्य टीका में भी यही लक्षण किया गया है। पक्षमात्रवृत्ति धर्म का नाम पक्षतावच्छेदक है और ऐसे अभाव वाले पक्ष का नाम आश्रयासिद्धि है तथा आश्रयासिद्धि दोषवाले हेतु का नाम आश्रयासिद्ध है जैसे- 'माणिक्यमय: पर्वतो वह्निमान् धूमात्' - माणिक्यमय पर्वत् वह्निमान् है, धूमवाला होने से। इस अनुमान में हेतु 'धूम' आश्रयासिद्ध है, क्योंकि उसके पक्ष में, माणिक्यमयत्व धर्म की अप्रसिद्धि होने के कारण, पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव है। उक्त धर्म शून्य पक्ष में वर्तमान रहना ही आश्रयासिद्धि दोष है और उक्त दोष विशिष्ट धूम हेतु आश्रयासिद्ध कहलाता है।

पदकृत्यम्

आश्रयासिद्धत्वं च पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकत्वम्। भवति हि अरविन्दत्वे गगनीयत्वरूपपक्षतावच्छेकाभाववत्पक्षकत्वम् अरविन्दरूपपक्षे गगनीयत्वविरहात्। ननु कथमरविन्दे गगनीयत्वविरहोऽत आह अत्रेति। उपदर्शितानुमान इत्यर्थ:।

'पक्षतावच्छेदकाभाववान् है पक्ष जिस हेतु का' वह हेतु आश्रयासिद्ध है। जैसे गगनारविन्दम् सुरभि अरविन्दत्वात् में गगनीयत्व विशिष्ट अरविन्द पक्ष है, गगनीयत्व पक्षतावच्छेदक है वह पक्ष अरविन्द में सम्भव नहीं। अब प्रश्न यह है कि अरविन्द में गगनीयत्व क्यों नहीं है? इसका उत्तर है कि सुगन्ध का आश्रय गगनारविन्द है और उसकी सत्ता है ही नहीं। मूल में अत्र शब्द का अर्थ है लिखित अनुमान वाक्य में।

तर्कदीपिका

आश्रयासिद्धमुदाहरति गगनेति॥

स्वरूपासिद्धस्य किं रूपम्?

७६. स्वरूपासिद्धो यथा-शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात्।

स्वरूपासिद्ध जैसे-शब्दो गुण: चाक्षुषत्वात्। यहाँ चाक्षुषत्व हेतु शब्द में नहीं है। क्योंकि शब्द केवल कान से सुना जाता है।

आशा असिद्ध का दूसरा भेद 'स्वरूपासिद्ध' है। पदकृत्य में इसका लक्षण यह दिया गया है कि जो हेतु आश्रय में न पाया जाये उसको स्वरूपासिद्ध कहते हैं। आशय यह है कि जिस हेतु का आश्रय तो हो, परन्तु हेतु उस आश्रय अर्थात् पक्ष में न रहता हो उसको 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं। 'आश्रयासिद्ध' में तो आश्रय या पक्ष का अस्तित्व ही नहीं होता परन्तु 'स्वरूपासिद्ध' में आश्रय या पक्ष का अस्तित्व तो होता है लेकिन हेतु उस आश्रय या पक्ष में नहीं रहता है अत: उसको 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं। स्वरूपासिद्ध का अन्य उदाहरण :- जलाशय द्रव्य है, क्योंकि उसमें (जलाशय में) धूम है। जहाँ धूम है, वहाँ द्रव्य है, जैसे-जलती हुई लकड़ी या

रसोईघर। यहाँ हेतु, अर्थात् धूम जल में नहीं है, धूम तो आग के साथ रहने के कारण जल में रह ही नहीं सकता। इसलिए यह हेतु '**स्वरूपासिद्ध**' है।

पदकृत्य टीका में स्वरूपासिद्ध के चार भेद किये गये हैं, वे नीचे द्रष्टव्य हैं।

पदकृत्यम्

पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिः। सद्धेत्वभावेऽतिव्याप्तिवारणाय पक्षे इति। घटाद्यभाववारणाय हेत्विति।

सोऽयं स्वरूपासिद्धः शुद्धासिद्धभागासिद्धविशेषणासिद्धविशेष्या-सिद्धभेदेन चतुर्विधः। तत्राद्यस्तूपदर्शित एव। द्वितीयो यथा- उद्भूतरूपादिचतुष्टयं गुणः रूपत्वादित्यत्र रूपत्वे हेतोः पक्षैकदेशावृत्तित्वेन तस्यभागे स्वरूपासिद्धत्वम्। तृतीयो यथा- वायुः प्रत्यक्षः रूपवत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वादित्यत्र रूपवत्त्वविशेषणस्य वायाववृत्तेस्तद्विशिष्टस्पर्शवत्त्वस्यापि तथात्वेन तस्य स्वरूपासिद्धत्वं निर्वहति, विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्। तुरीयो यथा तत्रैव विशेषणविशेष्यंवैपरीत्येन हेतुः। तस्या स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावादिति बोध्यम्।

पक्ष में हेतु का अभाव स्वरूपासिद्ध है। सद्धेतुस्थल में भी किसी हेतु का अभाव होने से अतिव्याप्ति वारण के लिए 'पक्षे' पद है। पक्ष में घटाभाव भी स्वरूपासिद्ध होगा, अतः घटाभाव में अतिव्याप्तिवारण के लिए हेतु पद हैं।

स्वरूपासिद्ध चार प्रकार का होता है। शुद्धासिद्ध, भागासिद्ध, विशेषणासिद्ध और विशेष्यासिद्ध। शुद्धासिद्ध का निरूपण मूल में किया जा चुका है। भागासिद्ध जैसे उद्भूतरूपादि-चतुष्टयम् गुणः रूपत्वात्। यहाँ रूपत्व हेतु केवल रूप में है, गन्ध और स्पर्श में नहीं। अतः हेतु का पक्ष के एक देश में न रहना ही भागासिद्ध है। विशेषणासिद्ध जैसे-वायुः प्रत्यक्षः रूपवत्वे सति स्पर्शवत्वात्। यहाँ रूपवत्व हेतु विशेषणासिद्ध है क्योंकि वायु में रूप नहीं होता। अतः विशेषण के न रहने से विशेषणाभावयुक्त विशिष्टाभाव है। विशेष्यासिद्ध जैसे- वायुः प्रत्यक्षः स्पर्शवत्वे सति रूपत्वात्। इसी उदाहरण में विशेष्य रूपत्व के वायु में न रहने से विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव है।

तर्कदीपिका

स्वरूपासिद्धमुदाहरति - शब्देति॥

<u>व्याप्यत्वासिद्धः कः, किञ्चोपाधिस्वरूपम्?</u>

७७. सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावा-प्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। यथा पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वादित्यत्रा-

द्रेन्धनसंयोग उपाधिः (तथाहि) यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो इति साध्यव्यापकत्वम्। यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वा-द्वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

उपाधि दोष से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है। साध्य का व्यापक होते हुए साधन के अव्यापक धर्म को उपाधि कहते हैं। साध्य के अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी न हो, वह साध्यव्यापक है। जो हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी हो वह साधनाव्यापक है। जैसे 'पर्वतो धूमवान्, वह्निमत्त्वात्' यहाँ पर 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। क्योंकि 'जहाँ धूम है, वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग है' यह साध्यव्यापकत्व है और जहाँ वह्नि है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है क्योंकि अयोगोलक में आर्द्रेन्धन संयोग का अभाव है अतः यह साधनाव्यापक है। इस प्रकार आर्द्रेन्धनसंयोग 'साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक' धर्म होने से उपाधि है। अतः वह्निमत्त्व हेतु उपाधि से युक्त होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध है।

आशा असिद्ध नामक हेत्वाभास के तृतीय भेद का विवेचन करते हुये कहते हैं कि जो हेतु उपाधियुक्त है वह व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास है। व्याप्ति विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्याप्ति का ग्रहण 'भूयःसहचारदर्शन' से होता है और व्याप्ति 'स्वाभाविक सम्बन्ध' होता है, अर्थात् उस सम्बन्ध को बनाने में कोई अन्य कारण नहीं होना चाहिये। यदि इस सम्बन्ध को बनाने में कोई अन्य वस्तु कारण है तो हेतु और साध्य का यह सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, अतः इसे व्याप्ति भी नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध को बनाने में हेतु और साध्य के अतिरिक्त कोई कारण है तो उसे यहाँ 'उपाधि' के नाम से कहा गया है। जैसे 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ वह्नि है' यह स्वाभाविक सम्बन्ध है अतः व्याप्ति उचित है परन्तु यदि इसे उलटा कर दिया जाये, कि 'जहाँ वह्नि है वहाँ धूम है' तो इनका भूयः सहचार दर्शन होने पर भी यह स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होगा, क्योंकि 'वह्नि' हेतु अपने 'धूम' साध्य के साथ केवल उन्हीं स्थानों पर पाया जाता है जहाँ इन्धन गीला हो अन्यथा बिजली के वल्ब आदि में वह्नि तो है परन्तु वहाँ धूम नहीं होता। इस प्रकार वह्नि हेतु का धूम साध्य के साथ साहचर्य सम्बन्ध बनाने में 'गीला इन्धन' कारण है अतः गीला इन्धन को उपाधि के नाम से कहा जायेगा। जहाँ हेतु का अपने साध्य के साथ सम्बन्ध बनाने में उपाधि रूप धर्म कारण होगा, वह हेतु हेतु न होकर, व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलायेगा।

न्याय शैली में '**उपाधि**' का लक्षण है 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक-त्वमुपाधिः'। जो धर्म साध्य का व्यापक हो और साधन का अव्यापक हो उसको 'उपाधि' कहते हैं। जैसे यदि कोई यह अनुमान बनावे कि 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' अर्थात् पर्वत वह्नियुक्त होने से धूमवान् है तो इस अनुमान में धूम 'साध्य' है, वह्नि 'साधन' है, और 'आर्द्रेन्धनसंयोग'

को यहाँ उपाधि कहा है। यह 'आर्द्रेन्धन संयोग' रूप धर्म, साध्य, जो कि धूम है, उसका व्यापक है। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ आर्न्द्रेन्धन संयोग अवश्य होता है, यह 'साध्यव्यापकत्व' हुआ। इसके विपरीत 'आर्द्रेन्धनसंयोग' साधनभूत धर्म वह्नि का व्यापक नहीं है, अर्थात् जहाँ-जहाँ वह्नि हो वहाँ वहाँ 'आर्द्रेन्धन संयोग' का होना आवश्यक नहीं है। जैसे अयोगोलक में अग्नि तो है परन्तु आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है, यह 'साधनाव्यापकत्व' हुआ। इस प्रकार 'आर्द्रेन्धन संयोग में' 'साध्यव्यापकत्व' और 'साधनाव्यापकत्व' दोनों अंश घट जाने से उसमें 'उपाधि' का पूरा लक्षण घट जाता है। इसलिये यह हेतु 'सोपाधिक' है। अर्थात् 'यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूम:' यह सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं औपाधिक है।

मूल में 'साध्यव्यापक' एवं 'साधनाव्यापक' पदों को भी नव्यन्यायशैली में दर्शाया गया है। तदनुसार 'साध्य के अधिकरणमें विद्यमान जो अत्यन्ताभाव, उस अत्यनताभाव का जो अप्रतियोगी होता है वह साध्य का व्यापक होता है।' 'पर्वत, धूमवान् है, वह्नियुक्त होने से,' इस अनुमान में विद्यमान 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि साध्य अर्थात् धूम की व्यापक है :- साध्य धूम का अधिकरण है पर्वत, उस पर्वत में विद्यमान जो अत्यन्ताभाव, वह अत्यन्ताभाव 'आर्द्रेन्धन-संयोग' का तो है नहीं, अपितु घट-पटादि पदार्थों का ही है, अत: उस अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होंगे घट-पटादि पदार्थ तथा अप्रतियोगी होगा 'आर्द्रेन्धनसंयोग', इस तरह आर्द्रेन्धनसंयोग रूप उपाधि में साध्य-व्यापकत्व का लक्षण घटित हो जात है। इसी प्रकार 'साधनाव्यापक' का मूल में लक्षण 'साधनवत् अर्थात् हेतु के अधिकरण में विद्यमान अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी हो' यह किया गया है। उपर्युक्त उदाहरण में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि साधन की अव्यापक भी है। यथा- हेतु वह्नि का अधिकरण जिस प्रकार पर्वत है, उसी तरह तप्तायपिण्ड जलता हुआ बिजली का वल्ब आदि भी है, उनमें विद्यमान जो अत्यन्ताभाव, वह अत्यन्ताभाव आर्द्रेन्धन संयोग का भी है (क्योंकि तप्तायपिण्ड आदि में वह्नि तो है परन्तु गीला इन्धन नहीं है), इस अभावका प्रतियोगी हुआ- आर्द्रेन्धनसंयोग। अत: यह साधन वह्नि की अव्यापक भी है।

तर्क भाषा में 'औपाधिक सम्बन्ध' का एक अन्य उदाहरण यह दिया गया है :- कोई 'मैत्री' नामक स्त्री है। उसके पांच पुत्र हैं, जिनमें से चार को हमने देखा है और वे सब श्याम वर्ण के हैं। पांचवे पुत्र को हमने नहीं देखा है किन्तु वह गौर वर्ण का है। परन्तु मैत्री के चार पुत्रों में श्यामत्व देखा है वह उस 'भूय: सहचार दर्शन' के आधार पर 'मैत्रीतनयत्व' और 'श्यामत्व' का 'स्वाभाविक सम्बन्ध' अथवा व्याप्ति मान कर उस न देखे हुए पांचवे पुत्र में भी श्यामत्व का अनुमान 'स: श्याम: मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' इस प्रकार कर सकता है। यहाँ 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु 'श्यामत्व' की सिद्धि के लिए दिया गया है। यह हेतु 'सोपाधिक' है। इसमें 'शाक-पाक जन्यत्व' रूप 'उपाधि' विद्यमान है, अर्थात् 'श्यामत्व' का प्रयोजक 'मैत्रीतनयत्व' नहीं अपितु 'शाकपाक जन्यत्व' है। इस प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं। उपाधि का लक्षण 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' है। वह 'शाक-पाक-जन्यत्व' में पूर्ण रूप से घट जाता है। यहाँ साध्य श्यामत्व और साधन मैत्रीतनयत्व है। 'शाकपाकजन्यत्वं' साध्य रूप श्यामत्व का व्यापक है। 'यत्र तत्र श्यामत्वं तत्र तत्र

शाकपाकजन्यत्वं' यह साध्यव्यापकत्व हुआ। 'शाक-पाक-जन्यत्व' का अभिप्राय यह है कि बालक के गौर और श्याम वर्ण पर गर्भ काल में किए गए माता के आहार का प्रभाव पड़ता है। यदि माता दुग्ध, दधि आदि पदार्थों का अधिक सेवन करती है तो बालक गौर वर्ण का होता है। इसके विपरीत यदि गर्भ काल में माता हरे शाक आदि का अधिक सेवन करती है तो बालक का वर्ण श्याम होता है। अर्थात् श्यामत्व का प्रयोजक या कारण 'मैत्रीतनयत्व' नहीं अपितु 'शाकपाकजन्यत्व' है। जहाँ-जहाँ 'शाक-पाकजन्यत्व' होता है वहाँ-त्रहाँ श्यामत्व अवश्य होता है यह साध्य-व्यापकत्व हुआ। परन्तु जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व होता है वहाँ-वहाँ 'शाक-पाक-जन्यत्व' अवश्य हो यह आवश्यक नहीं है। माता गर्भ-काल में शाकादि के स्थान पर दुग्ध आदि का सेवन करे यह भी हो सकता है। ऐसी दशा में 'यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र शाक-पाक-जन्यत्वं' यह आवश्यक न होने से साधनाव्यापकत्व हुआ। इस प्रकार 'शाक-पाक-जन्यत्व' रूप 'उपाधि' के वर्तमान होने से 'मैत्रीतनयत्व' और श्यामत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अपितु औपाधिक संबंध है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि 'भूय: सहचार दर्शन' से स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति का निश्चय होता है परन्तु जहाँ एक भी स्थल में उनके सहचार का अभाव अथवा व्यभिचार का ग्रहण हो जाता है वहाँ वह 'भूय: सहचार दर्शन' भी व्यर्थ हो जाता है और वह उनके स्वाभाविक सम्बन्ध का बोध नहीं करा सकता है। इसलिए केवल 'भूय: सहचार दर्शन' ही व्याप्ति ग्राहक नहीं है अपितु उसके साथ व्यभिचार का अदर्शन होना भी आवश्यक है। अर्थात् 'व्यभिचारादर्शनसहकृत भूय: सहचारदर्शन' व्याप्ति का ग्राहक होता है। भूय: सहचार दर्शन होते हुए मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का उपाधि स्थल में व्यभिचार दर्शन हो जाने से व्याप्ति सिद्ध न हो सकती। अत: उनका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।

व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास को चूँकि उपाधियुक्त बताया गया है, अत: अब तक उपाधि की व्याख्या की गयी है। इस तरह की उपाधि से युक्त जो हेतु है वह हेतु न होकर व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास है, जैसे कि 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्' इस अनुमान में वह्नि व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

तर्कभाषा आदि ग्रन्थों में इस हेत्वाभास के भी दो भेद बताये गये हैं :- (अ) हेतु में उपाधि होने से (इसका विवेचन ऊपर कर दिया गया है)। (ब) हेतु और साध्य के मध्य व्याप्ति को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अभाव होने से, जैसे :- शब्द क्षणिक है, अर्थात् एक ही क्षण रहने वाला है, क्योंकि वह सत् है। जो सत् है, वह क्षणिक है, जैसे - बादल का एक टुकड़ा। (उपर्युक्त व्याप्ति से युक्त) सत् शब्द में है। इसलिए शब्द क्षणिक है। इस अनुमान में 'सत् होना' **हेतु** है, 'क्षणिक' **साध्य** है और 'बादल का एक टुकड़ा' **दृष्टान्त** है। इनमें 'सत्' और 'क्षणिक' के बीच में '**व्याप्ति**' रहनी चाहिए, जिसे प्रमाणित करने के लिए 'बादल का एक टुकड़ा' के रूप में एक दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ 'दृष्टान्त' वही हो सकता है, जिसमें 'सत् और क्षणिक होना' दोनों का ही रहना सिद्ध हो। किन्तु उक्त दृष्टान्त में 'सत् और क्षणिक होना' इन दोनों का ही रहना सिद्ध नहीं है, क्योंकि जितनी वस्तुएँ सत्, अर्थात् विद्यमान हैं, वे तो एक से अधिक क्षणों तक रहनेवाली होती हैं। फिर वे क्षणिक, अर्थात् एक क्षणमात्र रहने

वाली कैसे हो सकती हैं? यह तो परस्पर विरुद्ध कथन है। दृष्टान्त के अशुद्ध होने के कारण व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता और इसलिए अनुमान भी ठीक नहीं हो सकता। अत: उपर्युक्त अनुमान दोषयुक्त है।

पदकृत्यम्

व्याप्यत्वासिद्धं निरूपयति सोपाधिक इति। ननु कोऽयमुपाधिरत आह- साध्येति। साधनाव्यापक उपाधिरित्युक्ते शब्दोऽनित्य: कृतकत्वादित्यत्र सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्रहणार्हत्वमप्युपाधि: स्यात्तदर्थं साध्यव्यापकत्वमुक्तम्। तावत्युक्ते सामान्यवत्त्वादिनाऽनित्यत्वसाधने कृतकत्वमुपाधि: स्यात्तदर्थं साधनाव्यापकत्वम्। उपाधिभेदमादायासम्भववारणाय व्यापकत्वशरीरेऽप्यत्यन्तपदमादेयम्। साधनभेदमादाय साधनस्योपाधित्ववारणाया-व्यापकशरीरेऽप्यत्यन्तपदमवश्यं-देयम्।

सोऽयमुपाधिस्त्रिविध: केवलसाध्यव्यापक: पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्य-व्यापक: साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। तत्राद्य उपदर्शित:। एवं क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मजनिका हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावदित्यत्र निषिद्धत्वमुपाधि:। तस्य यत्राधर्मजनकत्वं तत्र निषिद्धत्वमिति साध्यव्यापकता। यत्र हिंसात्वं तत्र न निषिद्धत्वमिति निषिद्धत्वमुपाधि:। साधनाव्यापक: क्रतुहिंसायां निषिद्धत्वस्या-भावात्। 'न हिंस्यात्सर्वाणि भूतानि' इति सामान्यवाक्यत: 'पशुना यजेत' इत्यादिविशेषवाक्यस्य बलीयस्त्वात्। अतो हिंसात्वं नाधर्मजनकत्वे प्रयोजकमपि तु निषिद्धत्वमेवेत्यादिकमपि द्रष्टव्यम्।

द्वितीयो यथा वायु: प्रत्यक्ष: प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्रोद्भूतरूपवत्त्व-मुपाधि:। तस्य यत्र प्रत्यक्षत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति न केवलसाध्यव्यापकत्वं रूपे व्यभिचारात्, किन्तु द्रव्यत्वरूपो य: पक्षधर्मस्तदवच्छिन्नबहि:प्रत्यक्षत्वं यत्र तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वमेव। आत्मनि व्यभिचार वारणाय बहि: पदम्। यत्र प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वं तत्र नोद्भूतरूपवत्त्वमिति साधनाव्यापकत्वं च वायावुद्भूत रूपविरहात्।

तृतीयो यथा ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र भावत्वमुपाधि:। तस्य यत्र विनाशित्वं तत्र भावत्वमिति न केवलसाध्यव्यापकत्वम्, प्रागभावे भावत्वविरहात्, किन्तु जन्यत्वरूपसाधनावच्छिन्नविनाशित्वं यत्र तत्र भावत्वमिति साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वमेव। यत्र जन्यत्वं तत्र न भावत्वमिति साधनाव्यापकत्वञ्च, ध्वंसे भावत्वविरहात्। एवं स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजन्यत्वमुपाधि:। श्यामत्वस्य नीलघटेऽपि सत्त्वान्न केवलसाध्य-

व्यापकत्वम्, किन्तु साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वमेव। अष्टमे पुत्रे शाकपाकजन्यत्वविरहेण साधनाव्यापकत्वं चेत्यादिकमपि द्रष्टव्यम्।

व्याप्यत्वासिद्ध का निरूपण करते हैं सोपाधिक इति। उपाधि क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं- साध्य इति। उपाधि के लक्षण में यदि केवल 'साधनाव्यापकत्व' ही कहा जाये और साध्यव्यापकत्व का निवेश न हो तो "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" इस सद्धेतुस्थल में "सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्रहणविषयत्व" भी उपाधि हो जायगा। इसे वारण करने के लिये "साध्यव्यापकत्व" कहा है। क्योंकि अनित्यत्वरूपसाध्य अस्मदादि के ज्ञान-सुखादि में है किन्तु उसमें हमारी बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण की विषयता नहीं है। अतः साध्यव्यापक नहीं होने से उक्त उपाधि नहीं बना। यदि साधनाव्यापकत्व पद न दिया जाये तो "गमनादि कर्म अनित्यं सामान्यवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियग्रहणार्हत्वात्" इस सद्धेतुक अनुमान में भी कृतकत्व उपाधि होने लगेगा। उक्त पद देने पर दोष नहीं हुआ। क्योंकि कृतकत्व यद्यपि अनित्यत्वरूप साध्य का व्यापक है, तथापि उक्त साधन का अव्यापक नहीं है किन्तु व्यापक ही है। उपाधि के अन्तर्गत व्यापकत्व के स्वरूप में अत्यन्ताभाव न कहा जाय तो 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इत्यादि में आर्द्रेन्धनसंयोग आदि कोई भी उपाधि नहीं हो सकेगा, अर्थात् सर्वत्र उपाधिलक्षण में असंभव दोष हो जायेगा। क्योंकि जहाँ जहाँ साध्य होगा वहाँ उपाधिका भेद रह जाने से साध्यसमानाधिकरणभेद का प्रतियोगी ही हो जायगा। अतः वह साध्यव्यापक नहीं हो सकेगा। अतः व्यापकत्वशरीर में अत्यन्ताभाव का निवेश आवश्यक है। ऐसे ही "साधनाव्यापकत्वम्" यहाँ भी अव्यापकत्वस्वरूप में केवल अभाव न कहकर अत्यन्ताभाव का निवेश आवश्यक है। अन्यथा "पर्वतो धूमवान् वह्नेः" इत्यादि स्थल में सर्वत्र साधन ही उपाधि बन जायगा। क्योंकि वह्निहेतु धूमरूपसाध्य का व्यापक भी है और वह्न्यधिकरण में वह्नि का अत्यन्ताभाव न होने पर भी वह्नि का भेद तो रहेगा ही। अतः वह्निसमानाधिकरण भेद की प्रतियोगिता वह्नि में होने से स्वयं वह्नि ही वह्नि का अव्यापक भी हो जायगा। इस प्रकार सर्वत्र सोपाधिक स्थल में साधन ही उपाधि होने लगेगा। जो असंगत है। क्योंकि उपाधि के व्यभिचार से हेतु में साध्य के व्यभिचार का अनुमान कराना उपाधि का प्रयोजन है, वह नहीं हो सकेगा। कारण यदि हेतु ही उपाधि हो तो उसी का व्यभिचारी वही नहीं होता है, तब वह साध्य के व्यभिचारी का अनुमान कैसे करा सकेगा?

यह उपाधि तीन प्रकार की होती है :- १. केवलसाध्यव्यापक २. पक्षधर्मावच्छिन्न-साध्यव्यापक, ३. साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक। इनमें प्रथम 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' में केवलसाध्यव्यापक उपाधि बताई गई है। इसी प्रकार 'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा, अधर्मजनिका, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्' यहाँ 'यत्र तत्र अधर्मजनकत्वं तत्र तत्र निषिद्धत्वम्' इस व्याप्ति के अनुसार निषिद्धत्व साध्यव्यापक उपाधि है। यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्र निषिद्धत्वम् यह व्याप्ति नहीं है। क्योंकि क्रतुहिंसा में हिंसात्व है निषिद्धत्व नहीं है। यतः 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस हिंसा निषेधक सामान्य वचन से 'पशुना यजेत' यह विशेषवचन बलवान है। अतः हिंसात्व अधर्मजनकता में प्रयोजक नहीं है किन्तु निषिद्धत्व ही है।

द्वितीय - पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधि, जैसे- 'वायुः, प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' यहाँ उद्भूतरूपवत्व उपाधि है। 'यत्र प्रत्यक्षत्वं तत्र उद्भूतरूपत्वम्' यह केवलसाध्यव्यापकत्व नहीं है क्योंकि रूप में ही व्यभिचार होगा, किन्तु द्रव्यत्व रूप जो पक्षधर्म तद्विशिष्टबहिः प्रत्यक्षत्व जहाँ होगा, वहाँ उद्भूतरूपवत्व है। अतः पक्षधर्मावच्छिन्न साध्यव्यापक है। आत्मा में अतिव्याप्ति वारण के लिए बहिः पद है। जहाँ प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्व है वहाँ उद्भूतरूपवत्व नहीं है। यह साधनाव्यापकत्व है, क्योंकि वायु में उद्भूतरूप नहीं है।

तृतीय साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधि, जैसे 'ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' में भावत्व उपाधि है। जहाँ विनाशित्व है वहाँ भावत्व है यह केवलसाध्यव्यापकत्व नहीं है, क्योंकि प्रागभाव विनाशी है उसमें भावत्व नहीं है। किन्तु जन्यत्वरूपसाधनावच्छिन्नविनाशित्व जहाँ है, वहाँ भावत्व है। अतः साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकता है। जहाँ जन्यत्व है वहाँ भावत्व नहीं, इस प्रकार साधनाव्यापकत्व भी है, क्योंकि ध्वंस में जन्यत्व हैं भावत्व नहीं है। इसी प्रकार 'स श्यामः मित्रातनयत्वात्' में शाकपाकजन्यत्व उपाधि है। जहाँ श्यामत्व है वहाँ शाकपाकजन्यत्व है, यह केवलसाध्यव्यापक नहीं बनेगा, क्योंकि श्यामत्व नीलघट में भी है। अतः साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्व ही बनेगा। मित्रा के अष्टम पुत्र में शाकपाकजन्यत्व न होने से साधनाव्यापकत्व है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं।

तर्कदीपिका

व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह - सोपाधिक इति। उपाधिलक्षणमाह - साध्येति। उपाधिश्चतुर्विधः केवलसाध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। आद्य आर्द्रेन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा- 'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम्। तृतीयो यथा - 'प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थो यथा - 'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्॥

<u>बाधितस्य किं लक्षणम्?</u>

७८. यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्।

॥ इति तर्कसंग्रहे अनुमानपरिच्छेदः॥

जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित हो वह बाधिक नामक हेत्वाभास है। जैसे- अग्नि, अनुष्ण है, द्रव्य होने से। यहाँ अनुष्णत्व साध्य है। किन्तु प्रत्यक्षस्पर्श स्वरूप प्रमाण से अनुष्णत्वाभावरूप उष्णत्व अग्नि में निश्चित है अतः यहाँ द्रव्य हेतु बाधित नामक हेत्वाभास है।

आशा 'बाधित' हेत्वाभास को ही 'कालात्ययापदिष्ट' भी कहते हैं। जिस हेतु के पक्ष में किसी अन्य प्रबलतर प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो, वह 'बाधितविषय' हेत्वाभास है। जैसे अग्नि अनुष्ण अर्थात् शीतल है, द्रव्य होने से, जल के समान। इस अनुमान में 'वह्नि' पक्ष है, 'अनुष्णत्व' साध्य है तथा 'द्रव्यत्व' हेतु है। यहाँ द्रव्यत्व हेतु के साध्य अनुष्णत्व का अभाव अर्थात् उष्णत्व वह्नि रूप पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण से ही निश्चित हो चुका है। क्योंकि पक्षभूत वह्नि में स्पार्शन त्वाच प्रत्यक्ष से ही उष्णत्व का ग्रहण पूर्व में ही ज्ञात है। इसका अन्य उदाहरण – घड़ा क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है। यहाँ 'सत्' हेतु है और 'क्षणिक' साध्य है। यह साध्य घड़ारूपी 'पक्ष' में नहीं है। प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है कि 'घड़ा' एक क्षण से अधिक समय तक स्थिर रहता है। इसलिए इस अनुमान का विषय, अर्थात् साध्य, बाधित है। अतएव यह **'बाधितविषय'** नाम का 'हेत्वाभास' है।

ये ही पाँच प्रकार के 'हेत्वाभास' तर्कशास्त्र में माने जाते हैं। न्यायवैशेषिक के ग्रन्थों में इन्हीं के और भी भेद बताये गये हैं।

॥ तर्कसंग्रह के अनुमानपरिच्छेद की आशा टीका समाप्त॥

पदकृत्यम्

यस्येति। सद्धेतुवारणाय प्रमाणान्तरेणेति। घटादिवारणाय साध्येति।

॥ इति पदकृत्येऽनुमानरिच्छेद:॥

सद्धेतु में अतिव्याप्तिवारण के लिए प्रमाणान्तरेण पद है अर्थात् भ्रमात्मक साध्याभाव के निश्चय को लेकर सद्धेतु भी बाधित न हो जाय इसके लिये प्रमाणान्तर पद का निवेश किया है। घटाभाव प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा पर्वत पक्ष से निश्चित होने से धूम हेतु में अतिव्याप्तिवारण के लिए साध्य पद है अर्थात् उदासीन घटादि के अभावनिश्चय से सद्धेतु भी बाधित न हो जाय, इसके लिये साध्यपद दिया है।

॥ पदकृत्य टीका के हिन्दी भाषानुवाद का अनुमानपरिच्छेद पूर्ण हुआ॥

तर्कदीपिका

बाधितस्य लक्षणमाह – यस्येति। अत्र बाधस्य ग्राह्याभावनिश्चयत्वेन, सत्प्रतिपक्षस्य विरोधिज्ञानसामग्रीत्वेन साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वम्। इतरेषां तु परामर्शप्रतिबन्धकत्वम्। तत्रापि साधारणस्याव्यभिचाराभावतया, विरुद्धस्य सामानाधिकरण्याभावतया, व्यापकत्वासिद्धस्य विशिष्टव्याप्त्यभावतया-ऽसाधारणानुपसंहारिणोर्व्याप्तिसंशयाधायकत्वेन च व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धयो: पक्षधर्मताज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। उपाधिस्तु व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धक:। सिद्धसाधनं तु पक्षताविघटतया आश्रयासिद्धेऽन्तर्भवतीति प्राञ्च:। निग्रहस्थानान्तरमिति नवीना:।

॥ इति तर्कदीपिकायामनुमानपरिच्छेद: ॥

उपमान-परिच्छेद:

७९. उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। तथाहि कश्चिद्गवयपदार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गयवः' इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति, तदनन्तरमसौ गवयशब्दवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते।

॥ इति तर्कसंग्रहे उपमानपरिच्छेदः ॥

उपमिति के करण को उपमान कहते हैं। संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध-ज्ञान को उपमिति कहते हैं। उपमिति का करण सादृश्यज्ञान है। जैसे कोई गवय पद के अर्थ को नहीं जानने वाला पुरुष किसी वन में रहने वाले पुरुष से 'गाय के सदृश गवय है' यह सुनकर वन गया। वहाँ 'गाय के सदृश गवय है' इस वाक्यार्थ का स्मरण करता हुआ गोसदृश पिण्ड को देखता है। उसके बाद उसे 'यह गवय पद का वाच्य है' यह उपमिति उत्पन्न होती है।

आशा प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बाद तीसरा प्रमाण उपमान है। यह दो मुख्य वस्तुओं के बीच में विद्यमान साधारण धर्म के आधार पर निर्भर है। किसी संज्ञा शब्द का उससे बोध कराने वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध के ज्ञान को **'उपमान'** कहते हैं। जैसे - किसी पुरुष ने गवय अर्थात् नील गाय को कभी नहीं देखा। उसको किसी आरण्यक पुरुष ने बताया कि 'जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है'। इसको सुनने के बाद कभी वह पुरुष जंगल में जाकर गोसदृश एक प्राणी को देखता है और उसके साथ ही 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य का उसको स्मरण हो आता है। इस प्रकार -गोसदृश पिण्ड का ज्ञान उसको होता है। इसी का नाम उपमान प्रमाण है। इस उपमान प्रमाण का फल या उपमिति है संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध की प्रतीति। गौ के धर्म को गवय में अतिदेश करने वाला 'यथा गौस्तथा गवयः' यह वाक्

अतिदेशवाक्य कहलाता है। अतिदेश-वाक्यार्थ-स्मरण-सहकृत-सादृश्य-विशिष्ट-पिण्ड के ज्ञान से पुरुष को यह ज्ञान होता है कि इसी प्राणी का नाम गवय है। यहाँ गोसदृश-विशिष्ट पिण्ड संज्ञी है, और गवय पद उसकी संज्ञा है। इस प्रकार संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति उपमान प्रमाण का फल है। यहाँ गाय और गवय, इन दोनों में जो सादृश्य है, उसी के आधार पर यह 'उपमान' निर्भर है। गवय-रूपी संज्ञा-शब्द को गवय-रूपी जन्तु के साथ संबद्ध करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञान 'उपमिति' है।

वैशेषिक, सांख्य तथा योग दर्शन में उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है।

॥ तर्कसंग्रह के उपमानपरिच्छेद की आशा टीका समाप्त॥

पदकृत्यम्

अत्रसरसङ्गतिमभिप्रेत्यानुमानानन्तरमुपमानं निरूपयति उपमितीति। उपमितेः करणमुपमानमित्यर्थः। कुठारादिवारणाय मितीति। प्रत्यक्षादिवारणाय उपेति। संज्ञासंज्ञीति। अनुमित्यादिवारणाय सम्बन्धेति। संयोगादिवारणाय संज्ञासंज्ञीति। असौ गवयशब्दवाच्य इति। अभिप्रतो गवयो गवयपदवाच्य इत्यर्थः। तेन गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्ग इति दूषणमपास्तम्। तथा च गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानं करणम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। उपमितिः फलमिति सारम्।

तच्चोपमानं त्रिविधं सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमसाधारणधर्मविशिष्ट-पिण्डज्ञानं वैधर्म्यविशिष्टपिण्डज्ञानं च। तत्राद्यमुक्तमेव। द्वितीयं यथा- खड्गमृगः कीदृगिति पृष्टे नासिकालसदेकशृङ्गोऽनतिक्रान्तगजाकृतिश्चेति तज्ज्ञातृभ्यः श्रुत्वा कालान्तरे तादृशं पिण्डं पश्यन्नतिदेशवाक्यार्थं स्मरति। तदनन्तरं खड्गमृगः खड्गपदवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते। अत्र नासिकालसदेकश्रृङ्ग एवासाधारणधर्मः। तृतीयं यथा-उष्ट्रः कीदृगिति पृष्टे अश्वादिवन्न समानपृष्ठो न ह्रस्वग्रीवशरीरश्चेति आप्तोक्ते कालान्तरे तत्पिण्डज्ञानं ततोऽतिदेशवाक्यार्थस्मरणं तत उष्ट्र उष्ट्रपदवाच्य इत्युपमितिरुत्पद्यते।

॥ इति पदकृत्ये उपमानपरिच्छेदः॥

अवसर सङ्गति के अनुसार अनुमान के बाद उपमान का निरूपण करते हैं- उपमिति इति। उपमिति का करण उपमान है यह मूल लक्षण का अर्थ है। 'उपकरणं उपमिति' इतना मात्र कहने पर कुठार में छिदा का करण होने से अतिव्याप्ति होगी। अतः मिति पद है। प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति वारण के लिए उप पद है, क्योंकि प्रत्यक्ष भी मिति है। शब्द और अनुमान से भी संज्ञा संज्ञी का ज्ञान होता है अतः उनमें अतिव्याप्ति वारणार्थ सम्बन्ध पद है। संयोगादि सम्बन्ध में अतिव्याप्ति वारण के लिए संज्ञासंज्ञी पद है। 'असौ' पद से गवय सामान्य अभिप्रेत है। अतः गवयमात्र में गवयपदवाच्यता का ग्रह होने से गवयान्तर में शक्तिग्रह नहीं हो

सकेगा, यह दूषण नहीं आ सकता है। इस प्रकार 'गोसदृशपिण्डज्ञान' करण है 'अतिदेशवाक्य (गोसदृशो गवय:) का अर्थ स्मरण' अवान्तर व्यापार है, 'उपमिति' फल है।

उपमान तीन प्रकार का है। सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञान, असाधारणधर्मविशिष्टपिण्डज्ञान और वैधर्म्यविशिष्ट पिण्डज्ञान। प्रथम-गोसदृशो गवय: मूल में बताया गया है। द्वितीय 'खड्गमृग कैसा होता है' ऐसा प्रश्न करने पर 'नासिका पर एक सीङ्ग शोभा पाती है, गज की आकृति को अतिक्रमण नहीं करता' इस प्रकार ज्ञाता द्वारा सुनकर कालान्तर में इस प्रकार के पिण्ड को देखने पर अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण करता है। तब खड्गमृग: खड्गमृगपदवाच्य है यह उपमिति होती है। यहाँ नासिकालसदेकशृङ्ग असाधारणधर्म है जिसके द्वारा पिण्डज्ञान हुआ है। तीसरा जैसे – 'ऊँट कैसा होता है' यह प्रश्न करने पर किसी ने उत्तर दिया कि ऊँट घोड़े के समान होता है किन्तु उसकी पीठ समतल नहीं होती, ग्रीवा तथा देह ह्रस्व नहीं होते अर्थात् दीर्घ होते हैं वह ऊँट है, ऐसा आप्तजन के द्वारा सुनने पर कालान्तर में वैसा पिण्ड दिखाई पड़ने पर घोड़े से विलक्षण अङ्गों के आधार पर अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण और तत्पश्चात् 'उष्ट्रपदवाच्य:' यह उपमिति होती है।

॥ पदकृत्य के हिन्दी भाषानुवाद का उपमानपरिच्छेद पूर्ण हुआ ॥

तर्कदीपिका

उपमानं लक्षयति – उपमितीति ॥

॥ इति तर्कदीपिकायामुपमानपरिच्छेद: ॥

शब्द-परिच्छेद:

शब्दप्रमाणस्य किं स्वरूपम्?

८०. **आप्तवाक्यं शब्द:।**

आप्तस्य किं लक्षणम्।

आप्तस्तु यथार्थवक्ता।

आप्त का वाक्य शब्द है।

यथार्थवक्ता आप्त है।

आशा गुण प्रकरण में जिस शब्द नामक गुण का विवेचन किया गया है, वही शब्द यथार्थ-अनुभव के करण के रूप में शब्द प्रमाण है। इसी दृष्टि से प्रमाण विवेचन के प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान के बाद चतुर्थ प्रमाण शब्द है। शब्द प्रमाण में संकेतग्रह के अवसर पर अनुमान की आवश्यकता पड़ती है इसलिए अनुमान के अनन्तर शब्द को रखा गया है।

जैसा कि गुण प्रकरण में स्पष्ट किया गया है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में शब्द आकाश नामक द्रव्य का गुण है तथा इसका ज्ञान केवल श्रवणेन्द्रिय से ही होता है। श्रवणेन्द्रिय से ही हम समस्त प्रकार के शब्दों का ज्ञान करते हैं, अन्य किसी इन्द्रिय से नहीं। शब्द के प्रमुखत: दो भेद किये जाते हैं :- वर्ण तथा ध्वनि। भाषागत अकार आदि वर्ण एवं उन वर्णों के योग से बने हुये पद तथा पदों से निर्मित वाक्य, ये सभी शब्द के 'वर्ण' नामक भेद के अन्तर्गत हैं। भाषा रूप शब्द को सुनकर हमें अर्थ का ज्ञान होता है। तदनुसार फिर हम व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। तर्कसंग्रह के इस प्रकरण में शब्द के इसी रूप का शब्दप्रमाण के रूप में विवेचन किया गया है।

वर्णभिन्न अर्थात् भाषा से अतिरिक्त जो भी शब्द हैं व 'ध्वनि' के अन्तर्गत आते हैं। इसका विवेचन गुण प्रकरण में भी किया गया है। साथ ही शब्द की उत्पत्ति, प्रकार आदि का विवेचन भी उसी प्रकरण में है अत: वहाँ द्रष्टव्य है।

आप्त पुरुष के वाक्य को शब्द प्रमाण कहा जाता है। यथाभूत अर्थ का उपदेश करने वाला पुरुष आप्त कहलाता है और उसका वाक्य शब्द प्रमाण है। आप्तवाक्य द्वारा हमें पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है। जिस शब्द द्वारा यह यथार्थ ज्ञान हो वही शब्द प्रमाण है और यथार्थ वक्ता ही आप्त है।

वर्णरूप शब्द को यदि वह आप्तोक्त है – प्रमाण माना जाता है। शब्द को प्रमाण इसलिये माना जाता है कि बहुत से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हमें 'शब्द' द्वारा होता है। वे पदार्थ कभी अलौकिक होते हैं और कभी लौकिक। शब्दात्मक वेद को इसलिये प्रमाण माना जाता है कि वह ऐसे अलौकिक विषय का बोध कराता है जिसका न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बोध होता है और न अनुमान प्रमाण से। उदाहरण के लिये **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** इस वेदवाक्य के प्रतिपाद्य विषय का बोध प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी प्रमाण से नहीं हो सकता, केवल शब्दप्रमाणरूप इसी वाक्य से होता है क्योंकि 'अग्निहोत्र के सम्पादन से स्वर्ग की प्राप्ति होती है' यह प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नहीं है। शब्द प्रमाण से लौकिक विषयों का बोध तो सामान्य बात है। भाषा के माध्यम से पारस्परिक व्यवहार, समाचार पत्र, रेडियो आदि द्वारा हमें ऐसे ही अनेक लौकिक विषयों का ज्ञान होता रहता है।

किन्तु ऐसा नहीं कि प्रत्येक शब्द प्रमाण ही होता है। केवल आप्तोक्त-आप्त व्यक्ति का उपदेश ही प्रमाण होता है। वह कोई भी व्यक्ति आप्त हो सकता है जो यथार्थरूप में ज्ञात पदार्थ को उसी रूप में व्यक्त करने की इच्छा से वाक्यप्रयोग कर रहा हो। किन्तु किसी भ्रान्त अथवा असत्यवादी आदि व्यक्ति का वाक्य शब्द प्रमाण नहीं हो सकता।

पदकृत्यम्

अवसरसङ्गतिमभिप्रेत्योपमानानन्तरं शब्दं निरूपयति–आप्तेति। शब्द इति। शब्दप्रमाणमित्यर्थः। भ्रान्तविप्रलम्भकयोर्वाक्यस्य शब्दप्रमाणत्ववारणाय आप्तेति।

ननु कोऽयमाप्त इत्यत आह–आप्तस्त्विति। यथार्थवक्ता यथाभूता-बाधितार्थोपदेष्टा।

अवसर सङ्गति के अभिप्राय से उपमान के बाद शब्द का निरूपण करते हैं- आप्त इति। शब्दः पद का शब्द प्रमाणम् अर्थ है। भ्रान्त और वञ्चक के वाक्यों में प्रमाणत्व वारण के लिए आप्त पद है।

आप्त किसे कहते हैं इस प्रश्न का उत्तर बोलते हैं- आप्तस्तु यथार्थवक्ता = किसी वस्तु के स्वाभाविक और अबाधित अर्थों का उपदेश देने वाला।

तर्कदीपिका

शब्दं लक्षयति – आप्तेति।

<u>वाक्यस्य किं लक्षणम्।</u>

८१. वाक्यं पदसमूहः, यथा गामानयेति।

<u>पदस्य किं लक्षणम्।</u>

शक्तं पदम्।

शक्तेः किं लक्षणम्।

अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।

पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे गामानय (गाय लाओ)।

शक्ति के आश्रय को पद कहते हैं।

'इस पद से इस अर्थ का बोध होता है' इस प्रकार का ईश्वर संकेत शक्ति है।

आशा यहाँ पदों के समूह को वाक्य कहा है और शक्ति युक्त शब्द को पद कहा है। 'शक्ति' को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि इस पद से यह वस्तु समझी जाये, इस प्रकार होने वाली ईश्वर की इच्छा ही शक्ति है। अर्थात् शक्ति का अर्थ है वह ईश्वरेच्छा जिसके अनुसार एक शब्दविशेष का एक अर्थविशेष होता है। इसके अनुसार भाषा का उद्भव ईश्वर से हुआ। यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। **नव्यनैयायिक** इच्छामात्र को शक्ति कहते हैं। अर्थात् किसी शब्द में मनुष्य की इच्छा से ही शक्ति उत्पन्न हो सकती है। अतः अन्नम्भट्ट ने दीपिका में शक्ति का लक्षण **अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः** माना है। इसका अर्थ है कि शक्ति, पद और पदार्थों में वह सम्बन्ध है जोकि उस शब्द का उच्चारण करने पर हमें उस पदार्थ का बोध करा देती है। **प्राचीन नैयायिक** भी इस प्रकार के शब्दों को मानते हैं किन्तु वे इन्हें पारिभाषिक या रूढ़ शब्द कहते हैं। वस्तुतः पारिभाषिक या इतर शब्दों में कोई मौलिक भेद नहीं है। जिस प्रकार घट शब्द से घट का बोध होता है उसी प्रकार देवदत्त शब्द भी एक व्यक्ति का बोध कराता है। अतः बाद के लेखकों ने पारिभाषिक शब्दों को भी ईश्वर संकेत से ही शाब्दबोध कराने वाला मान लिया है।

मीमांसक शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं और नैयायिक उसे केवल इच्छा मानते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यह ईश्वरेच्छा रूप शक्ति किसमें रहती है ? अर्थात् 'घट' पद को सुनने पर घट पदार्थ का ज्ञान होता है या घटत्व जाति का या फिर दोनों का। इस विषय में चार मत प्रमुख हैं- (१) केवल जाति का (२) केवल व्यक्ति का (३) जातिविशिष्ट व्यक्ति का (४) अपोह। प्रथम मत मीमांसकों का है, द्वितीय नव्यनैयायिकों का, तृतीय प्राचीन नैयायिकों, चतुर्थ बौद्धों का। विस्तार भय से यहाँ केवल न्यायमत का विवेचन किया जा रहा है- नैयायिकों के मत में न केवल जाति में शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्ति में। केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं तो केवल जाति में शक्तिग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो सकता है। जाति में शक्ति मानकर यदि व्यक्ति का भान आक्षेप से माना जाय तो उसका शाब्द-बोध में अन्वय नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द-शक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्दबोध में अन्वय हो सकता है। आक्षेप-लभ्य अर्थ शाब्द-बोध में अन्वित नहीं हो सकता है। इसीलिए नैयायिकों के मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक में शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता।

इसलिए '**व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः**' (न्यायसूत्र २, २, ६८) जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है यह नैयायिक-सिद्धान्त है।

नव्य नैयायिक यह मानते हैं कि पद केवल व्यक्ति को बतलाता है और उसकी विशेषतायें तो लक्षणा से आ जाती हैं।

शक्ति ग्रहण के उपाय :- पद से पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं, जिसे न्याय-वैशेषिक मत में इच्छा रूप माना गया है। प्रश्न उठता है कि किसी पद की किस अर्थ (वस्तु) का ज्ञान कराने में शक्ति है इसका बोध कैसे हो? अर्थात् शक्ति ग्रहण के उपाय क्या हैं? इसका उत्तर है-

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारातश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध-ज्ञात-पद के सान्निध्य से भी शक्ति या संकेत का ग्रहण माना जाता है। इन सब में मुख्य उपाय व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दों का और सबसे पहले शक्तिग्रह व्यवहार से ही होता है।

इनमें 'भू सत्तायाम्' आदि धातुपाठ से अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रों से भू-धातु तथा करण आदि पदों का **संकेतग्रह व्याकरण के द्वारा** होता है। 'यथा गौस्तथा गवयः' यह **उपमान** प्रमाण का उदाहरण है। जो व्यक्ति गौ को जानता है पर गवय (नील गाय) को नहीं जानता है, उसको गौ के सदृश गवय होता है इस वाक्य की सहायता से गवय पद का संकेतग्रह हो जाता है। **कोश तथा आप्तवाक्य** अर्थात् पिता आदि के बतलाने से भी नये पदार्थों के नामों का ज्ञान बालकों को होता ही है। **व्यवहार** का उदाहरण यथा छोटा बालक है, उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्द का क्या अर्थ है, कौन-सा शब्द किस अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदि के पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसी को आज्ञा देता है कि 'जरा पुस्तक उठा दो।' बालक न पुस्तक को जानता है और न 'उठा दो' का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिता के इस वाक्य को सुनता है और भाई के व्यवहार को देखता है। इससे उसके मन पर उस समष्टि वाक्य के समष्टिभूत अर्थ का एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'पुस्तक रख दो और पैन उठा दो।' बालक फिर इस वाक्य को सुनता और भाई को तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देखकर बालक धीरे-धीरे पुस्तक, पैन उठाना, रखना आदि शब्दों के अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहार से सङ्केत-ग्रह होता है। शब्द की शक्ति के ज्ञान का छठा साधन है '**वाक्यशेष**'। 'वाक्यशेष' का अर्थ है 'बचा वाक्य' या 'बचे वाक्य'। किसी वाक्य का अर्थ यदि किसी अन्य वाक्य के अर्थ के समझने पर ही समझा जा सके उस अन्य वाक्य अर्थात् अपेक्षित वाव को 'वाक्यशेष' कहेंगे। यथा '**यवमयश्चरुर्भवति**' यहाँ 'यव' शब्द से आर्य जाति के व्यवहारानुसार, जौ लेना चाहिये अथवा म्लेच्छ जाति के व्यवहारानुसार मालकंगनी लेनी चाहिये, इस सन्देह में,

''वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवा: कणिशशालिन:'' इस शेष वाक्य से जौ ही लिये जाते हैं, क्योंकि वसन्त में वे ही फलते हैं। **विवृत्ति** अर्थात् विवरण या व्याख्या से भी संकेत ग्रह होता है। विवरण से तात्पर्य है- उस (अज्ञातशक्ति पद) के समान अर्थ वाले (किसी) दूसरे (ज्ञातशक्तिक) पद के द्वारा उस (अज्ञातशक्ति पद) के अर्थ का कथन। जैसे 'घट: अस्ति' इस (वाक्य) का 'कलश: अस्ति' इस विवरण (वाक्य अर्थात् समानार्थबोधक वाक्य) से 'घट' पद की 'कलश' अर्थ में (वर्तमान) शक्ति का बोध होता है। इसी तरह 'पचति' इस (पद) का 'पाकं करोति' इस (वाक्य) के द्वारा विवरण से (समानार्थ कथन, हो जाने के कारण) आख्यात (प्रत्यय) यत्नार्थक है, यह निर्णय हो जाता है। इसी प्रकार **प्रसिद्ध पद के सान्निध्य** से भी शक्तिग्रह होता है जैसे, ''इस आम के वृक्ष पर 'पिक' मधुर शब्द कर रहा है'' इत्यादि (वाक्य) में (प्रसिद्ध पदों के सान्निध्य से) 'कोकिल' अर्थ में 'पिक' शब्द की शक्ति का बोध (निर्णय) होता है।

पदकृत्यम्

वाक्यं लक्षयति - वाक्यमिति। घटादिसमूहवारणाय पदेति।

शक्तिमिति। निरूपकतासम्बन्धेन शक्तिविशिष्टमित्यर्थ:।

अस्मादिति। घटपदाद्धटरूपोऽर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छैव शक्तिरित्यर्थ:। अर्थस्मृत्यनुकूलपदार्थसम्बन्धत्वं तल्लक्षणम्। शक्तिरिवलक्षणापि पदवृत्ति:। अथ केयं लक्षणा? शक्यसम्बन्धो लक्षणा। सा च त्रिधा-जहत्-अजहत्-जहदजहद्भेदात्। वर्तते च गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदशक्यप्रवाहसम्बन्धस्तीरे। लक्षणाबीजं च तात्पर्यानुपपत्ति:। अत एव प्रवाहे घोषतात्पर्यानुपपत्तेस्तीरे लक्षणा सेत्स्यति। छत्रिणो यान्तीत्यादौ द्वितीया। सोऽयमश्व इत्यादौ तृतीया।

वाक्य का लक्षण करते हैं। घट आदि वर्ण समूह में अतिव्याप्तिवारण के लिए वाक्य लक्षण में ''पद'' है।

निरूपकता सम्बन्ध से शक्ति विशिष्ट को शक्त कहते हैं।

'घट पद से घट अर्थ समझना चाहिए' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा शक्ति नाम की पद वृत्ति है। 'अर्थ स्मरण के अनुकूल पद का पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध है उसको शक्ति कहते हैं' यही शक्ति का लक्षण है। **शक्ति की भाँति लक्षणा भी पद की एक वृत्ति है। वह तीन प्रकार की है। जहत्, अजहत्, जहदजहत्।** जैसे 'गङ्गायां घोष:' में गङ्गापद का शक्य जो 'प्रवाह' उसका सम्बन्ध तीर में है। गङ्गा का प्रवाह गङ्गा पद का शक्यार्थ है उससे तट का सम्बन्ध है। अत: शक्य प्रवाह सम्बन्ध रूप लक्षणावृत्ति से गङ्गायां घोष: वाक्य का गङ्गा के तट पर घोष है ऐसा अर्थ होता है। तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज है। इसीलिए प्रवाह में घोष होने का तात्पर्य अनुपपन्न होने से तीर में लक्षणा हुई। यह जहत्स्वार्था लक्षणा है क्योंकि गङ्गा पद अपने मुख्यार्थ प्रवाह का परित्याग कर के तीर अर्थ का प्रतिपादक बनता है।

द्वितीया अजहत्स्वार्था लक्षणा जैसे - 'छत्रिणो यान्ति' यहाँ पर बहुत लोग छाता लेकर चल रहे हैं कुछ लोग बिना छाता के ही चल रहे हैं। ऐसे समुदाय को छाता वालों के बाहुल्य के कारण छाता वालों का समुदाय कहा जाता है तथा छाता वाले जा रहे हैं, ऐसा भी व्यवहार होता है। यहाँ वक्ता का तात्पर्य समुदाय से है छाता से नहीं। अत: छाता तथा बिना छाता वालों के समुदाय को लक्षणया छत्री कहा गया है। यह अजहत्स्वार्था लक्षणा है। न जहति पदानि स्वार्थं यस्यां सा अर्थात् स्वार्थ का परित्याग न करनेवाली लक्षणा। 'छत्रिण:' पद से यद्यपि छत्रवाले और बिना छत्रवालों का बोध होता है तथापि मुख्य स्वार्थ छत्र का त्याग नहीं होता।

तृतीया जहदजहल्लक्षणा जैसे 'सोयमश्व:'। 'यह वही घोड़ा है'। यहाँ पर 'स:' और 'अयं' पद का विचित्र सम्बन्ध है। स: यह 'तत्' शब्द के प्रथमा विभक्ति के एक वचन का रूप है जो दूरस्थ का परामर्शक है। 'अयं' यह 'इदम्' शब्द के प्रथमा के एक वचन का रूप है। जो समीपस्थ का बोधक है। फिर श्रावणप्रत्यक्षविशिष्ट का तत्पद वाचक है। इसी प्रकार चाक्षुषप्रत्यक्षविशिष्ट इदं पद वाच्य है। इसमें विशेषणांश श्रावणप्रत्यक्ष और चाक्षुषप्रत्यक्ष अंश का परित्याग करके केवल व्यक्ति मात्र का बोध होता है। इसे जहदजहद् लक्षणा कहते हैं। अत: तदर्थ और इदमर्थ के अंश का परित्याग हुआ है और एक अंश का नहीं।

तर्कदीपिका

वाक्यलक्षणमाह - वाक्यमिति। पदलक्षणमाह - शक्तमिति। अर्थस्मृत्यनुकूल: पदपदार्थसंबन्ध: शक्ति:। सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसका:। तन्निरासार्थमाह - अस्मादिति। डित्थादीनामिव घटादीनामपि संकेत एव शक्ति:, न तु पदार्थान्तरमित्यर्थ:॥ गवादिशब्दानां जातावेव शक्ति:, विशेषणतया जाते: प्रथममुपस्थितत्वात्; व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपादिना इति केचित् - तन्न; 'गामानय' इत्यादौ वृद्धव्यवहारात्सर्वत्रानयनादेर्व्यक्तावेव संभवेन जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिकल्पनात्। शक्तिग्रहश्च वृद्धव्यवहारेण। व्युत्पित्सुर्बालो 'गामानय' इत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनं च दृष्ट्वा मध्यमवृद्धप्रवृत्तिजनकज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य 'अश्वमानय, गां बधान' इति वाक्यान्तरे, आवापोद्वापाभ्यां गोपदस्य गोत्वविशिष्टे शक्ति: 'अश्व' शब्दस्याश्वत्वविशिष्टे शक्तिरिति व्युत्पद्यते। ननु सर्वत्र कार्यपरत्वाद् व्यवहारस्य कार्यवाक्य एव व्युत्पत्तिर्न सिद्धे इति चेत् - न; 'काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपति:' इत्यादौ सिद्धेऽपि व्यवहारात्, 'विकसितपद्मे मधूनि पिबति मधुकर:' इत्यादौ प्रसिद्धपदसमभिव्यवहारात्सिद्धेऽपि मधुकरादिपदे व्युत्पत्तिदर्शनाच्च॥ लक्षणापि शब्दवृत्ति:। शक्यसंबंधो लक्षणा। 'गङ्गायां घोष:' इत्यत्र 'गङ्गा' पदवाच्यप्रवाहसंबन्धादेव तीरोपस्थितौ तीरेऽपि शक्तिर्न कल्प्यते। सैन्धवादौ लवणाश्वयो: परस्परसंबन्धाभावान्नानाशक्तिकल्पनम्॥ लक्षणा त्रिविधा-

जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। यत्र वाच्यार्थस्यान्वयाभावस्तत्र जहती। यथा – मञ्चाः क्रोशन्तीति। यत्र वाच्यार्थस्यान्वयस्तत्राजहती। यथा – छत्रिणो गच्छन्तीति। यत्र वाच्यैकदेशत्यागेनैकदेशान्वयस्तत्र जहदजहती। यथा– तत्त्वमसीति। गौण्यपि लक्षणैव लक्ष्यमाणगुणसंबन्धरूपा। यथा – अग्निर्माणवक इति॥ व्यञ्जनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता। अर्थशक्तिमूला चानुमानादिनान्यथासिद्धा॥

तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्। तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्। तात्पर्यज्ञानं च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। नानार्थानुरोधात्तु प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम्। 'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति शब्दाध्याहारः। नन्वर्थज्ञानार्थत्वाच्छब्दस्यार्थमविज्ञाय शब्दाध्याहारासंभवादर्थाध्याहार एव युक्त इति चेत्, – न; पदविशेषजन्य-पदार्थोपस्थितेः शाब्दज्ञानहेतुत्वात्। अन्यथा 'घटः कर्मत्वमानयनं कृतिः' इत्यत्रापि शाब्दज्ञानप्रसङ्गात्॥

पङ्कजादिपदेषु योगरूढिः। अवयवशक्तिर्योगः। समुदायशक्ती रूढिः। नियतपद्मत्वज्ञानार्थं समुदायशक्तिः। अन्यथा कुमुदेऽपि प्रयोगप्रसङ्गः। 'इतरान्विते शक्तिः' इति प्राभाकराः। 'अन्वयस्य वाक्यार्थतया भानसंभवादन्वयांशेऽपि शक्तिर्न कल्पनीया' इति गौतमीयाः॥

वाक्यार्थज्ञाने हेतवः के? किं तेषा लक्षणम्।

८२. आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। तथा च आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम्, आकांक्षाविरहात्। वह्निना सिञ्चतीति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि गामानयेत्यादिपदानि न प्रमाणम्, सान्निध्याभावात्।

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि वाक्यार्थज्ञान में हेतु हैं। एक पद का पदान्तर के न होने के कारण अर्थबोध का अनुभव न होना वह आकांक्षा है। (जैसे 'गामानय' वाक्य में एक गो पद है, दूसरा अम् पद। गो पद का पदान्तर अम्पद के न रहने पर अन्वय बोध नहीं होता और रहने पर होता है। यही गो पद और अम् पद की आकांक्षा है अर्थात् गोपदोत्तर अम्पदत्वरूप आकांक्षा होती है।

किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि आकांक्षा एक अभाव रूप हो जाती है। अतः 'यत् पदस्य यत् पदान्तरप्रयुक्तान्वयबोधाजनकत्वं तत् पदसमभिव्याहृततत्पदत्वमाकांक्षा' इस

प्रकार आकांक्षा का स्वरूप मानना चाहिए। इसके अनुसार जिस पद का जिस पदान्तर के अभाव के कारण अन्वयबोध जनकता नहीं है उस पदान्तर का होना आकांक्षा है यह लक्षण होगा।)

एक पदार्थ का पदार्थान्तर के साथ अन्वयबोध में बाध न होना योग्यता है। अर्थात् एक पदार्थ का पदार्थान्तर के साथ सम्बन्ध को योग्यता कहते हैं।

पदों का अविलम्ब से उच्चारण ही सन्निधि है। इस प्रकार की आकांक्षा योग्यता सन्निधि से रहित वाक्य अप्रमाण है। जैसे 'गौः अश्वः, पुरुषः, हस्ती' ये पदसमूह प्रामाणिक वाक्य नहीं है। क्योंकि इनमें परस्पर आकांक्षा नहीं है। इसी प्रकार वह्नि में सिञ्चन योग्यता के न होने के कारण 'वह्निना सिञ्चति' वाक्य भी प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार यदि गां और आनय पदों के समूह यदि एक प्रहर के बाद अलग-अलग उच्चारित हो तो वाक्य नहीं है क्यों कि सन्निधि नहीं है। एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे पद के उच्चारण में उतना ही विलम्ब सह्य है जितने में श्रोता की बुद्धि विच्छिन्न न हो।

आशा आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि को वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु माना गया है। इनमें से **'आकांक्षा'** वस्तुतः 'श्रोता की जिज्ञासारूप' है। एक पद को सुनने के बाद वाक्य के अन्य पदों के सुने बिना पूरे अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए वाक्य के अगले पद के सुनने की इच्छा श्रोता के मन में उत्पन्न होती है। इसी का नाम आकांक्षा है। जिन पदों के सुनने पर इस प्रकार की आकांक्षा होती है उनके समुदाय को ही वाक्य कहते हैं। आकांक्षा से रहित 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' आदि अनेक पद बोल देने से वाक्य नहीं बनता है।

'योग्यता' पद का अभिप्राय 'पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव' है। जहाँ पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा होती है उस पद-समुदाय को वाक्य नहीं कहा जाता और न उससे वाक्यार्थबोध होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' इस पद-समुदाय में 'योग्यता' नहीं है अर्थात् अग्नि से सिंचाई नहीं की जा सकती है। इसलिए वह्नि तथा सिंचन के सम्बन्ध में बाधा होने से यहाँ योग्यता का अभाव है। इस कारण इसको वाक्य नहीं कहा जा सकता है।

'सन्निधि' पद का अर्थ 'एक ही पुरुष द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण करना' है। यदि एक ही व्यक्ति द्वारा घंटे-घंटे भर बाद में पदों का अलग-अलग उच्चारण किया जाय तो वे सब मिलकर वाक्य नहीं कहला सकते हैं; क्योंकि उनमें 'आसत्ति' या 'सन्निधि' नहीं है। इसलिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त जो पदसमुदाय है वही वाक्य कहलाता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है।

विशेष - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली आदि प्रौढ़ ग्रन्थों में 'तात्पर्यबोध' को भी वाक्यार्थ-ज्ञान में हेतु माना गया है। **वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तिततम्** (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) अर्थात् वक्ता की इच्छा ही है तात्पर्य। इच्छा का कोई न कोई विषय होता है। जब हम कहते हैं कि 'इच्छा है' तो प्रश्न उठता है किस वस्तु की इच्छा है अर्थात् इच्छा का विषय क्या है? यहाँ भी प्रश्न उठता है - 'वक्ता की इच्छा का विषय क्या है?' उत्तर है- वक्ता की इच्छा है 'हमारे द्वारा उक्त वाक्य का ऐसा अर्थ श्रोता समझे' भले ही वक्ता के उच्चरित वाक्य के कई

अर्थ होते हैं। यदि तात्पर्यज्ञान को कारण नहीं माना जायेगा तो जहाँ किसी वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं वहाँ दो में से कौन सा अर्थ ग्राह्य होगा इसका निर्णय न हो सकेगा। उदाहरण के लिये 'सैन्धवम् आनय' यह वाक्य है। चूँकि 'सैन्धव' शब्द के दो अर्थ होते हैं – 'नमक तथा अश्व' अत: 'सैन्धवम् आनय' वाक्य के दो अर्थ – 'नमक लाओ' और 'घोड़ा लाओ' हो जाते हैं। प्रसङ्ग के अनुसार श्रोता वक्ता के तात्पर्य को समझ लेता है और तदनुसार उसे वाक्यार्थबोध होता है। यदि भोजन करते समय वक्ता – 'सैन्धवमानय' कहता है तो श्रोता वक्ता के तात्पर्य को समझ लेता है कि नमक मांगा जा रहा है और वह नमक ले आता है। किन्तु यात्रा के लिये तैयार व्यक्ति जब कहता है 'सैन्धवमानमय' तब श्रोता वक्ता के तात्पर्य को समझ कर घोड़ा ले आता है। अत: तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानना आवश्यक है। यदि तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण न माना जायेगा तो सैन्धव पद से जो कहीं 'अश्व' का बोध होता है और कहीं 'नमक' का बोध होता है, ऐसा न हो सकेगा।

पदकृत्यम्

असम्भववारणाय पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तेति। पुनरसम्भववारणाय पदान्तरेति। अर्थेति। आकाङ्क्षावारणाय अर्थेति। पदानामिति। असहोच्चारिते-ष्वतिव्याप्तिवारणाय अविलम्बेनेति। आकाङ्क्षावारणाय पदानामिति। आकाङ्क्षादिशून्यवाक्यस्यात्र प्रमाणत्वं निषेधति-तथा चेति। आकाङ्क्षादिकं शब्दहेतुरित्युक्ते चेत्यर्थ:। अनाकाङ्क्षाद्युदाहरणं दर्शयति-यथेति।

यदि पदस्यान्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा का लक्षण माना जाये तो असम्भव दोष होगा क्योंकि पद से अन्वय के अनुभव में कोई बाधक नहीं है अत: पदान्तर व्यतिरेकप्रयुक्त: पद है। यदि केवल 'व्यतिरेकप्रयुक्त:' अंश ही निविष्ट किया जाये तो भी असम्भव दोष होगा क्योंकि पद का व्यतिरेक होता नहीं। अत: पदान्तर पद है। यदि अबाध: योग्यता का लक्षण माना जाय तो आकांक्षा में अतिव्याप्ति होगी अत: अर्थ पद है। जिससे अबाध: का अर्थ असम्बन्धभाव परस्पर सम्बन्ध होता है और एक पदार्थ का अपर पदार्थ सम्बन्ध ही योग्यता कही जाती है। जो एक साथ उच्चरित नहीं है उसमें अतिव्याप्तिवारण के लिए अविलम्बेन पद है। आकांक्षा में अतिव्याप्तिवारण के लिए 'पदानाम्' पद है। आकांक्षा योग्यता सन्निधि से शून्य वाक्य प्रमाण नहीं है यह 'तथा च' से कहा गया है। तथा च कहने का तात्पर्य यह है कि आकांक्षा आदि ही शाब्दबोध के कारण हैं। अनाकांक्ष, अयोग्य, असन्निहित का उदाहरण द्वारा प्रदर्शन 'यथा' शब्द से आरम्भ करते हैं।

तर्कदीपिका

आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षादिज्ञानमित्यर्थ:। अन्यथाऽऽकाङ्क्षादि-भ्रमाच्छाब्दभ्रमो न स्यात्। आकाङ्क्षां लक्षयति पदस्येति॥ योग्यतालक्षणमाह अर्थेति॥ संनिधिलक्षणमाह पदानामिति। अविलम्बेन पदार्थोपस्थिति: संनिधि:। उच्चारणं तु तदुपयोगितया युक्तम्॥

गौरश्च इति। 'घटः कर्मत्वम्' इत्यनाकाङ्क्षोदाहरणं द्रष्टव्यम्॥

<u>वाक्यं कतिविधम्?</u>

८३. वाक्यं द्विविधम् वैदिकं लौकिकञ्च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्।

वाक्य दो प्रकार के हैं :- एक वैदिक और दूसरा लौकिक। समस्त वैदिक वाक्य ईश्वर के वचन होने के कारण प्रमाण हैं। लौकिक वाक्य आप्त द्वारा उच्चरित होने पर ही प्रमाण हैं। आप्त द्वारा उच्चरित से भिन्न वाक्य प्रमाण नहीं हैं।

आशा मूल में आप्तवाक्य रूप शब्द प्रमाण के दो भेद किये गये हैं- वैदिक और लौकिक इसी बात को न्याय सूत्रकार गौतम ने इस प्रकार कहा है- **स द्विविधः दृष्टादृष्टार्थत्वात् (१/१/८)** अर्थात् वह प्रमाण रूप शब्द दो प्रकार का है- इस लोक में प्रत्यक्ष होनेवाले विषय वाला तथा परलोक में ज्ञात होने वाले विषय वाला होने के कारण।

भाष्यकार वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या की है कि जिस आप्त वाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ इस लोक में तथा प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से समझा जाता है,वह दृष्टार्थक शब्दप्रमाण है और जिस आप्तवाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ 'इह' लोक में अपर किसी प्रमाण से समझा नहीं जाता है, वह अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण है। जैसे- 'स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत' इत्यादि वेदवाक्य। इस वाक्य का अर्थ यह है कि स्वर्ग की इच्छा करने वाले अधिकारी अश्वमेध यज्ञ करें। अर्थात् अश्वमेध यज्ञ उनके लिये स्वर्ग का साधन है। किन्तु इह लोक में अन्य किसी प्रमाण से अश्वमेध यज्ञ की स्वर्ग साधनता समझी नहीं जाती। स्वर्ग नामक सुख विशेष का भी इह लोक में अनुभव नहीं किया जाता। ऐसे और भी बहुत से तत्त्व हैं जो वेद आदि शास्त्रों से भिन्न किसी प्रमाण से नहीं जाने जा सकते। अतः उन सब विषयों में वेद आदि शास्त्ररूप आप्तवाक्य ही अदृष्टार्थक शब्द प्रमाण है। सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने भी कहा है- **तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्** (सांख्यकारिका ६)।

वेद आदि शास्त्र में दृष्टार्थक वाक्य भी बहुत से हैं और सत्यार्थक बहुत से लौकिक वाक्य भी दृष्टार्थक शब्द प्रमाण हैं। इसी से सर्वत्र ही सत्यवादी विज्ञ व्यक्ति के लौकिक वाक्य को सुनकर तदनुसार लोक व्यवहार चल रहा है। क्योंकि जो व्यक्ति जिस विषय में 'आप्त' है उस विषय में उनका वाक्य ही आप्तवाक्य है। इसलिये भाष्यकार वात्स्यायन ने भी आप्त का लक्षण कहकर बाद में कहा है कि यह आप्तलक्षण ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छों के लिये समान है। अर्थात् चूँकि ऋषियों के वाक्य की तरह अपरापर आर्यगण तथा म्लेच्छगण सत्यार्थक बहुत से लौकिक-वाक्यों से भी जब उन विषयों का यथार्थ शब्दबोध हो रहा है और तदनुसार उनका यथार्थ व्यवहार भी चल रहा है, तब वे भी उन सब विषयों में आप्त हैं। किन्तु अलौकिक विषय में सब व्यक्ति आप्त नहीं हो सकते।

तर्कदीपिका

वाक्यं विभजते - वाक्यमिति। वैदिकस्य विशेषमाह - वैदिकमीश्वरोक्तत्वादिति। ननु वेदस्यानादित्वात्कथमीश्वरोक्तत्वमिति चेत् - न; 'वेदः पौरुषेयो वाक्यसमूहत्वाद् भारतादिवत्' इत्यनुमानेन पौरुषेयत्वसिद्धेः। न च स्मर्यमाणकर्तृत्वमुपाधिः। गौतमादिभिः शिष्यपरंपरया वेदेऽपि कर्तृस्मरणेन साधनव्यापकत्वात्। "तस्मात्तेऽपानात् त्रयो वेदा अजायन्त" इति श्रुतेश्च॥

ननु वर्णा नित्याः, 'स एवायं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाबलात्। तथा च कथं वेदस्यानित्यत्वम्? इति चेत् - न; 'उत्पन्नो गकारः, नष्टो गकारः' इति प्रतीत्या वर्णानामनित्यत्वात् 'सोऽयं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञायाः 'सेयं दीपज्वाला' इतिवत्साजात्यावलम्बनत्वात्, वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्वीविशिष्टवाक्यस्यानित्यत्वाच्च। तस्मादीश्वरोक्तो वेदः॥ मन्वादिस्मृतीनामाचाराणां च वेदमूलकतया प्रामाण्यम्। स्मृतिमूलवाक्यानामिदानीमनध्ययनात्तन्मूलभूता काचिच्छाखोच्छिन्नेति कल्प्यते। ननु पठ्यमानवेदवाक्योत्सादस्य कल्पयितुमशक्यतया विप्रकीर्णवादस्यायुक्तत्वान्नित्यानुमेयो वेदो मूलमिति चेत्, - न; तथापि वर्णानुपूर्वीज्ञाताभावेन बोधकत्वासंभवात्॥

<u>शाब्दज्ञानं किम्?</u>

८४. वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं तु शब्दः।

॥ इति तर्कसंग्रहे शब्दपरिच्छेदः ॥

वाक्यार्थ ज्ञान ही शाब्दज्ञान है उसका करण है शब्द।

आशा वाक्यार्थ ज्ञान को ही शाब्दज्ञान या शाब्दीप्रमा कहते हैं। शाब्दी प्रमा (शाब्दबोध) शब्द से किस प्रकार उत्पन्न होती है? अथवा शब्दों से बने वाक्य को सुनकर हमें वाक्यार्थ का यथार्थ ज्ञान (शाब्दबोध) कैसे होता है? अब हम इस संदर्भ में विचार करते हैं :-हम अग्नि को आँख से प्रत्यक्ष देखकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं कि वस्तुतः यहाँ यह अग्नि है। धूम को देखकर अनुमान के द्वारा भी अग्नि का निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि यहाँ अग्नि अवश्य है। इसी प्रकार किसी यथार्थवेत्ता यथार्थवक्ता व्यक्ति के 'यहाँ अग्नि है' इन शब्दों को सुनकर हमें अग्नि की सत्ता का असन्दिग्ध बोध होता है। ऐसे शाब्दबोध का करण शब्द या पद है। इस संदर्भ में प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में थोड़ा मत भेद है।

नव्यनैयायिकों का कहना है कि शाब्दबोध का करण पद नहीं, प्रत्युत पद-ज्ञान है। विश्वनाथ ने इस प्रकरण को निम्नानुसार स्पष्ट किया है :-

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥ (कारिकावली ८१)

अर्थात् शाब्दबोध में पदज्ञान करण होता है, पदार्थधी (पदार्थोपस्थिति) द्वार (व्यापार) होती है, शाब्दबोध फल होता है और शक्तिधी (शब्दशक्ति का ज्ञान) सहकारि कारण होता है।

कारिका में कहा गया है - 'पदज्ञानं तु करणम्' अर्थात् 'शाब्दबोध' (रूप कार्य) में करण (असाधारण कारण) है 'पदज्ञान'। किन्तु 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' इस करणलक्षण के अनुसार करण को 'व्यापारवान्' होना चाहिए अर्थात् करण (पदज्ञान) एवं कार्य (शाब्दबोध) के बीच में व्यापार होता है। यहाँ व्यापार है 'पदार्थधी' अर्थात् पदार्थज्ञान (पदार्थस्मरण)।

सामान्य रूप से शाब्दबोध-प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिये-मान लिया कि अवन्तिका ने नेहा से कहा - 'पर्वते वह्निः अस्ति'। नेहा ने 'पर्वते' 'वह्नि' एवं 'अस्ति' पदों को सुना। कानों से पदों का सुनना है 'पदज्ञान' और उसी 'पदज्ञान' को (शाब्दबोध में) करण माना जायेगा क्योंकि यदि नेहा इन पदों को न सुनती तो उसे 'पर्वत पर आग है' ऐसा ज्ञान (शाब्दबोध) न होता। अत: पदज्ञान कोा शाब्दबोध का करण माना गया।

परन्तु ध्यातव्य है कि 'पर्वते वह्निः अस्ति' इन पदों को सुन लेने मात्र से शाब्द ज्ञान नहीं होता अपितु पदों को सुनकर उन पदों के अर्थ का स्मरण (पदार्थधी) भी होना आवश्यक है अर्थात् 'पर्वते' पद को सुनकर 'पर्वत' शब्द के अर्थ एवं सप्तमी विभक्ति के अर्थ का स्मरण होना आवश्यक है। इसी प्रकार 'वह्निः' एवं 'अस्ति' पद को सुनकर उनके अर्थ का स्मरण होना आवश्यक है क्योंकि उच्चार्यमाण पदों को सुनकर यदि उनके अर्थों का स्मरण न किया जाये तो वे शब्द-मात्र-रूप (ध्वनिमात्र-रूप) में गृहीत होकर रह जाते हैं अर्थात् यदि उनके अर्थों का स्मरण नहीं किया जाता है तो कैसे पदार्थों को जोड़कर वाक्यार्थ का पूरा बोध किया जा सकेगा? अतएव पदज्ञान के पश्चात् 'पदार्थधी' अर्थात् 'पदों' के अर्थों का स्मरणात्मक ज्ञान होना आवश्यक है। इसी 'पदार्थधी' को कारिका में 'व्यापार' कहा गया है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'पदज्ञान' के पश्चात् प्रयास करने पर भी 'पदार्थधी' उसी व्यक्ति को होगी जो प्रत्येक पद के अर्थ को जानता होगा अर्थात् किस शब्द का क्या अर्थ होता है इसका पूर्व परिचय श्रोता को हुआ रहना चाहिये, अन्यथा पदों को सुनकर अर्थात् 'पदज्ञान' होने पर भी 'पदों के अर्थों का स्मरण' (पदार्थधी) उसे न होगा। जो व्यक्ति संस्कृत भाषा न जानता हो यदि उससे कहा जाये 'यजेत स्वर्गकाम:' तो वह पदों को तो सुनेगा, उसे पदों का ज्ञान (पदज्ञान) तो होगा किन्तु वह 'पदज्ञान' उसके लिये निरर्थक होगा। उन पदों को सुनकर भी उसे पदों के अर्थों का स्मरण न होगा क्योंकि उसे पहले से यह ज्ञात ही नहीं है कि प्रयुक्त किस शब्द का अर्थ क्या है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कौन सा शब्द किस अर्थ का वाचक है अर्थात् वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध का ज्ञान पूर्व में रहना भी श्रोता के लिए आवश्यक है।

वाच्यवाचकसम्बन्धज्ञान को ही 'शक्तिज्ञान' या 'शक्तिधी' कहते हैं क्योंकि पदविशेष की अर्थविशेष में शक्ति (वाच्यता) होती है। 'गो' पद सास्नावान् 'पशुविशेष' अर्थ का ही

बोध कराने में शक्त होता है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक शब्द का अपना अपना अर्थ होता है। प्रत्येक पद की अपने अर्थ में 'शक्ति' होती है जिसका ज्ञान है 'शक्तिज्ञान' (शक्तिधी); इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि शक्तिधी के बिना 'पदार्थधी' नहीं हो सकती, इसीलिए कारिका में कहा गया है- 'तत्र शक्तिधीः सहकारिणी' अर्थात् 'पदार्थधी' में (तत्र) शक्तिधी सहायक है।

पदज्ञान (करण) के पश्चात् शक्तिज्ञान की सहायता से पदार्थधी अर्थात् पृथक्-पृथक् पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों का स्मरण होने पर उन्हें जोड़कर श्रोता को 'पूरे वाक्य के अर्थ का ज्ञान' (शाब्दबोध) हो जाता है। यही शाब्दबोध पदज्ञान-रूप करण का फल है जिसके लिए वक्ता शब्दात्मक वाक्य का प्रयोग करता है- 'शाब्दबोधः फलम्'। करण का फल अवश्य होता है- करणस्य फलवत्त्वनियमात्। पद ज्ञान का फल शाब्दबोध है।

यदि शब्द को शाब्दबोध का करण मानें तो मूक व्यक्ति द्वारा शाब्दबोध नहीं होगा अतः शब्द नहीं, शब्द का ज्ञान ही शाब्दबोध का करण है।

न्याय दर्शन ने प्रत्यक्षादि चार प्रमाण माने हैं परन्तु न्याय के समानतंत्र कहलाने वाले वैशेषिक दर्शन ने केवल दो ही प्रमाण माने हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके अतिरिक्त उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन छहों प्रमाणों का वैशेषिक दर्शन ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है।

शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव समानविधि के कारण किया गया है। जैसे अनुमान में १. व्याप्तिग्रह, २. लिङ्गज्ञान, ३. व्याप्तिस्मृति के बाद, ४. अनुमिति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार शब्द प्रमाण में १. संकेतग्रह, २. वाक्यश्रवण, ३. पदार्थस्मृति के बाद, ४. शाब्दबोध होता है। इसलिए अनुमान तथा शब्द की विधि समान होने से वैशेषिक दर्शन ने शब्द का अनुमान में ही अन्तर्भाव मान लिया है।

वैशेषिक दर्शन ने न केवल शब्द आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में किया है अपितु श्रुति तथा स्मृति रूप आम्नाय को भी अनित्य और 'वक्तृप्रामाण्याधीनप्रामाण्य' माना है। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (प्रशस्तपादभाष्य) और 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वैशेषिकसूत्र १/१/१) इत्यादि से वेद की अनित्यता और परतः प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन ने वेद को मीमांसा के स्वतः प्रामाण्य के स्थान पर 'तद्वचनात् प्रामाण्य' मानकर परतः प्रमाण माना है और न्याय जो शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानता है उसके स्थान पर शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया है।

॥ तर्कसंग्रह के शब्दपरिच्छेद की आशा टीका समाप्त ॥

पदकृत्यम्

नन्वेतावता शाब्दसामग्री प्रपञ्चिता,प्रमाविभाजकवाक्ये शाब्दस्याप्युद्दिष्टत्वेन तत्कुतो न प्रदर्शितमित्यत आह- वाक्यार्थेति। शाब्दत्वं च शब्दात्प्रत्येमीत्यनुभवसिद्धा जातिः।

शाब्दबोधक्रमो यथा- चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामकर्मकगमनानुकूल-वर्तमानकृतिमांश्चैत्र इति शाब्दबोध:। द्वितीयाया: कर्मत्वमर्थ:। धातोर्गमनम्। अनुकूलत्वं च संसर्गमर्यादया भासते। लटो वर्तमानत्वमाख्यातस्य कृति:। तत्सम्बन्ध: संसर्गमर्यादया भासते। रथो गच्छतीत्यत्र गमनानुकूलव्यापारवान् रथ इति शाब्दबोध:। स्नात्वा गच्छतीत्यत्र गगनप्रागभावावच्छिन्नकालीनस्नानकर्ता गमनानुकूलवर्तमानकृतिमानिति शाब्दबोध:। क्त्वाप्रत्ययस्य कर्ता पूर्वकालीनत्वं चार्थ:। एवमन्यत्रापि वाक्यार्थो बोध्य:।

॥ इति पदकृत्ये शब्दपरिच्छेद: ॥

इन वाक्यों के द्वारा शाब्दबोध सामग्री बताई गई। किन्तु प्रमाज्ञान के विभाग के प्रदर्शन के अवसर पर शब्द का भी उल्लेख किया गया है उसका प्रदर्शन क्यों नहीं किया, इस शङ्का का सामाधान करते हैं- वाक्यार्थेति। 'शब्दात् प्रत्येमि' इस अनुभव से सिद्ध शाब्दत्व जाति है।

शाब्दबोध का क्रम इस प्रकार है। जैसे 'चैत्रो ग्रामं गच्छति' में ग्रामकर्मक गमनानुकूल (उत्तरदेश संयोगानुकूल) वर्तमानकालिक कृतिमान् चैत्र यह शाब्द बोध होता है। इस वाक्य में तीन अंश है 'चैत्र:, ग्रामम्, गच्छति' नैयायिकों के मत में प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्द-बोध है। अत: 'ग्रामं गच्छति चैत्र:' इस रूप में वाक्य को समझना चाहिए। ग्रामं में द्वितीया एक वचन की 'अम्' विभक्ति है उसका कर्मत्व अर्थ है, 'गम्' धातु के लट् लकार प्रथम पुरुष के एकवचन में 'गच्छति' पद है। धातु का गमन लट् का वर्तमानत्व, तिप् का कृति अर्थ है। धात्वर्थ गमन और लडर्थ वर्तमानत्व का सम्बन्ध अनुकूलत्व है जो आकांक्षाभास्य है इसे संसर्गमर्यादा भी कहते हैं। लडर्थ और आख्यातार्थ कृति का सम्बन्ध भी संसर्गमर्यादाभास्य है। अत: 'ग्रामकर्मकगमनानुकूलवर्तमानकालिककृतिमान् चैत्र' शाब्दबोध होता है। 'रथो गच्छति' में 'गमनानुकूल व्यापारवान् रथ' शाब्दबोध होता है। कृति चेतन धर्म है अत: अचेतन रथ कृति का आश्रय न होने के कारण आख्यात की व्यापार में लक्षणा करते हैं। स्नात्वा गच्छति में गमनप्रागभावावच्छिन्नकालीन स्नानकर्ता गमनानुकूल वर्तमान कृतिमान् शाब्दबोध होता है। क्त्वा प्रत्यय का कर्ता और पूर्वकालीनत्व दो अर्थ हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

॥ पदकृत्य टीका के हिन्दी भाषा अनुवाद का शब्दपरिच्छेद पूर्ण हुआ॥

तर्कदीपिका

ननु 'एतानि पदानि स्वस्मारितार्थसंसर्गवन्ति आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्ब-कत्वात्, सद्वाक्यवत्' इत्यनुमानादेव संसर्गज्ञानसंभवाच्छब्दो न प्रमाणान्तरमिति चेत्, - न; अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य 'शब्दात् प्रत्येमि' इत्यनु-व्यवसायसाक्षिकस्य सर्वसंमतत्वात॥

नन्वर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरमस्ति, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनमर्थापत्त्या कल्प्यत इति चेत्, - न;

'देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्' इत्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य सिद्धत्वात्। 'शते पञ्चाशत्' इति संभवोऽप्यनुमानमेव। 'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' इत्यैतिह्यमज्ञातमूलवक्तृकः शब्द एव। चेष्टापि शब्दानुमानद्वारा व्यवहारहेतुरिति न मानान्तरम्। तस्मात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाश्चत्वार्येव प्रमाणानि॥

सर्वेषां ज्ञानानां तद्वति तत्प्रकारकत्वं स्वतो ग्राह्यं परतो वेति विचार्यते। तत्र विप्रतिपत्तिः। ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं न वा? अत्र विधिकोटिः स्वतस्त्वम्, निषेधकोटिः परतस्त्वम्॥ अनुमानग्राह्यत्वेन सिद्धसाधनतावारणाय यावदिति। 'इदं ज्ञानमप्रमा' इति ज्ञानेन प्रामाण्यग्रहाद् बाधवारणाय अप्रामाण्याग्राहकेति। 'इदं ज्ञानमप्रमा' इत्यनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्यग्राहकस्याप्रामाण्याग्राहकत्वाभावात्स्वतस्त्वं न स्यादतस्तदिति। तस्मिन्प्रामाण्याश्रयेऽप्रामाण्यग्राहक इत्यर्थः। उदाहृतस्थले व्यवसायेऽप्रामाण्यग्राहकस्याप्यनुव्यवसाये तदग्राहकत्वात्स्वतस्त्वसिद्धिः॥ ननु स्वत एव प्रामाण्यं गृह्यते, 'घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायेन घटघटत्वयोरिव तत्संबन्धस्यापि विषयीकरणात्, व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात्, पुरोवर्तिनि प्रकारसंबन्धस्यैव प्रमात्वपदार्थत्वादिति चेत्, – न; स्वतःप्रामाण्यग्रहे 'जलज्ञानं प्रमा न वा?' इत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्; अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात्। तस्मात्स्वतोग्राह्यत्वाभावात्परतो ग्राह्यत्वम्। तथा हि – प्रथमं जलज्ञानानन्तरं प्रवृत्तौ सत्यां जललाभे सति पूर्वोत्पन्नं 'जलज्ञानं प्रमा, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा प्रमा' इति व्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते। द्वितीयादिज्ञानेषु पूर्वज्ञानदृष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिङ्गेनान्वय-व्यतिरेकिणाऽपि गृह्यते॥

प्रमाया गुणजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्। प्रमाऽसाधारणकारणं गुणः। अप्रमाऽसाधारणकारणं दोषः। तत्र प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसंनिकर्षो गुणः, अनुमितौ व्यापकवति व्याप्यज्ञानम्, उपमितौ यथार्थसादृश्यज्ञानं, शाब्दज्ञाने यथार्थयोग्यताज्ञानम् इत्याद्यूहनीयम्। पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्य व्यवसायेनानुपस्थितत्वादप्रमात्वं परत एव गृह्यते। पित्तादिदोषजन्यत्वादुत्पत्तौ परतस्त्वम्॥

ननु सर्वज्ञानानां यथार्थत्वादयथार्थज्ञानमेव नास्ति। न च 'शुक्ताविदं रजतम्' इति ज्ञानात्प्रवृत्तिदर्शनादन्यथाख्यातिसिद्धिरिति वाच्यम्। रजतस्मृतिपुरोवर्तिज्ञानाभ्यामेव प्रवृत्तिसंभवात्, उपस्थितेष्टभेदाग्रहस्यैव सर्वत्र प्रवर्तकत्वेन 'नेदं रजतम्' इत्यादावतिप्रसङ्गाभावादिति चेत्, – न; सत्यरजतस्थले पुरोवर्तिविशेष्यकरजतत्वप्रकारकज्ञानस्य लाघवेन प्रवृत्तिजनकतया शुक्तावपि रजतार्थिप्रवृत्तिजनकत्वेन विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात्॥

॥ इति तर्कदीपिकायां शब्दपरिच्छेदः॥

अवशिष्ट-परिच्छेदः

अयथार्थनुभवस्य कति भेदाः?

८५. अयथार्थानुभवस्त्रिविधः संशयविपर्ययतर्कभेदात्।

अयथार्थानुभव तीन प्रकार का है :- संशय, विपर्यय, तर्क।

आशा पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थज्ञान अथवा 'प्रमा' कहलाता है और जो पदार्थ जैसा है उसे उससे भिन्न रूप में ग्रहण करना अयथार्थज्ञान या 'अप्रमा' कहलाता है। इस अयथार्थ ज्ञान के संशय, विपर्यय और तर्कज्ञान ये तीन भेद यहाँ मूल में प्रदर्शित किये गये हैं।

पदकृत्यम्

अयथार्थानुभवं विभजते-अयथार्थेति।

अयथार्थानुभव का विभाग करते हैं। अयथार्थेति।

तर्कदीपिका

अयथार्थानुभवं विभजते - अयथार्थेति। स्वप्नस्य मानसविपर्ययरूपत्वान्न त्रैविध्यविरोधः॥

संशयस्य किं लक्षणम्?

८६. एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति।

एक धर्म वाले पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म के सम्बन्ध का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे (एक वस्तु को दूर से देखने पर) ''यह स्थाणु है या पुरुष'' इस प्रकार का ज्ञान संशय है।

आशा संशय का लक्षण है कि एक धर्मी में नाना विरुद्ध धर्मों का ज्ञान। तर्कसंग्रह की दीपिका टीका में अन्नम्भट्ट का कहना है कि **संशय के लिए तीन शर्तें हैं :-** प्रथम तो नाना धर्मों का ज्ञान होना चाहिए, दूसरे वे धर्म परस्पर विरुद्ध होने चाहिएँ और तीसरे ये धर्म एक ही धर्मी में होने चाहिएँ।

संशयात्मक ज्ञान का विवेचन करते हुये **केशव मिश्र ने तर्कभाषा** में इसके तीन भेद बताये हैं :- **प्रथम** - विशेष के अदर्शन होते हुए समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय, **द्वितीय** - विशेषादर्शन होते हुए विप्रतिपत्ति से उत्पन्न संशय और **तृतीय** - विशेषादर्शन होते हुए साधारणधर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय।

उनमें से **प्रथम संशय** - विशेषादर्शन होने पर समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न होता है। इसका उदाहरण जैसे 'यह स्थाणु है या पुरुष'। सामने स्थित एक लम्बे और ऊँचे द्रव्य में स्थाणुत्व के निश्चायक टेढ़ी-मेढ़ी कोटर आदि अथवा पुरुषत्व के निश्चय कराने वाले सिर-हाथ अवयवों को न देखने वाले और उसी द्रव्य में स्थाणु और पुरुष के समान धर्म, ऊँचाई आदि को देखने वाले पुरुष को उस पदार्थ के विषय में संशय होता है कि 'यह स्थाणु (वृक्ष का ठूंठ) है अथवा पुरुष'। इनमें विशेष धर्म वक्रता, कोटर आदि अथवा कर-चरणादि का दिखाई न देना और समान धर्म आरोह, लम्बाई, चौड़ाई आदि का दिखाई देना ही संशय का कारण है। विशेषादर्शन तीनों प्रकार के संशयों का कारण है।

द्वितीय संशय - विशेष का अदर्शन होते हुए 'विप्रतिपत्ति' अर्थात् विपरीत ज्ञान या विविध ज्ञान होना है (विपरीता विविधा वा प्रतिपत्तिः विप्रतिप्रत्तिः)। एक ही पदार्थ के विषय में व्यक्तियों का विपरीत अथवा विविध प्रकार का ज्ञान 'विप्रतिपत्ति' कहलाता है। इस विप्रतिपत्ति से उत्पन्न संशय का उदाहरण जैसे 'शब्द नित्य है अथवा अनित्य'। क्योंकि एक वादी वैयाकरण कहता है कि शब्द नित्य है और दूसरा प्रतिवादी नैयायिक कहता है कि शब्द अनित्य है। उन दोनों की 'विप्रतिपत्ति' से नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक विशेष हेतु को न देख सकने वाले पुरुष को संशय हो जाता है कि 'यह शब्द नित्य है अथवा अनित्य।'

तृतीय संशय - विशेषादर्शन होने पर असाधारणधर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय का उदाहरण यथा- नित्य और अनित्य दोनों से पृथक् रहने वाले केवल पृथिवी के असाधारण धर्म गन्धवत्त्व से, नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के निश्चायक विशेष धर्म को न जानने वाले पुरुष को पृथिवी के विषय में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व का संशय हो जाता है। जैसे कि आकाश आदि 'समस्त नित्य पदार्थों में न रहने वाले गन्धवत्व के योग से क्या पृथिवी अनित्य है अथवा जल अग्नि आदि किसी अनित्य पदार्थ में न रहने वाले उसी गन्धवत्व के योग से पृथिवी नित्य है' यह संशय हो जाता है। यह संशय गन्धवत्व रूप असाधारण धर्म के दर्शन से होता है।

न्यायसूत्र तथा उसके **वात्स्यायनभाष्य** में संशय के पांच कारण गिनाए हैं। उनमें उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त 'उपलब्धि की अव्यवस्था' तथा 'अनुपलब्धि की अव्यवस्था' ये दो संशय के कारण और बताये हैं। समान 'धर्म' और 'विप्रतिपत्ति' संशय के ये दोनों कारण

'न्यायसूत्र' तथा 'तर्कभाषा' दोनों ग्रन्थों में समान हैं। 'असाधारण धर्म' के स्थान पर न्यायसूत्र में 'अनेकधर्मोपपत्तेः' कहा है, और वात्स्यायन भाष्य में उसका अर्थ 'समानजातीय-मसमानजातीयञ्चानेकम्' किया है। न्यायसूत्र में संशय का लक्षण इस प्रकार किया गया है- **समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः (१-१-२३)।**

पदकृत्यम्

संशयं लक्षयति एकस्मिन्निति। एकस्मिन्धर्मिणि एकस्मिन्नेव पुरोवर्तिनि पदार्थे विरुद्धा व्यधिकरणा ये नानाधर्माः स्थाणुत्वपुरुषत्वादयस्तेषां वैशिष्ट्यं सम्बन्धः तदवगाहि ज्ञानं संशय इत्यर्थः। घटपटाविति समूहालम्बनज्ञानस्य घटत्वपटत्वरूपविरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहित्वादतिप्रसक्तिवारणाय एकस्मिन्निति। घटः पृथिवीति ज्ञानस्यैकस्मिन्धर्मिणि घटे घटत्वपृथिवीत्वरूपनानाधर्मवैशिष्ट्या-वगाहित्वादतिप्रसङ्गवारणाय विरुद्धेति? पटत्वविरुद्धघटवान् पट इति ज्ञानेऽतिप्रसक्तिवारणाय नानेति।

एक धर्मी अर्थात् एक पूर्ववर्ती पदार्थ में परस्पर विरुद्ध जो अनेक धर्म, उनके वैशिष्ट्य सम्बन्ध का अवगाही ज्ञान संशय है। घटपटौ इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान में घटत्व पटत्व विरुद्ध अनेक धर्म के सम्बन्ध का अवगाही होने पर संशय लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए 'एकस्मिन् धर्मिणि' पद है। घटपटौ ज्ञान में घट या पट में घटत्व या पटत्व का संशय नहीं है। 'घटः पृथ्वी' इस ज्ञान में एक धर्मी घट में घटत्व, और पृथ्वीत्व आदि अनेक धर्मों के होने से संशय लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए विरुद्ध पद है। घट में घटत्व और पृथ्वीत्व दोनों धर्म रहते हैं। वे परस्पर विरुद्ध नहीं है। पटत्व और घटत्ववान् घट ज्ञान में अतिव्याप्तिवारण के लिए नाना पद है। अतः एक धर्मनिष्ठ विशेष्यता निरूपित विरुद्ध नाना धर्म निष्ठ प्रकारताकत्वाभावात् नातिव्याप्ति अर्थात् एक धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्मकत्व न होने से अतिव्याप्ति नहीं होती।

तर्कदीपिका

संशयलक्षणमाह एकस्मिन्निति। 'घटपटौ' इति समूहालम्बनेऽतिव्याप्तिवारणाय एकेति। 'घटो द्रव्यम्' इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय विरुद्धेति। 'पटत्वविरुद्धघटत्ववान्' इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय नानेति॥

<u>विपर्ययस्य किं लक्षणम्?</u>

८७. मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्तौ 'रजतम्' इति।

मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे शुक्ति में रजत का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है।

आशा योगदर्शन में '**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्**' (अर्थात् अतद्रूप में प्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं) यह विपर्यय का लक्षण किया है। जैसे शुक्ति को पड़ी

देखकर कभी-कभी उसकी चमक आदि के कारण उसको रजत समझ लिया जाता है। ऐसी दशा में शुक्ति में जो रजत का ज्ञान होता है वह अतद्रूप अर्थात् अरजत रूप शुक्ति में प्रतिष्ठित होता है। अतएव अतद्रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण उसको मिथ्या ज्ञान अथवा विपर्यय कहते हैं और वह अयथार्थ ज्ञान होता है।

पदकृत्यम्

मिथ्येति। यथार्थज्ञानवारणाय मिथ्येति। अयथार्थवारणाय ज्ञानेति।

यदि विपर्यय के उपर्युक्त लक्षण में मिथ्या पद न हो तो यथार्थ ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी। अतः लक्षण में मिथ्या पद दिया गया है। मिथ्या सर्प आदि (अयथार्थ) में विपर्ययत्व का वारण करने के लिये लक्षण में ज्ञान पद दिया गया है। रज्जुसर्प मिथ्या तो है किन्तु वह ज्ञान नहीं है इसलिये उसका वारण हो गया।

तर्कदीपिका

विपर्ययलक्षणमाह मिथ्येति। तदभाववति तत्प्रकारकनिश्चय इत्यर्थः॥

तर्कस्य किं स्वरूपम्?

८८. व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति।

व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क कहलाता है। जैसे "यदि अग्नि न होता तो धूम भी न होता।" यह ज्ञान तर्क है।

आशा तर्कज्ञान को भी न्याय-वैशेषिक दर्शनों में अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत माना है। इसका कारण यह है कि तर्क भी निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था का नाम है। यह दो व्याप्ति युक्त धर्मों में से व्याप्य के स्वीकार करने से अनिष्ट व्यापक की प्रसक्ति रूप है। जैसे 'यदि यहाँ घड़ा होता तो दिखलाई देता।' इस उदाहरण में 'जो होता है वह दिखलाई देता है' यह व्याप्ति है। इसमें होना व्याप्य है दिखलाई देना व्यापक है। 'यदि यहाँ घड़ा होता' इस व्याप्य को स्वीकार करके, 'तो दिखलाई देता' इस अनिष्ट की प्रसक्ति करना तर्क है। जहाँ घड़ा दिखलाई नहीं देता है वहाँ उसकी प्रसक्ति ही अनिष्ट प्रसञ्जन रूप है।

यह तर्क स्वयं प्रमाण नहीं है किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक अर्थात् समर्थक है। जैसे कि 'यह पर्वत अग्नि युक्त है अथवा अग्नि रहित' इस सन्देह के बाद यदि कोई यह कहे कि 'यह अग्नि रहित होता है' तो 'अग्निरहित होने से धूमरहित भी होना चाहिए' इस प्रकार धूमवान् दिखलाई देनेवाले पर्वत में अनिष्ट अधूमवत्त्व अर्थात् धूम राहित्य की प्रसक्ति की जाती है। यह अनिष्ट प्रसङ्ग 'तर्क' कहा जाता है और यह अनुमान का विषयशोधक होता है। प्रवर्तमान धूमवत्व लिङ्गक अनुमान के विषय साध्य अग्नि का अनुमोदन करता है, अनग्निमत्त्व का निषेध करके। अतः अनुमान का अनुग्राहक होता है।

संशय और तर्क दोनों ज्ञान अनवधारणात्मक हैं परन्तु संशय अनुमान का प्रवर्तक होने से परम्परया और तर्क तत्त्वज्ञान में साक्षादुपयोगी है इसलिए संशय और तर्क एक नहीं है।

पदकृत्यम्

तर्कं लक्षयति व्याप्यारोपेणेति। असम्भववारणाय व्याप्यारोपेणेति। पुनरसम्भववारणाय व्यापकारोप इति। अत्र वह्न्यभावो व्याप्यः धूमाभावो व्यापकः। यद्यपि तर्कस्य विपर्ययात्मकत्वेन पृथग्विभागोऽनुचितः, तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वात् स उदित इति बोध्यम्। स्वप्नस्तु पुरीतद्बहिर्देशान्तर्देशयोः सन्धौ इडानाड्यां वा मनसि स्थितेऽदृष्टविशेषेण धातुदोषेण वा जन्यते। स मानसविपर्ययान्तर्गतः।

तर्क का लक्षण कहते हैं। व्याप्येति। व्याप्य के अतिरिक्त किसी अन्य के आरोप से व्यापकारोप असंभव होने से लक्षण असंभव हो जायगा, इसलिये असंभवदोष वारण के लिये "व्याप्यारोपेण" यह कहा है। अथवा व्याप्यारोपात्मक निमित्त के बिना भी व्यापकारोप असंभव है, इसलिये "व्याप्यारोपेण" यह निमित्त सूचक तृतीयान्त पद दिया। व्याप्यारोप से व्यापकारोप के सिवा और कुछ होता ही नहीं, अतः किसी अन्य के अभिप्राय से किया गया लक्षण असंभवदोषग्रस्त होगा, इसके वारण के लिये व्यापकारोपपद दिया। यहाँ बह्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक है। (क्योंकि धूमाभाव अयोगोलक में है, वहाँ वह्न्यभाव नहीं है।) यद्यपि तर्क भी अवास्तव होने से विपर्यय ही है, अतः इसका पृथग् विभाग करना अनुचित है, तथापि दूसरे विपर्यय प्रमाण के अनुग्राहक नहीं होते जबकि तर्क प्रमाण का पोषक होता है। इसी विशेषता के कारण इसे पृथक् कहा है। स्वप्न भी यदि अयथार्थ ज्ञान का भेद माना जाये तो उचित नहीं। क्योंकि वह पुरीतत नाड़ी के बाहर और भीतर की सन्धि में अथवा इडा नाड़ी में मन के स्थिर होने पर अदृष्ट विशेष अथवा धातु दोष से उत्पन्न होता है। इस प्रकार इसे मानस विपर्यय मान लेना ही उचित है।

तर्कदीपिका

तर्कं लक्षयति व्याप्येति। यद्यपि तर्को विपर्ययेऽन्तर्भवति तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वाद् भेदेन कीर्तनम्॥

स्मृतिः कतिविधा?

८९. स्मृतिरपि द्विविधा यथार्था अयथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था, अप्रमाजन्या अयथार्था।

स्मृति दो प्रकार की होती है। एक यथार्थ दूसरी अयथार्थ। प्रमाज्ञान से जन्य स्मृति यथार्थ और अप्रमा ज्ञान से जन्य स्मृति अयथार्थ है।

आशा पूर्व में ज्ञान के दो भेद स्मृति और अनुभव बताये गये हैं। इनमें से अनुभव के दो भेदों यथार्थ (प्रमा) और अयथार्थ (अप्रमा) का विवेचन करने के बाद स्मृति का भी उसी प्रकार विभाजन किया गया है। पूर्व विवेचन के अनुसार अनुभव तो यदि बाह्य पदार्थ से मेल खा जाये तो यथार्थ होता है अन्यथा अयथार्थ, जबकि स्मृति की यथार्थता और अयथार्थता मूल अनुभव की यथार्थता और अयथार्थता पर निर्भर करती है। यथार्थानुभव से यथार्थ स्मृति और अयथार्थानुभव से अयथार्थ स्मृति उत्पन्न होती है। इसका कारण यह है कि स्मृति ज्ञान का सीधा साधन नहीं होती। स्मृति प्रायः उस स्थान पर और समय पर भी नहीं होती जहाँ और जब हम उस पदार्थ को देखते हैं। अतः इसके प्रामाण्य का आधार प्रमिति है। जब हम घट आदि को देखते हैं तो उसे छू कर देख सकते हैं कि हमारा ज्ञान सत्य है या नहीं। किन्तु जब हमें घट का स्मरण करते हैं तो उस घट की स्मृति की यथार्थता या अयथार्थता को नहीं जान सकते। इसलिए यहाँ उसकी यथार्थता अन्य प्रकार से ज्ञात होती है। अनुमिति की यथार्थता परामर्श की यथार्थता पर निर्भर है जबकि शाब्दबोध की यथार्थता वाक्य की यथार्थता पर आधारित होती है। इसी प्रकार स्मृति की यथार्थता अनुभव की यथार्थता पर आधृत है।

यहाँ पर बुद्धि नामक गुण का विवेचन समाप्त होता है।

तर्कदीपिका

स्मृतिं विभजते स्मृतिरिति॥

<u>सुखस्य किं लक्षणम्?</u>

९०. सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्।

<u>दुःखस्य किं लक्षणम्?</u>

प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।

<u>इच्छाद्वेषप्रयत्नानां कानि लक्षणानि?</u>

इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिः प्रयत्नः।

<u>धर्मस्य अधर्मस्य च किं लक्षणम्?</u>

विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः।

<u>आत्ममात्रविशेषगुणाः के?</u>

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्ना नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्या जीवस्य।

जो सबको अनुकूल लगे वह सुख है।

जो सबको प्रतिकूल लगे वह दुःख है।

कामनाओं को इच्छा कहते हैं। क्रोध को द्वेष कहते हैं। कृति को प्रयत्न कहते हैं।

वेद विहित कर्म से जन्य गुण को धर्म कहते हैं। वेद से निषिद्ध कर्म से जन्य गुण को अधर्म कहते हैं।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्म और अधर्म ये आठ गुण केवल आत्मा नामक द्रव्य में रहने के कारण आत्मा के विशेष गुण कहलाते हैं। बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ये तीनों नित्य और अनित्य दो प्रकार के होते हैं। ईश्वर के बुद्धि (ज्ञान), इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं तथा जीव के ज्ञान (बुद्धि), इच्छा और प्रयत्न अनित्य हैं।

आशा सुख उसे कहा जाता है जो सबको अनुकूल प्रतीत हो। दुख वह है जो सब को प्रतिकूल प्रतीत हो। सुख और दुःख परस्पर एक दूसरे का अभाव नहीं है और साथ-साथ भी रह सकते हैं। मूलोक्त सुख के लक्षण में जो यह कहा गया है कि 'सबको अनुकूल लगने वाला सुख है' इस संदर्भ में यह आपत्ति दी जा सकती है कि दूसरों के धन आदि को अपहृत कर उसका उपभोग करने पर भी किसी किसी को सुख की अनुभूति होती है परन्तु सज्जन व्यक्ति को इस तरह के उपभोग के ज्ञान मात्र से ही दुःख होता है अतः एक ही विषय एक व्यक्ति के अनुकूल व दूसरे के लिये प्रतिकूल होने से 'सबको अनुकूल लगने वाला सुख है' यह सुख का लक्षण उचित प्रतीत नहीं होता। तर्कसंग्रह के टीकाकार नीलकंठ ने 'सुखत्व' युक्त पदार्थ को सुख कहा है। इसी तरह दुख के संदर्भ में भी समझना चाहिये। सभी पदार्थ सब के लिये सुखकारक या दुखकारक नहीं हो सकते। एक ही पदार्थ किसी के लिये सुखकारक एवं किसी के लिये दुखकारक हो सकता है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति का अनुभव ही प्रमाण है। तर्कसंग्रह की न्यायबोधिनी टीका के अनुसार **इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वम्** अर्थात् सुख स्वयं अपने लिए ही अभीष्ट होता है किसी अन्य पदार्थ की इच्छा के लिए नहीं। आशय यह है कि सुख स्वयं लक्ष्य है, किसी लक्ष्य का साधन नहीं। इसी प्रकार दुख भी स्वयं ही विद्वेष का कारण है, न कि यह किसी अन्य पदार्थ से विद्वेष करता है।

कामनाओं को इच्छा कहा गया है और क्रोध को द्वेष कहते हैं।

प्रयत्न वास्तविक क्रिया नहीं है यह वस्तुतः किसी कार्य को करने के लिए मन की तैयारी और उसका प्रयत्न है। उदाहरणतः हम भोजन करने से पूर्व इसके लिये मानसिक रूप से तैयार होते हैं तो यह मानसिक क्रिया प्रयत्न है और जब हम हाथ, मुख आदि के सहयोग से भोजन करते हैं तो यह शारीरिक क्रिया प्रयत्न न होकर चेष्टा कहलाती है।

धर्म और अधर्म अदृष्ट के ही प्रकार हैं जो सामान्यतः पुण्य और पाप कहलाते हैं। पुण्य वह है जो वेदविहित कार्यों को करने से होता है और पाप वेद में निषिद्ध कर्म करने से होता है। उदाहरणतः - 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' श्रुति की आज्ञा है। अतः ज्योतिष्टोम से पुण्य होगा। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' श्रुति का निषेध है, अतः कलञ्ज खाने में पाप होगा। अतएव पूर्व मीमांसा में धर्म क्या है? इसके उत्तर में "यागादिरेव धर्मः" (अर्थसंग्रहः) अर्थात् याग आदि क्रियाएँ ही धर्म हैं यह कहा गया है। धर्म को और स्पष्ट करते हुये उसका लक्षण "वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः" (अर्थसंग्रहः) अर्थात् 'जो वेद प्रतिपाद्य हो, प्रयोजनवाला हो और अर्थ (इष्ट) हो वह धर्म है', किया गया है। लक्षण में वेदप्रतिपाद्य, प्रयोजनवत् और अर्थ-इन तीनों पदों का साभिप्राय सन्निवेश किया गया है। इन तीनों पदों को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से धर्म के साथ सम्बद्ध कर 'वेदप्रतिपाद्यो धर्मः', 'प्रयोजनवान् धर्मः' कहने से

धर्म की प्रयोजनवत्ता सिद्ध होती है। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रयोजन' धर्म नहीं है, अपितु धर्म ही प्रयोजन वाला है। स्वर्गादि धर्म के प्रयोजन होते हैं और इष्ट भी। अत: प्रयोजन में धर्मलक्षण के अतिव्याप्त हो जाने की सम्भावना को ध्यान में रखकर ही लक्षण में 'प्रयोजनवत्' पद सन्निविष्ट किया गया है। इससे लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ। लक्षण में 'वेदप्रतिपाद्य' पद देने से भोजनादि में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। यद्यपि भोजन तृप्त्यादिरूप प्रयोजन वाला भी है और इष्ट भी है, किन्तु वह राग प्राप्त होने और वेदप्रतिपाद्य अर्थात् विधेयरूप में वेदप्रतिपादित न होने के कारण 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अनर्थफल प्रदान करने वाले अनर्थभूत श्येन आदियज्ञों में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति रोकने के लिए लक्षण में 'अर्थ' (इष्ट) पद रखा गया है। अभिप्राय यह है कि श्येन आदि अभिचार यज्ञ यद्यपि वेदप्रतिपादित हैं और शत्रुमारणरूप प्रयोजन वाले भी हैं, किन्तु 'अर्थ' (इष्ट) नहीं हैं, क्योंकि श्येनादि यज्ञ करने के बाद प्रायश्चित करने का भी विधान पाया जाता है और प्रायश्चित्त करने में दु:ख ही होता है। अत: ये यज्ञ केवल सुख उत्पन्न न कर दु:ख भी उत्पन्न करते हैं। दु:ख प्राप्ति किसी का अर्थ (इष्ट) नहीं हो सकती। अत: अनर्थोत्पादक होने के कारण श्येन-यज्ञ धर्म नहीं हो सकता।

वैशेषिक सूत्र में महर्षि कणाद ने धर्म को निम्नानुसार परिभाषित किया है- "यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि स धर्म:" अर्थात् धर्म वह है जिससे इस जीवन में अभ्युदय और परलोक में नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद के द्वारा प्रतिपादित कर्म करना धर्म है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य को इष्ट की प्राप्ति होती है और वेद द्वारा निषिद्ध कर्म करना अधर्म है जिसके कारण से मनुष्य को अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

बुद्धि से लेकर अधर्म तक आठ एवं भावना नामक संस्कार (कुल नौ) जो गुण हैं वे आत्मा के विशेष गुण हैं, अर्थात् वे केवल आत्मा में ही रहते हैं। इन गुणों में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है अत: ये इसी क्रम से दर्शाये गए हैं। इनमें से प्रत्येक अपने से पूर्ववर्ती का कार्य और परवर्ती का कारण है। समस्त आन्तरिक अनुभवों का बुद्धि मूल है। इनमें सुख और दुख वे हैं जो हमें अभीप्सित हैं तथा अनभीप्सित। सुख और दुख का भाव इच्छा और द्वेष उत्पन्न करते हैं। इच्छा और द्वेष प्रयत्न उत्पन्न करते हैं। अच्छे प्रयत्न से धर्म और बुरे प्रयत्न से क्रमश: अधर्म उत्पन्न होता है। धर्म और अधर्म संस्कार उत्पन्न करते हैं और यही संस्कार जन्म-मरण का कारण माना गया है।

बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न को नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का बताया गया है। नित्य ईश्वर के हैं तथा अनित्य जीव के हैं।

पदकृत्यम्

सुखं निरूपयति सर्वेषामिति। सर्वात्मनामनुकूलमिति वेद्यं यत्तत्सुख-मित्यर्थ:। अहं सुखीत्यनुभवसिद्धसुखत्वजातिमत्, धर्ममात्रासाधारणकारणो गुणो वा सुखम्। शत्रुदु:खवारणाय सर्वेषामिति।

प्रतिकूलेति। दुःखत्वजातिमत्, अधर्ममात्रासाधारणकारणो गुणो वा दुःखम्। पदकृत्यं पूर्ववत्।

इच्छां निरूपयति इच्छेति। काम इति पर्यायः। इच्छात्वजातिमती इच्छा। सा द्विविधा फलेच्छा उपायेच्छा च। फलंसुखादिकम्। उपायो यागादिः। द्वेषं निरूपयति क्रोध इति। द्वेष्टीत्यनुभवसिद्धद्वेषत्वजातिमान् द्विष्टसाधनताज्ञान-जन्यगुणो वा द्वेषः। प्रयत्नं निरूपयति कृतिरति। प्रयत्नत्वजातिमान्प्रयत्नः। स त्रिविधः प्रवृत्तिनिवृत्तिजीवनयोनिभेदात्। इच्छाजन्यो गुणः प्रवृत्तिः। द्वेषजन्यो गुणो निवृत्तिः। जीवनादृष्टजन्यो गुणो जीवनयोनिः। स च प्राणसञ्चारकारणम्।

धर्ममाह विहितेति। वेदविहितेत्यर्थः। अधर्मवारणाय वेदविहितेति। यागादिक्रियावारणाय कर्मजन्य इति। स च कर्मनाशाजलस्पर्शकीर्तनभोगतत्त्व-ज्ञानादिना नश्यति। अधर्मलक्षणमाह निषिद्धेति। वेदनेत्यर्थः। धर्मवारणाय वेदनिषिद्धेति। वेदनिषिद्धक्रियावारणाय कर्मजन्य इति। स च भोगप्रायश्चित्तादिना नश्यति। एतावेव अदृष्टमिति कथ्येते वासनाजन्यौ च। वासना च विलक्षणसंस्कारः।

सुख का निरूपण करते हैं। सर्वेषाम्। समस्त आत्माओं को जो अनुकूल लगे उसे सुख कहते हैं। "अहं सुखी" इस अनुभव से सिद्ध सुखत्व जाति के आश्रय को सुख कहते हैं, अथवा धर्म मात्र के असाधारण कारण गुण को सुख कहते हैं। शत्रु के दुःख में अनुकूल वेदनीयता होने से अतिव्याप्तिवारण के लिए सर्वेषां पद है। शत्रु का दुःख उसके लिए अनुकूल वेदनीय नहीं है।

अहं दुखी इस प्रकार के अनुभव में आने वाली दुःखत्व जाति के आश्रय को दुःख कहते हैं। अथवा अधर्म मात्र के असाधारण कारण गुण को दुःख कहते हैं। सुख भी प्रतिकूल वेदनीय होता है। अतः उसमें दुःख लक्षण की अतिव्याप्तिवारण के लिए सर्वेषां पद देना चाहिए।

इच्छा का निरूपण करते हैं। इच्छेति। इच्छा और काम दोनों पर्याय वाची हैं। इच्छात्व जाति के आश्रय को इच्छा कहते हैं। वह इच्छा दो प्रकार की है। एक फलेच्छा और दूसरी उपायेच्छा। सुख आदि फल हैं। याग आदि उपाय हैं। अर्थात् जिस वस्तु की इच्छा की जाये वह फल है और जिस क्रिया के द्वारा फल प्राप्त हो वह उपाय है।

द्वेष का निरूपण करते हैं। क्रोधेति। "द्वेष्टि" इस अनुभव सिद्ध द्वेषत्व जाति के आश्रय को द्वेष कहते हैं। अथवा किसी वस्तु के सम्बन्ध में 'इदं द्विष्टसाधनम्' इस ज्ञान से उत्पन्न होने वाला जो गुण वह द्वेष है।

प्रयत्न का निरूपण करते हैं कृतिः। प्रयत्नत्व जाति के आश्रय को प्रयत्न कहते हैं। वह तीन प्रकार का है - १. प्रवृत्ति २. निवृत्ति और ३. जीवन योनि। इच्छा से जन्य गुण को प्रवृत्ति कहते हैं। द्वेष जन्य गुण को निवृत्ति कहते हैं तथा जीवनादृष्ट जन्य गुण को जीवन योनि कहते हैं। यही प्राण संचार का कारण है।

धर्म का निरूपण करते हैं- विहितेति। वेद से विहित यह विहित शब्द का अर्थ समझना चाहिए। यदि कर्मजन्य गुण को धर्म कहा जाय तो अधर्म के भी कर्मजन्य होने से अधर्म में अतिव्याप्ति होती है अत: वेदविहित पद है। यागादि कर्मों के वेदविहित होने से उनमें धर्म के लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए कर्मजन्य पद है। वह धर्म कर्मनाशा नदी के जलस्पर्श, कीर्तन, भोग और तत्त्व-ज्ञान से क्षीण होता है। अधर्म का लक्षण कहते हैं निषिद्धेति। वेद से निषिद्ध कर्म को करने से जन्य गुण को अधर्म कहते हैं यह समझना चाहिए। धर्म के लक्षण में अतिव्याप्ति वारण के लिए वेदनिषिद्ध पद दिया है। वेदनिषिद्ध क्रिया में अतिव्याप्तिवारण के लिये कर्म जन्य पद दिया है। वह अधर्म भी भोग और प्रायश्चित के द्वारा नष्ट हो जाता है। धर्म और अधर्म को अदृष्ट भी कहा जाता है और ये वासना से उत्पन्न होते हैं। वासना एक प्रकार का संस्कार मानी गयी है।

तर्कदीपिका

सुखं लक्षयति सर्वेषामिति। 'सुख्यहम्' इत्याद्यनुव्यवसायगम्यं सुखत्वादिकमेव लक्षणम्। यथाश्रुतं तु स्वरूपकथनमिति द्रष्टव्यम्॥

संस्कारः कतिविधः, तद्भेदाश्च किं स्वरूपाः?

९१. संस्कारस्त्रिविधः वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापकः स्थितिस्थापकः, कटादि पृथिवीवृत्तिः।

इति गुणाः।

संस्कार नामक गुण तीन प्रकार का होता है :- (१) वेग, (२) भावना और (३) स्थिति-स्थापक। पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँचों द्रव्यों में वेग नाम का संस्कार रहता है। अनुभव से जन्य और स्मृति के हेतु को भावना कहते हैं। यह भावना नामक संस्कार केवल आत्मा में रहती है। जिस वस्तु को अन्यरूप में बना दिया जाये किन्तु वह जिसके कारण पुन: अपनी पुरानी स्थिति में आ जाये वह कारण स्थितिस्थापक संस्कार माना जाता है। वह संस्कार कट (चटाई), वस्त्र आदि स्वरूप पृथ्वी में रहता है।

आशा 'संस्कार' की मूल में कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। वस्तुत: संस्कार के जो तीन भेद बतलाये गये हैं, वे परस्पर इतने अधिक भिन्न स्वभाव के हैं कि उनमें किसी समान धर्म को खोज पाना कठिन है। पदकृत्य टीका में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है- **सामान्यगुणात्मविशेष-गुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान्** अर्थात् जो आत्मा के सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुणों के अन्तर्गत हो तथा गुणत्व जाति की व्याप्य संस्कारत्व जाति से युक्त हो, वह संस्कार है। गुण दो प्रकार के हैं- सामान्य और विशेष। जो गुण एक समय में एक से अधिक पदार्थों में रहता है वह सामान्य गुण कहलाता है यथा संख्या, और जो गुण

एक समय में एक ही पदार्थ में रहे, वह विशेष गुण होता है जैसे पृथ्वी का गुण गन्ध। किन्तु संस्कार दोनों गुणों में समान है क्योंकि वेग और स्थितिस्थापक सामान्य हैं जबकि भावना विशेष गुण है। तार्किक रक्षा में संस्कार की निम्न परिभाषा बतायी गयी है- **'यज्जातीयः समुत्पाद्यस्तज्जातीयस्य कारणम्। स्वयं यस्माद्विजातीयः संस्कारः स गुणो भवेत्।'** अर्थात् जिस गुण से वह कारण उत्पन्न होता हो, जोकि उसी जाति का हो जिस जाति का कार्य है, यद्यपि वह स्वयं विजातीय होता है, तो वह संस्कार होता है। इसका आशय है कि जब भी कोई गुण या कर्म उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न कर दे, तो वह संस्कार होता है जोकि किसी बाह्य सहायता के बिना आन्तरिक शक्ति से ही यह कार्य करता है।

संस्कार नामक गुण तीन प्रकार का है- १. वेग, २. भावना और ३. स्थितिस्थापक। उनमें से 'वेग' पृथिवी आदि चार और मन में रहने वाला है और वह क्रिया का हेतु होता है। 'भावना' नामक संस्कार केवल आत्मा में रहने वाला, अनुभव से जन्य और स्मृति का हेतु होता है। यह उद्बुद्ध होकर ही स्मृति को उत्पन्न करता है। संस्कार का उद्बोध उसको सहकारी का प्राप्त होना है और संस्कार के सहकारी सदृशदर्शन आदि हैं। जैसा कि कहा है- **सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः** अर्थात् सादृश्य, अदृष्ट और चिंता आदि स्मृति के बीज भूत संस्कार के उद्बोधक हैं।

स्थितिस्थापक संस्कार स्पर्शयुक्त द्रव्य विशेषों में रहने वाला, और खींचने से झुक जाने के कारण अन्यथाभूत अपने आश्रयभूत धनुष आदि को फिर पूर्व अवस्था में लाने वाला होता है।

पदकृत्य टीका का हिन्दी अनुवाद भी द्रष्टव्य है।

पदकृत्यम्

संस्कारं विभजते संस्कार इति। सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्ति-गुणत्वव्याप्यजातिमान् संस्कारः। घटादिवारणाय गुणत्वव्याप्येति। संयोगादिवारणाय आत्मविशेषगुणोभयवृत्तीति। ज्ञानादिवारणाय सामान्येति। द्वितीयादिपतनासमवायि-कारणं वेगः। रूपादिवारणाय द्वितीयादिपतनेति। कालादिवारणाय असमवायीति। भावनां लक्षयति अनुभवेति। आत्मादिवारणाय प्रथमदलम्। अनुभवध्वंसवारणाय द्वितीयदलम्। स्थितिस्थापकमाह अन्यथेति। पृथिवीमात्रसमवेतसंस्कारत्वव्याप्य-जातिमत्त्वं स्थितिस्थापकत्वम्। गन्धत्वमादाय गन्धेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारत्वव्याप्येति। भावनात्वमादाय भावनावारणाय पृथिवीसमवेतेति। स्थितिस्थापकरूपान्यतरत्वमादाय रूपवारणाय जातीति।

इति गुणा इति। द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः। द्रव्यकर्मणो-रतिव्याप्तिवारणाय विशेषणदलम्। सामान्यादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम्। इति गुणाः।

संस्कार का विभाग कहते हैं- संस्कारेति। सामान्य गुण (वेग तथा स्थितिस्थापक) और आत्मा में रहने वाले विशेष गुण (भावना) इन दोनों प्रकार के गुणों में रहने वाले और गुणत्व व्याप्य जाति संस्कारत्व के आश्रय को संस्कार कहते हैं। उभयवृत्ति जाति के आश्रय घट में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'गुणत्वव्याप्य' पद दिया, घटत्व जाति गुणत्वव्याप्य नहीं है (अर्थात् केवल जातिमान् लक्षण करने पर घटत्वजातिमान् घट में अतिव्याप्ति होगी, उसका वारण करने के लिये लक्षण में गुणत्वव्याप्यपर्यन्त निवेश किया है)। सामान्य गुण और गुणत्व व्याप्य संयोगत्व जाति के आश्रय संयोग में अतिव्याप्ति वारण के लिए आत्मविशेषगुणोभयवृत्ति पद दिया है (अर्थात् "सामान्यगुणवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् संस्कार" ऐसा लक्षण करने पर संयोगत्वजाति को लेकर संयोग में अतिव्याप्ति हो जायगी। इसके वारणार्थ 'आत्मविशेष-गुणोभयवृत्ति' पद दिया है।) सामान्य पद न दिया जाये तो आत्मविशेषगुणवृत्ति ज्ञानत्व जाति को लेकर ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसके निवारणार्थ सामान्यपद दिया है। क्योंकि सामान्यगुण और आत्मा का विशेष गुण दोनों में रहनेवाली एकमात्र संस्कारत्व ही जाति है, ज्ञानत्व आदि नहीं।

द्वितीयादि पतन के असमवायिकारण को वेग कहते हैं। (आद्य पतन का असमवायि-कारण तो गुरुत्व है ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है।) यदि असमवायिकारण मात्र को वेग माने तो रूप आदि में अतिव्याप्ति होगी, अत: 'द्वितीयादिपतन' पद दिया है। यदि द्वितीयदि पतन के कारण को वेग मानें तो काल में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि काल तो साधारण कारण है, अत: 'असमवायि' पद दिया है।

भावना का लक्षण कहते हैं - अनुभवेति। स्मृति के हेतु आत्मा में अतिव्याप्तिवारण के लिए 'अनुभवजन्य' यह प्रथम अंश दिया है। अनुभवध्वंस भी अनुभवजन्य है, अत: अनुभवध्वंस में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'स्मृतिहेतु' यह द्वितीय अंश दिया है।

स्थिति-स्थापक को समझाते हैं-अन्यथेति। स्थितिस्थापक का लक्षण है-पृथिवीमात्र में समवायसम्बन्ध से रहता हुआ संस्कारत्वव्याप्यजाति (स्थितिस्थापकत्व) मान् जो हो, उसे स्थितिस्थापक संस्कार कहते हैं। इस लक्षण में "संस्कारत्वव्याप्य" न कहा जाये तो गन्ध में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि गन्ध पृथिवीमात्र में समवेत भी है और गन्धत्वजातिमान् भी है। उक्त विशेषण देने से अतिव्याप्ति नहीं हुई, क्योंकि गन्धत्वजाति संस्कारत्वव्याप्य नहीं है। आत्मा में समवेत भावना में अतिव्याप्तिवारणार्थ 'पृथिवीसमवेत' पद दिया है। स्थितिस्थापकत्व तथा रूपगत अन्यतरत्वधर्म भी संस्कारत्वव्याप्य है, अत: अन्यतरत्वधर्मवाले रूप में भी स्थितिस्थापक का लक्षण चला जायेगा, अत: इसे वारण करने के लिये जाति पद दिया है। (यहाँ अन्यतरत्व जाति नहीं है। यहाँ व्याप्यत्व का अभिप्रेत अर्थ है- न्यूनवृत्तित्व। क्योंकि अनतिरिक्तवृत्तित्वरूप संस्कारत्वव्याप्यत्व उक्त अन्यतरत्व में नहीं जायेगा। कारण, संस्कारत्व से शून्य रूप में रहने वाला अन्यतरत्वधर्म अतिरिक्तवृत्ति होने से व्याप्य नहीं बन सकेगा तथा इसे लेकर अतिव्याप्ति मानना असंगत हो जायेगा)।

द्रव्य और कर्म से भिन्न तथा सामान्य (जाति) के आश्रय को गुण कहते हैं। द्रव्य और कर्म में अतिव्याप्ति वारण के लिए सत्यन्त विशेषण दल दिया है। सामान्य में अतिव्याप्ति कारण के लिए 'सामान्यवान्' यह विशेष्य दल दिया है, क्योंकि सामान्य में सामान्य (जाति) नहीं रहता है।

तर्कदीपिका

संस्कारं विभजते संस्कार इति। संस्कारत्वजातिमान्संस्कारः। वेगस्याश्रयमाह वेग इति। वेगत्वजातिमान्वेगः। भावनां लक्षयति अनुभवेति। आत्मादावतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति। अनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय - स्मृतीति। स्मृतेरपि संस्कारजनकत्वं नवीनैरुक्तम्॥ स्थितिस्थापकं लक्षयति - अन्यथेति॥ संख्यादयोऽष्टौ नैमित्तिकद्रवत्ववेगस्थितिस्थापकाः सामान्यगुणाः। अन्ये रूपादयो विशेषगुणाः। द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्ति-द्रव्यकर्मावृत्ति-जातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम्॥

॥ गुणनिरूपण समाप्त हुआ॥

अथ कर्मादिलक्षणप्रकरणम्

कर्मणः किं लक्षणम्?

९२. चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेश-संयोगहेतुरपक्षेपणम्। शरीरस्य सन्निकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम्। विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्।

चलनात्मक क्रिया को कर्म कहते हैं। जिस क्रिया से किसी द्रव्य का ऊपर की ओर संयोग हो वह क्रिया उत्क्षेपण है। जिस क्रिया से किसी द्रव्य का नीचे की ओर संयोग हो उसे **अपक्षेपण** कहते हैं। जिस क्रिया से कोई द्रव्य शरीर के निकट हो उसे आकुञ्चन (बटोरना) कहते हैं। जिस क्रिया से कोई द्रव्य अपने शरीर से दूर जाये उस क्रिया को **प्रसारण** कहते हैं। इनके अतिरिक्त (चक्कर लगाना, कहीं जाना, तिरछे चलना, बहना, रेचन आदि) जितनी भी क्रियायें हैं उन्हें गमन कहा जाता है।

आशा मूल में कर्म को गति रूप कहा गया है। तर्कसंग्रह की दीपिका टीका में कर्म की परिष्कृत परिभाषा इस प्रकार दी गयी है- **संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म** अर्थात् संयोग से भिन्न होते हुये संयोग के प्रति जो असमवायिकारण हो उसे कर्म कहते हैं। (असमवायिकारण को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है) कर्म संयोग का असमवायिकारण है परन्तु स्वयं संयोग नहीं है। उदाहरणतः यदि हम हाथ से घट का स्पर्श करें तो हाथ की गति हाथ और घट के संयोग का कारण होगी। कभी-कभी एक संयोग भी दूसरे संयोग का असमवायि कारण होता है। उदाहरणतः हाथ से घट का स्पर्श करते समय हाथ और घट का

संयोग शरीर और घट के संयोग का कारण है। अत: परिभाषा में यह कहा गया है कि संयोग का कारण होने पर भी कर्म स्वयं संयोग नहीं होता।

कर्म के पाँच भेद बताये गये हैं- (१) उत्क्षेपणम् - ''ऊर्ध्वदेशसंयोगानुकूला क्रिया'' ऊपर के देश में संयोग करानेवाला कर्म अर्थात् ऊपर को फेंकना, (२) अपक्षेपणम् - ''अध:संयोगानुकूल क्रिया'' अर्थात् नीचे को फेंकना, (३) आकुञ्चनम् - ''प्रसारितस्य संक्षिप्तसम्पादनानुकूला क्रिया'' अर्थात् सिकोड़ना, (४) प्रसारणम् - अर्थात् ''विस्तारकरणम्'' फैला देना, (५) गमनम् - 'उत्तरदेशसंयोगानुकूलो व्यापार:' जो क्रिया उत्तर देश के साथ संयोग (मिलाप) कराती है, उसको गमन कहते हैं। अर्थात् गमन करने के समय पूर्वदेश के साथ संयोग का 'ध्वंस' होना तथा उत्तरदेश के साथ संयोग का होना, अर्थात् जो व्यापार ऐसा संयोग पैदा करावे उसे गमन कहते हैं।

विशेष - भ्रमणम् = इधर-उधर धूमना, रेचनम् = निकलना, स्यन्दनम् = बहना, ऊर्ध्वज्वलनम् = ऊपर की ओर अग्नि का जलना अर्थात् लपट तथा तिर्यग्गमनम् = टेढ़ा चलना, इन 'भ्रमणादिकों' को भी गमन कर्म के अन्तर्गत ही जानना चाहियें। अर्थात् ये एक तरह के गमन ही हैं। यद्यपि उक्तरीति से उत्क्षेपणादि कर्मों का भी गमन में अन्तर्भाव हो सकता है तथापि कणाद मुनि ने वैशेषिक सूत्र में उत्क्षेपणादि पाँच ही प्रकार के 'कर्म' बताये हैं। अत: उनकी शैली का त्याग करना उचित नहीं है। चूँकि सभी कर्म उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते हैं अत: सभी कर्म अनित्य माने गये हैं। जिस जिस मूर्तद्रव्य में जो-जो कर्म उत्पन्न होता है, उस-उस कर्म का वह-वह 'मूर्त द्रव्य' समवायिकारण होता है। वह कर्म चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

पदकृत्यम्

चलनेति। संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म। हस्तपुस्तक-संयोगवारणाय सत्यन्तम्। घटादिवारणाय विशेष्यदलम्। ऊर्ध्वेति। अपक्षेपण-वारणाय ऊर्ध्वेति। कालादिवारणाय असाधारणेत्यपि बोध्यम्। अधोदेशेति। उत्क्षेपणवारणाय अधोदेशेति। कालादिवारणाय असाधारणेत्यपि देयम्। शरीरेति। प्रसारणादिवारणाय सन्निकृष्टेति। कालादिवारणाय असाधारणपदमप्यावश्यकम्।

संयोग से भिन्न और संयोग के असमवायिकारण को कर्म कहते हैं। संयोग के असमवायिकारण हस्त पुस्तक-संयोग में अतिव्याप्तिवारण के लिए विशेषण दल है अर्थात् हस्तपुस्तकसंयोग भी शरीरपुस्तकसंयोग के प्रति असमवायिकारण है। इसमें कर्मलक्षण न जाये, इसके लिये 'संयोगभिन्नत्वे सति' विशेषण दिया है। संयोग से भिन्न घट आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए संयोगासमवायिकारण यह विशेष्य दल है। यदि संयोगहेतुमात्र उत्क्षेपण का लक्षण कहें तो अपक्षेपण में अतिव्याप्ति होगी अत: ऊर्ध्वदेश पद दिया है। ऊर्ध्वदेश संयोग के साधारण कारण काल आदि में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'ऊर्ध्वदेशसंयोगासाधारणकारणम्' लक्षण कहना चाहिए। उत्क्षेपण में अतिव्याप्ति वारण के लिए अपक्षेपण के लक्षण में अधोदेश पद है। अधोदेश संयोग के साधारण कारण काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए

'अधोदेशसंयोगासाधारणकारणमपक्षेपणम्' लक्षण कहना चाहिए। प्रसारण में अतिव्याप्ति वारण के लिए आकुञ्चन के लक्षण में शरीरसन्निकृष्ट पद दिया है। साधारणकारण काल में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'शरीरस्थसन्निकृष्टसंयोगासाधारणकारणमाकुञ्चनम्' लक्षण कहना चाहिए। उत्क्षेपण में अतिव्याप्ति वारण के लिए प्रसारण के लक्षण में विप्रकृष्ट पद दिया है। साधारण काल में अतिव्याप्ति वारण के लिये 'शरीरस्य विप्रकृष्टसंयोगासाधारणकारणम् प्रसारणम्' लक्षण कहना चाहिए।

तर्कदीपिका

कर्मणो लक्षणमाह चलनेति। उत्क्षेपणादीनां कार्यभेदमाह ऊर्ध्वेति। शरीरेति। वक्रत्वसंपादकमाकुञ्चनम्। ऋजुतासंपादकं प्रसारणमित्यर्थः॥

॥ कर्मनिरुपण समाप्त हुआ॥

<u>सामान्यस्य किं लक्षणम्?</u>

९३. नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद् द्विविधम् परापरभेदात्। परं सत्ता, अपरं द्रव्यत्वादि।

जो नित्य और एक होते हुए अनेक में रहे उसे सामान्य (जाति) कहते हैं। वह द्रव्य, गुण, और कर्म में रहती है। सामान्य के परसामान्य और अपरसामान्य नाम के दो भेद हैं। पर सामान्य 'सत्ता' है और अपरसामान्य 'द्रव्यत्व' आदि हैं।

आशा नित्य (नाश रहित) होकर अनेक पदार्थों में समवाय-संबंध से रहने वाले धर्म को 'सामान्य' या 'जाति' कहते हैं। सामान्य के लक्षण में 'नित्य' पद यदि न दें तो 'संयोग', 'विभाग' आदि गुण अनेक पदार्थों में 'समवाय-सम्बन्ध' से रहते हैं, अतः वे भी 'सामान्य' हो जायेंगे। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'सामान्य' के लक्षण में 'नित्य' पद दिया गया है। उसके देने से 'संयोगादि' अनित्य होने के कारण वे 'सामान्य' नहीं कहे जा सकेंगे। 'अनेक' पद लक्षण में न दें तो आकाश का जो 'महत्परिमाण' हैं, वह नित्य है, और वह 'समवाय सम्बन्ध' से आकाश में रहता है। अतः 'आकाशपरिमाण' में 'सामान्य' (जाति) के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। उस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'अनेक' पद दिया गया है। आकाश तो एक ही पदार्थ है, अनेक नहीं। उसमें रहनेवाला 'महत्परिमाण' अनेक पदार्थों में नहीं रहता। अतः लक्षण में 'अनेक' पद के देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। लक्षण में 'समवाय' पद यदि न दें तो 'अत्यन्ताभाव' नित्य है और वह अनेक पदार्थों में भी रहता है। अतः 'अत्यन्ताभाव' में 'सामान्य' के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसलिये 'सामान्य' के लक्षण में 'समवाय' पद दिया गया है। 'अत्यन्ताभाव' समवायसम्बन्ध से कहीं नहीं रहता। 'अत्यान्ताभाव' अपने आश्रय में 'दैशिकविशेषणता' नामक स्वरूपसम्बन्ध से रहता है।

सामान्य अर्थात् जाति अनुवृत्ति प्रत्यय अर्थात् अनुगत प्रतीति का कारण है। अनुगत प्रतीति यथा दस घट व्यक्तियों में होने वाली अयं घटः, अयं घटः इत्याकारक समान प्रतीति। यह जाति द्रव्य, गुण तथा कर्म नामक पदार्थों में रहती है।

इसके मुख्यत: दो भेद हैं- 'परसामान्य' और 'अपरसामान्य' उनमें से व्यापक होने से द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों में रहनेवाली सत्ता जाति 'पर' सामान्य है। यह सत्ता जाति केवल अनुगत प्रतीति का ही कारण है अत: सामान्य ही है कभी भी विशेष नहीं होती है। उस सत्ता जाति से अधिक देश में रहनेवाला और कोई सामान्य नहीं है। द्रव्यादि अन्य सामान्य उसकी अपेक्षा अल्प देश-वृत्ति होने से 'अपर' सामान्य हैं और वे भेदबुद्धि का भी हेतु होने के कारण सामान्य होते हुए भी विशेष होते हैं।

इसको सरल भाषा में इस प्रकार समझा जा सकता है- दस घट व्यक्तियों में 'अयं घट:, अयं घट:' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है। इससे घट में रहने वाले 'घटत्व' सामान्य की सिद्धि होती है। परन्तु वह घट एक पार्थिव पदार्थ है इसलिए उसमें 'पृथिवीत्व' सामान्य भी रहता है। 'घटत्व' सामान्य केवल घट में ही रहता है परन्तु 'पृथिवीत्व' सामान्य घट के अतिरिक्त पट, मठ आदि अन्य पार्थिव पदार्थों में भी रहता है। इसलिए 'पृथिवीत्व' सामान्य 'घटत्व' की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति होने से 'पर' सामान्य कहलाता है। पृथिवी की गणना नौ द्रव्यों में की गई है अत: पृथिवी भी एक द्रव्य है। अन्य द्रव्यों की भांति पृथिवी में भी 'द्रव्यत्व' सामान्य रहता है। पृथिवी में 'पृथिवीत्व' सामान्य भी है और 'द्रव्यत्व' सामान्य भी। इनमें से 'पृथिवीत्व' सामान्य तो केवल पृथिवी में रहता है परन्तु 'द्रव्यत्व' सामान्य पृथिवी के अतिरिक्त जल, वायु, अग्नि आदि अन्य आठ द्रव्यों में भी रहता है। इस प्रकार वह 'पृथिवीत्व' सामान्य की अपेक्षा 'द्रव्यत्व' सामान्य के अधिक देशवृत्ति होने से, 'पर सामान्य' है तथा 'पृथिवीत्व' सामान्य 'द्रव्यत्व' सामान्य की अपेक्षा न्यून देश वृत्ति होने से 'अपर सामान्य' है।

पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में द्रव्यत्व सामान्य के अतिरिक्त 'सत्ता' सामान्य भी रहता है। क्योंकि पृथिवी आदि सभी द्रव्य 'सत्' हैं, अत: उनमें 'सत्ता' सामान्य भी माना जाता है। इस प्रकार द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' सामान्य, तथा 'सत्ता' सामान्य दो सामान्य रहते हैं। इनमें से 'द्रव्यत्व' सामान्य तो केवल नौ द्रव्यों में रहता है परन्तु 'सत्ता' सामान्य नौ द्रव्यों के अतिरिक्त गुण और कर्म में भी रहता है इसलिए 'सत्ता' सामान्य 'द्रव्यत्व' सामान्य की अपेक्षा 'पर सामान्य' है और 'द्रव्यत्व' सामान्य, 'सत्ता' सामान्य की अपेक्षा 'अपर सामान्य' है।

इस प्रकार घट में 'घटत्वसामान्य', 'पृथिवीत्व सामान्य', 'द्रव्यत्व सामान्य', और 'सत्ता सामान्य' ये चार सामान्य रहते हैं। इनमें से 'घटत्व सामान्य' सबसे 'अपर सामान्य' और सत्ता सामान्य सबसे 'पर सामान्य' है। मध्य के 'पृथिवीत्व' और 'द्रव्यत्व' सामान्य में आपेक्षिक 'परत्व' या 'अपरत्व' रहता है। 'पृथिवीत्व' सामान्य 'घटत्व' सामान्य की अपेक्षा 'पर' सामान्य है परन्तु 'द्रव्यत्व' की अपेक्षा 'अपर' सामान्य है। इसी प्रकार 'द्रव्यत्व' सामान्य 'पृथिवीत्व' सामान्य की अपेक्षा 'पर' सामान्य है और 'सत्ता' सामान्य किसी की अपेक्षा 'अपर' नहीं है। इसीलिए सत्ता को 'पर सामान्य' कहा गया है।

सामान्य का कार्य अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार-प्रतीति को उत्पन्न करना है। सत्ता सदैव एकाकार प्रतीति का कारण ही होती है। इसलिए वह सदा 'सामान्य' ही कहलाती

है। 'घटत्व' आदि 'अपर सामान्य' अनुवृत्ति-प्रत्यय के भी कारण होते हैं और भेद बुद्धि को भी उत्पन्न करते हैं। यथा 'घटत्व सामान्य' जहाँ दस घट व्यक्तियों में 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार की एकाकार बुद्धि को पैदा करता है इसलिए सामान्य कहलाता है। वहाँ घट को पट में भिन्न करने वाला भी 'घटत्व' और 'पटत्व' ही है। घट पट से भिन्न इसलिए है कि घट में 'घटत्व' रहता है पट में नहीं। इस प्रकार घटत्व एकाकार प्रतीति का भी कारण होता है और भेद बुद्धि का भी कारण होता है। अतः जब वह 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' अर्थात् एकाकार बुद्धि को उत्पन्न करता है तब वह सामान्य कहलाता है और जब वह भेद-बुद्धि को उत्पन्न करता है तब 'विशेष कहलाता है। 'सत्ता सामान्य' को छोड़कर शेष सब सामान्य ये दोनों काम करते हैं इसलिए वे 'सामान्य' होते हुए 'विशेष' भी कहलाते हैं। परन्तु 'सत्ता सामान्य' तो केवल 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' का ही हेतु होता है अतः वह 'सामान्य' ही है, 'विशेष' नहीं।

तर्कसंग्रह के प्रारम्भ में वैशेषिकदर्शन के जिन द्रव्यादि सात पदार्थों का उल्लेख किया गया है, उनमें प्रथम छः पदार्थ भावात्मक तथा सप्तम पदार्थ अभावात्मक माना गया है। 'सत्तासामान्य' को अत्यन्त 'पर' सामान्य कहा गया है क्योंकि वह अन्य सब की अपेक्षा अधिकदेश में रहता है। वह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में रहता है।

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि जैसे द्रव्य, गुण और कर्म सत् हैं वैसे ही 'सामान्य', 'विशेष' और 'समवाय' ये तीनों पदार्थ भी सत् अर्थात् भावभूत हैं, अतः 'सत्ता-सामान्य' इन तीनों में भी मानना चाहिए। अर्थात् छहों भाव पदार्थों में 'सत्ता-सामान्य' मानना चाहिए उसे केवल द्रव्य आदि त्रयवृत्ति ही क्यों कहा है। इसका उत्तर यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन का तो 'सत्ता सामान्य' के साथ सम्बन्ध है (अर्थात् सत्ता सामान्य समवाय सम्बन्ध से इन तीनों में रहती है) अतः सत् है, परन्तु शेष तीन पदार्थ 'स्वरूपेण सत्' हैं 'सत्ता सामान्य' के योग से सत् नहीं हैं अर्थात् उनमें 'सत्ता' जाति नहीं रहती है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि यदि सत्ता जाति में जाति मानें तो जाति में जाति मानने का सिद्धान्त बन जायेगा और तब 'अनवस्था' दोष होगा। जाति में जाति मानने से 'घटत्व' जाति में 'घटत्वत्व' सामान्य माना जाने लगेगा। इसी प्रकार दस घटत्वत्वों में रहने वाला एक और सामान्य घटत्वत्वत्व मानना पड़ेगा। इस तरह यह परम्परा अनन्त काल तक चलती रहेगी। उसकी कहीं समाप्ति नहीं होगी। यह अनस्था दोष होगा। 'अनवस्था' दोष होने से जाति में जाति रहने का सिद्धान्त नहीं माना जाता। अतएव सामान्य पदार्थ (सप्त पदार्थों में चतुर्थ पदार्थ), जो जाति स्वरूप है उसमें दूसरी जाति या 'सत्ता सामान्य' नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार 'सामान्य' में 'सत्ता' जाति नहीं रहती है यह निष्कर्ष हुआ।

इसी प्रकार 'विशेष' (सप्त पदार्थों में पञ्चम पदार्थ) में भी 'सामान्य' नहीं रहता है। 'विशेष' में यदि 'सामान्य' माना जाये तो उस विशेष का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। विशेष को अन्तिम भेदक धर्म के रूप में माना गया है और उसका स्वरूप ही 'स्वतो व्यावृत्त' है। 'नित्यद्रव्यवृत्तयोव्यावर्तका विशेषाः' यह विशेष पदार्थ का लक्षण किया गया है। नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाले अन्तिम भेदक धर्म को 'विशेष' कहते हैं। प्रत्येक परमाणु आदि

में रहने वाला 'विशेष' एकदम अलग-अलग तथा 'स्वतो व्यावृत्त' होता है। अब यदि उन अलग-अलग विशेषों में 'विशेषत्व' नाम का सामान्य धर्म या जाति मान ली जाये तो फिर 'विशेष' का जो 'स्वतो व्यावृत्त' स्वरूप है वही नष्ट हो जायेगा। अतएव 'विशेष' में 'सामान्य' नहीं माना जाता है। निष्कर्षत: 'विशेष' पदार्थ में भी 'सत्ता' जाति नहीं रहती है।

इसी प्रकार **'समवाय' (सप्त पदार्थों में छठा पदार्थ) में भी 'जाति' (सामान्य) नहीं रहती।** समवाय में 'सामान्य' को न मानने का कारण 'असंबन्ध' है। अर्थात् यदि समवाय में 'समवायत्व' जाति मानें तो चूँकि जाति 'समवाय' सम्बन्ध से ही अपने आश्रय (व्यक्ति) में रहती है अत: समवाय में भी 'समवाय' सम्बन्ध से ही जाति रहेगी। इस कारण 'समवाय' पदार्थ में उससे भिन्न 'समवाय' जाति की स्थिति का निर्वाह कराने वाला एक और 'समवाय' मानना पड़ेगा, जो कि सम्भव नहीं है। इस प्रकार समवाय में समवाय जाति का नियामक कोई सम्बन्ध न बनने से 'समवाय' में जाति नहीं रहती है। अतएव 'समवाय' में 'सत्ता' जाति नहीं रहती है। **इस प्रकार १. 'सामान्य' में जाति मानने से 'अनवस्था', २. 'विशेष' में जाति मानने में 'रूप-हानि', और २. 'समवाय' में जाति मानने में 'असम्बन्ध' दोषों के बाधक होने से इन तीनों पदार्थों में 'सत्ता' अथवा अन्य कोई भी जाति नहीं रहती। अत: ये तीनों 'सत्ता' जाति के सम्बन्ध से 'सत्' नहीं कहलाते अपितु 'स्वरूप सत् हैं।'** जातिबाधक इन हेतुओं को **विश्वनाथन्यायपञ्चानन** ने **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** में निम्न प्रकार उद्धृत किया है-

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थिति:।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह:॥

(१) व्यक्ति का अभेद, (२) तुल्यत्व, (३) संकर, (४) अनवस्था, (५) रूपहानि, और (६) असम्बन्ध, ये छ: जाति के बाधक होते हैं। (१) <u>व्यक्ति का अभेद</u> - आकाश, काल, दिक् इन तीनों में रहनेवाले आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धर्म को 'जाति' शब्द से नहीं कह सकते। क्योंकि इन धर्मों को 'जाति' शब्द से कहने में 'व्यक्ति का अभेद' दोष बाधक होता है। इस दोष का लक्षण **'स्वाश्रयनिष्ठ-स्वाश्रयप्रतियोगिकभेदाभाव: व्यक्त्यभेद:'** है। यहाँ दोनों 'स्व' शब्दों से आकाशत्व आदि का ग्रहण है। आकाश, काल, दिक् ये तीनों एक-एक व्यक्ति हैं, अनेक नहीं। यदि आकाशादि अनेक होते तो एक आकाशादि से दूसरे आकाशादि का भेद सिद्ध होता। उन आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व धर्म में स्व-आश्रयनिष्ठ- स्व-आश्रय-प्रतियोगिक-भेद का अभाव है। इसी को व्यक्ति का अभेद कहते हैं।

(२) <u>तुल्यत्व</u> - अनेक घटों में जैसे अयं घट:, अयं घट: यह अनुगत (एकाकार) प्रतीति होती है, वैसे ही उन्हीं घटों में अयं कलश:, अयं कलश: ऐसी प्रतीति भी होती है, क्योंकि 'घट', 'कलश' दोनों पर्याय शब्द हैं अर्थात् एक ही अर्थ के बोधक हैं। अत: उन घटों में दोनों धर्म सिद्ध होते हैं। परन्तु 'घटत्व' धर्म ही 'जाति' शब्द से कहा जाता है, और 'कलशत्व' धर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। क्योंकि 'कलशत्व' धर्म के जाति कहलाने में 'तुल्यत्व' दोष बाधक है। तुल्यत्व का लक्षण है- **'स्वभिन्नजातिसमनियतत्वं**

तुल्यत्वम्' - यहाँ 'स्व' शब्द से कलशत्व का ग्रहण करना चाहिये। कलशत्व से भिन्न जो घटत्व जाति है, उस घटत्व जाति का समनियतत्व उस 'कलशत्व' धर्म में है। अतः यह 'तुल्यत्व' दोष कलशत्व के जाति कहलाने में बाधक है। घटत्व, कलशत्व ये दो पृथक् जातियाँ नहीं हैं, बल्कि 'घटत्व' ही एक जाति है।

(३) संकर - 'भूतत्व' और मूर्तत्व आदि धर्म को जाति मानने में संकर दोष बाधक है। 'संकर' का लक्षण है- **'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्रसमावेशः संकरः'** अर्थात् परस्पर के अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरण वाले धर्मों का जो एक अधिकरण में रहना है, उसी को 'संकर' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों द्रव्यों में 'भूतत्व' है और पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन इन पाँचों में 'मूर्तत्व' है। 'मन' में 'भूतत्व' धर्म का अत्यन्ताभाव है। अतः 'मूर्तत्व' धर्म 'भूतत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ समान अर्थात् एक अधिकरण वाला है तथा आकाश में 'मूर्तत्व' धर्म का अत्यन्ताभाव है। अतः 'भूतत्व' धर्म 'मूर्तत्व' धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरण वाले जो 'भूतत्व' तथा 'मूर्तत्व' दोनों धर्म हैं, वे दोनों धर्म पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारों में रहते हैं- यही 'संकर' दोष है। अतः भूतत्व-मूर्तत्व दोनों धर्म, 'जातिरूप' नहीं हैं, किन्तु ये 'उपाधि' कहलाते हैं।

(४) अनवस्था - सामान्य में 'सामान्यत्व' जाति नहीं होती है। घट और घटत्व में अर्थात् व्यक्ति और जाति दोनों में एक वैजात्य (पर) की कल्पना करते हैं, उसे ही 'सामान्यत्व' कहते हैं। इसी प्रकार 'सामान्य' तथा 'सामान्यत्व' इन दोनों में सामान्यत्वत्व की कल्पना कर जाति कहेंगे। तो अनेक जातियों की कल्पना करनी होगी, तब अनवस्था दोष होगा, अर्थात् कहीं भी विश्राम नहीं होगा। यदि सामान्य पर दूसरा सामान्य माना जाये तो उस पर भी एक तीसरा, उस पर भी चौथा इस प्रकार उत्तरोत्तर अविश्रान्तधारा चलती रहेगी। इसलिये सामान्य में सामान्यान्तर नहीं माना जाता अन्यथा 'अनवस्था दोष' होगा। तात्पर्य यह है- यह गाय है, यह गाय है इस प्रकार का अनुगत-व्यवहार, किसी अनुगत धर्म के बिना हो नहीं सकता। अतः 'गोत्व' जाति रूप धर्म को माना गया है। उसी तरह- गोत्व, पुरुषत्व, पशुत्व आदि जातियों में 'यह जाति है, यह जाति है' इस 'अनुगतव्यवहार' के लिये सभी जातियों पर एक जातिरूप 'अनुगतधर्म' यदि मानते हैं तो उसके भी जातिरूप होने से पुनः उसमें भी 'यह जाति है', 'यह जाति है' इस प्रकार का व्यवहार चलेगा, तब उसकी उपपत्ति के लिये एक 'अन्य जातिरूप धर्म' मानना होगा। उसके भी जातिरूप होने से पुनः उसमें भी 'यह जाति है', 'यह जाति है' इस प्रकार का व्यवहार चलेगा, तब उसकी उपपत्ति के लिये एक अन्य जाति रूप धर्म की कल्पना करनी होगी, इस तरह मानते चलने पर अनवस्था होगी। अतः कहना होगा कि केवल अनुगतप्रतीति होने मात्र से 'अनुगतधर्म' की कल्पना नहीं की जाती, बल्कि किसी बाधक के न रहने पर ही वैसी कल्पना की जाती है। इसीलिये कहा गया है- **'बाधकाभावविशिष्टानुगतप्रतीतिविशेष्यत्वस्यैव जातिसाधकत्वम्'**।

(५) रूपहानि - हेतु के अधिकरण में साध्य का अभाव होना ही व्यभिचार है। अत: 'विशेषत्व' को जाति नहीं कहा जाता। 'अयं विशेष विशेषान्तरात् भिन्न: विशेषत्वात्'- यहाँ पर विशेषान्तर में 'भेदरूपी साध्य' का अभाव है, किन्तु 'विशेषत्वरूप हेतु' है। अत: यहाँ व्यभिचार है। 'सामान्यशून्यत्वे सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वम्' यह विशेष का लक्षण है। यदि 'विशेष' पदार्थ में विशेषत्वधर्म को जाति माना जाये तो 'सामान्याश्रयस्य सामान्यमुखेनैव व्यावर्तकत्वम्'-इस नियम के अनुसार उस 'विशेषत्वधर्म' के द्वारा ही वह 'विशेषपदार्थ' व्यावर्तक बन पायेगा। किन्तु 'विशेषपदार्थ' तो सामान्य (विशेषत्वधर्म) के द्वारा व्यावर्तक (भेदसाधक) नहीं होता, बल्कि वह तो अपने स्वरूप से ही भेदसाधक होता है। अत: विशेष पदार्थ के स्वरूपनाश तथा लक्षणनाश के भय से अर्थात् रूपहानि के भय से विशेषत्वधर्म को जाति शब्द से नहीं कहा जाता। विशेषत्वधर्म तो उपाधि है।

(६) असम्बन्ध - समवाय में समवायत्वधर्म को तथा अभाव में अभात्वधर्म को भी 'जाति' शब्द से नहीं कहा जाता, क्योंकि असम्बन्ध दोष वहाँ उपस्थित होता है। 'असम्बन्ध' का स्वरूप इस प्रकार है- **'प्रतियोगिताऽनुयोगितान्यतरसम्बन्धेन समवायाऽभाव: असम्बन्ध:'** - प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से जो 'समवाय का अभाव' रहता है, उसे 'असम्बन्ध' कहते हैं। पृथ्वी आदि द्रव्यों में गुण तथा कर्म 'समवाय सम्बन्ध' से रहते हैं। उन गुण तथा कर्म के समवायसम्बन्ध के वे गुण तथा कर्म 'प्रतियोगी' हैं, और पृथ्वी आदि द्रव्य 'अनुयोगी' हैं। अत: वह गुण, कर्म का 'समवाय', प्रतियोगितासम्बन्ध से गुण, कर्म में रहता है, और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से पृथिवी आदि द्रव्यों में रहता है। इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों पदार्थों में जातिरूपसामान्य 'समवायसम्बन्ध' से रहता है। उस सामान्य के 'समवाय' का वह सामान्य 'प्रतियोगी' होता है, और द्रव्य, गुण, कर्म 'अनुयोगी' होते हैं। इसी प्रकार 'तन्तु आदि अवयवों' में 'समवायसम्बन्ध' से रहने वाले जो 'पटादि अवयवी' हैं, उन 'पटादि अवयवियों' का समवाय भी 'प्रतियोगिता सम्बन्ध' से उन पटादिकों में रहता है, और 'अनुयोगिता सम्बन्ध' से तन्तु आदि अवयवों में रहता है। सामान्य और विशेष इन दो पदार्थों में कोई भी पदार्थ 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहता। अत: इनमें समवाय ही - 'प्रतियोगिता सम्बन्ध' से रहता है। परमाणु, आकाशादि नित्यद्रव्य, किसी भी पदार्थ में 'समवाय सम्बन्ध' से नहीं रहते। अत: इनमें 'समवाय स्वयं अनुयोगिता सम्बन्ध' से रहता है। 'समवाय' तथा 'अभाव' ये दोनों किसी भी पदार्थ में 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहते। तथा 'समवाय' और 'अभाव' में कोई दूसरे पदार्थ भी 'समवायसम्बन्ध' से नहीं रहते। इसलिये ये दोनों 'समवाय' के प्रतियोगी तथा अनुयोगी नहीं है। इस रीति से 'समवाय' तथा 'अभाव' में 'प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता सम्बन्ध' से जो समवाय का अभाव है, उसी को 'असम्बन्ध' कहते हैं।

इस प्रकार आकाशत्व, कालत्व, दिकृत्व, भूतत्व, शरीरत्व, इन्द्रियत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, अभावत्व आदि धर्मों को 'जाति' शब्द से न कहकर 'उपाधि' शब्द से कहा जाता है। यह उपाधि सखण्डोपाधि तथा अखण्डोपाधि भेद से दो प्रकार की होती है।

'बहुपदार्थघटितो धर्मः सखण्डोपधिः' – जो धर्म अनेक पदार्थों से घटित रहे उसे **'सखण्डोपाधि'** कहते हैं। जैसे – 'शब्द'-गुण का जो समवायिकारण हो उसे आकाश कहते हैं। अत: 'आकाशत्व' धर्म, 'शब्द समवायि-कारणत्व' इन अनेक पदार्थों से घटित हुआ, इसलिये उपर्युक्त 'आकाशत्व' आदि धर्म 'सखण्डोपाधि' कहे जाते हैं। **'अखण्डोपाधि'** उस धर्म को कहते हैं, जिस धर्म का किसी प्रकार निर्वचन न किया जा सके। जैसे - प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व आदि धर्म।

जातिरूप 'सामान्य' पदार्थ का ग्रहण पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से होता है।

पदकृत्यम्

नित्यमिति। संयोगादिवारणाय नित्यमिति। कालादिपरिमाणवारणाय अनेकेति। अनेकानुगतत्वं च समवायेन बोध्यम्, तेन नात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिः।

यदि अनेक में रहता हो इतना ही सामान्य का लक्षण मानें तो अनेक में रहने के कारण संयोग में अतिव्याप्ति होगी अत: नित्य पद दिया है, क्योंकि संयोग नित्य नहीं होता। यदि नित्य, एक और अनुगत को सामान्य का लक्षण माने तो कालादिपरिमाण में अतिव्याप्ति होगी। अत: अनेक पद दिया है क्योंकि काल तो एक ही पदार्थ है, अनेक नहीं। उसमें रहने वाला 'महत् परिमाण' अनेक पदार्थों में नहीं रहता। अनेकानुगत अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति वारण के लिए समवायेन अनेकानुगत कहना चाहिए। क्योंकि अभाव समवायेन अनेकानुगत नहीं होता किन्तु स्वरूप सम्बन्ध से अनेकानुगत होता है।

तर्कदीपिका

सामान्यं लक्षयति नित्यमिति। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय नित्यमिति। परमाणुपरिमाणादावतिव्याप्तिवारणाय अनेकेति। अनुगतत्वं समवेतत्वम्। घटात्यन्ताभावो घटाद्यनुगतोऽप्यसमवेत इति नाभावादावतिव्याप्तिः॥

॥ सामान्यनिरूपण समाप्त हुआ॥

<u>विशेषाणां किं लक्षणम्?</u>

९४. नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।

जो नित्य द्रव्य में रहे और व्यावर्तक हो उसे विशेष कहते हैं।

आशा नित्यद्रव्य परमाणु आदि में रहने वाले और नित्य तथा अन्तिम भेदक धर्म को विशेष कहा गया है। यह विशेष केवल व्यावृत्ति (भेद) बुद्धि का ही हेतु होता है। यहाँ नित्यद्रव्य से आशय पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त पाँच द्रव्य हैं। जिनमें से पृथिवी, जल, वायु तथा अग्नि का केवल परमाणु रूप ही नित्य है। कार्य रूप पृथिवी आदि अनित्य हैं। इन द्रव्यों में रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म 'विशेष' कहलाता है। ये विशेष असंख्य होते हैं।

घटादि पदार्थों का सजातीय पदार्थों से जो भेद होता है उसकी उपपत्ति साधारणत: अवयव भेद के आधार पर की जाती है। यथा एक घट दूसरे घट से भिन्न क्यों है? इसका उत्तर यह है कि दोनों घट भिन्न अवयवों अर्थात् कपालों से बने हैं। वे कपाल परस्पर भिन्न

क्यों हैं? इसका भी उत्तर वही है कि उनके अवयव अर्थात् कपालिकाएँ भिन्न हैं। फिर कपालिकाओं के भेद के विषय में भी अवयव भेद को ही कारण कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्त में परमाणुओं पर पहुँचते हैं। वहां भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक पार्थिव परमाणु दूसरे पार्थिव परमाणु से भिन्न क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर अवयव भेद से नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि परमाणु के अवयव नहीं होते हैं। अतः परमाणुओं के भेद का उपपादन करने के लिए उनमें 'विशेष' पदार्थ की कल्पना की गई है। इस 'विशेष' के रहने के कारण एक पार्थिव परमाणु, दूसरे पार्थिव परमाणु से भिन्न है।

यहाँ यह प्रश्न भी हो सकता है कि यह 'विशेष' क्यों भिन्न है? इसका उत्तर यह है कि 'विशेष' का स्वरूप ही 'स्वतो-व्यावृत्त' है। उसका भेदक अन्य कोई धर्म नहीं है। यह 'विशेष' ही नित्य द्रव्यों में रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म है। **यह 'विशेष' जिन नित्य द्रव्यों में रह सकता है वे नित्यद्रव्य पृथिवी आदि चार के परमाणु और आकाश कुल पांच हैं।** शेष चार द्रव्यों में से काल और दिक् एक एक ही हैं, अतः उनमें 'विशेष' के मानने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा और मन के भेदक धर्म उनके अपने गुण अदृष्ट, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि हैं इसलिए उनमें भी 'विशेष' को मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः पृथिवी आदि पाँच में ही 'विशेष' की कल्पना की गयी है। चूंकि इस विशेष के आश्रय परमाणु अनन्त होते हैं अतः विशेष भी अनन्त (असंख्य) माने गये हैं।

विशेष में 'विशेषत्व' जाति नहीं रहती, यह सामान्य प्रकरण की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है, जहाँ 'रूपहानि' को जाति-बाधक बताया गया है।

पदकृत्यम्

नित्यद्रव्यवृत्तय इति। घटत्वादिवारणाय नित्यद्रव्यवृत्तय इति। आत्मत्वमनस्त्ववारणाय आत्मत्वमनस्त्वभिन्ना इत्यपि बोध्यम्।

यदि 'व्यावर्तक' को ही विशेष का लक्षण कहें तो घटत्व में भी पटत्व का व्यावर्तक होने से घटत्व में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतः नित्यद्रव्यवृत्तयः पद दिया है क्योंकि घटत्व नित्यद्रव्य वृत्ति नहीं है। आत्मत्व और मनस्त्व में विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए 'नित्यद्रव्यवृत्तित्वे सति आत्मत्वमनस्त्वभिन्नत्वं विशेषत्वम्' यह लक्षण माना जाना चाहिए अर्थात् आत्मत्व मनस्त्व भी नित्यद्रव्यवृत्ति हैं, अतः इनमें विशेष का लक्षण न जाये, इसलिये "आत्मत्व-मनस्त्वभिन्नाः" यह भी विशेष के लक्षण में जोड़ देना चाहिये।

तर्कदीपिका

विशेषं लक्षयति नित्येति॥

॥ विशेष निरूपण समाप्त हुआ ॥

समवायस्य किं लक्षणम्?

९५. नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः। ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथा अवयवा-

वयविनौ गुण-गुणिनौ क्रिया-क्रियावन्तौ जाति-व्यक्ती विशेष-नित्यद्रव्ये चेति।

नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। यह अयुतसिद्ध पदार्थों में रहता है। जिन दोनों के मध्य में से एक अविनष्ट रहते हुए दूसरे के आश्रित ही रहें वे दोनों परस्पर अयुतसिद्ध कहे जाते हैं। जैसे अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्यद्रव्य।

आशा समवाय नामक छठे पदार्थ को नित्यसम्बन्ध के रूप में परिभाषित किया गया है। यह सम्बन्ध अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य होता है। जिन दो पदार्थों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता है वे दोनों पदार्थ परस्पर अयुत सिद्ध कहलाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिन दो पदार्थों में से कोई एक पदार्थ दूसरे के आश्रित ही रहता है अर्थात् जिनको एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता है वे दोनों परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं। और उनका परस्पर सम्बन्ध समवाय होता है। जैसे घट और घट का रूप, इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिए ये दोनों अयुतसिद्ध हैं। इनमें घट गुणी है और रूप उसका गुण। इसलिए यह कहा जा सकता है कि गुण को गुणी से अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव 'गुण और गुणी परस्पर अयुतसिद्ध' हैं, और उनका सम्बन्ध समवाय कहलाता है। इसी प्रकार 'अवयव' और 'अवयवी' अर्थात् तन्तु और पट को अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव दोनों अयुतसिद्ध हैं और उनका सम्बन्ध भी समवाय ही होता है। इसी प्रकार 'क्रिया और क्रियावान्' जैसे क्रियावान् गेंद में लुढ़कने की क्रिया रहती है। उस क्रिया को गेंद से अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव क्रिया और क्रियावान् अयुतसिद्ध हैं और उनका समवाय सम्बन्ध होता है। 'जाति और व्यक्ति' में व्यक्तिरूप गो में रहने वाली गोत्व जाति को गो से अलग नहीं किया जा सकता है अतएव जाति और व्यक्ति भी अयुतसिद्ध हैं और उनका सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। इसी प्रकार परमाणु आदि 'नित्य पदार्थ' और उनमें रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म 'विशेष', ये दोनों भी अयुतसिद्ध हैं क्योंकि 'विशेष' को 'नित्य द्रव्य' परमाणु आदि से अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव 'नित्य द्रव्य और विशेष' दोनों का सम्बन्ध भी समवाय कहलाता है। इस प्रकार १. 'अवयव-अवयवी' २.'गुण-गुणी' ३.'क्रिया-क्रियावान्' ४.'जाति-व्यक्ति' और ५.'नित्यद्रव्य तथा विशेष' इन पाँचों को अयुतसिद्ध में परिगणित किया जाता है और उनका सम्बन्ध समवाय कहलाता है।

इनमें से अन्तिम 'नित्यद्रव्य और विशेष' में से 'विशेष' पदार्थ का विवेचन किया जा चुका है परन्तु विद्यार्थियों को इस विषय में सुगमता हेतु और प्रकारान्तर से सरल भाषा में इसे पुनः स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है :- घटत्व पटत्व आदि एक-एक जाति के अनेक पदार्थ होते हैं। जैसे - घटत्व जाति के दस घट व्यक्ति हैं। उन सब विभिन्न व्यक्तियों में घट:, घट:, इस प्रकार की अनुगत प्रतीति अर्थात् एकाकार प्रतीति होती है। इस एकाकार प्रतीति का कारण घटत्वादि सामान्य है। उसी को 'जाति' कहते हैं। जहाँ जाति अर्थात्

घटत्वादि सामान्य के कारण दस घट व्यक्तियों में 'अयं घट:' 'अयं घट:' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है, वहाँ इसके साथ ही दस घट व्यक्तियों का परस्पर भेद भी प्रतीत होता है। इस भेदप्रतीति का भी कोई कारण होना चाहिए। इसलिए एक घड़ा दूसरे घड़े से क्यों भिन्न है यह प्रश्न हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर कारण भेद अर्थात् अवयव भेद के आधार पर यह दिया जा सकता है कि दोनों घड़े अलग-अलग अवयवों से बने हैं अत: भिन्न हैं। घट के अवयवों को कपाल कहते हैं। चूँकि दोनों घड़ों के कपाल भिन्न भिन्न हैं इसलिए दोनों घड़े भी भिन्न हैं। फिर कपालों के विषय में भी यही प्रश्न उत्पन्न होगा कि वे कपाल एक दूसरे से भिन्न क्यों हैं। इसका उत्तर भी अवयव भेद के आधार पर दिया जा सकता है कि उन दोनों कपालों के अवयव अर्थात् कपालिकाएँ भिन्न हैं, अतएव उन भिन्न कपालिकाओं से बने कपाल भिन्न हैं। इसके बाद जब कपालिकाओं के विषय में यही प्रश्न होगा तो वहाँ भी अवयव भेद की पद्धति से काम चल जायगा। अर्थात् कपालिकाएँ क्यों भिन्न हैं इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि उनका निर्माण भिन्न अवयवों अर्थात् भिन्न-भिन्न क्षुद्र कपालिकाओं से हुआ है अतएव कपालिकाएँ परस्पर भिन्न हैं। इस प्रक्रिया से घट का विश्लेषण करते-करते हम द्व्यणुक तक पहुँचते हैं। तब द्व्यणुक के विषय में भी वही प्रश्न होता है कि दो द्व्यणुकों में परस्पर भेद क्यों है। इसका उत्तर भी वही होगा कि उनके अवयव अर्थात् परमाणु भिन्न हैं इसलिए भिन्न परमाणुओं से बने हुए द्व्यणुक भी भिन्न हैं। अब यही प्रश्न परमाणु के विषय में उपस्थित होता है कि वे दो परमाणु जो एक दूसरे से भिन्न हैं उसका कारण क्या है। यहाँ अब तक दिए हुए अवयव भेद वाले उत्तर से काम नहीं चलेगा, क्योंकि परमाणु के अवयव नहीं होते। स्थूल पदार्थ का विश्लेषण करते-करते जो सबसे छोटा अन्तिम अवयव है उसको ही परमाणु कहते हैं। उसके आगे और अवयव विभाग नहीं हो सकता है। इसलिए परमाणु के अवयव नहीं होते अपितु परमाणु नित्य हैं। तब इन परमाणुओं में परस्पर भेद के लिए वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' नामक एक पदार्थ की कल्पना की गई है। इसी 'विशेष' नामक पदार्थ के प्रतिपादन के आधार पर इस दर्शन को 'वैशेषिक दर्शन' कहते हैं। एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न इसलिए है कि उनमें रहने वाला 'विशेष' भिन्न-भिन्न है। विशेष का स्वरूप ही 'स्वतो व्यावृत्त' माना गया है, अत: विशेष के भेदक धर्म की कल्पना नहीं की गयी है। इस प्रकार नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म 'विशेष' कहा जाता है। प्रत्येक परमाणु में रहने वाला विशेष एक दूसरे से भिन्न और स्वतो व्यावृत्त ही है इसलिए उसके आगे और कोई भेदक धर्म नहीं है। विशेष अन्तिम भेदक धर्म है और वह नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहता है। परन्तु जैसे जाति को व्यक्ति से या गुण को गुणी से अलग नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार विशेष को नित्य परमाणु आदि से अलग नहीं किया जा सकता है इसलिए नित्य द्रव्य और विशेष ये दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं और उनका सम्बन्ध समवाय कहलाता है।

मूलोक्त अयुतसिद्ध के लक्षण में 'अविनश्यत्' पद के रखने का प्रयोजन यह है कि 'अविनश्यत्' पद न रखने पर इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आ जायेगा। 'लक्ष्यैकदेशा-

वृत्तित्वमव्याप्ति:' अर्थात् जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में न जावे उसे अव्याप्ति दोषग्रस्त कहा जाता है। 'अयुतसिद्ध' के इस लक्षण में से यदि 'अविनश्यत्' पद को हटा कर केवल 'ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ' इतना ही लक्षण किया जाये तो अयुतसिद्ध के जो पाँच भेद अभी प्रदर्शित किए हैं उनमें से पहिले तीनों में यह लक्षण नहीं जा सकेगा। क्योंकि गुण आदि सदा गुणी आदि के आश्रित ही नहीं रहते हैं अपितु एक समय ऐसा भी आता है जब कि गुण, क्रिया तथा अवयवी ये सब निराश्रित हो जाते हैं। इसलिए 'एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते' यह लक्षण उनमें नहीं घट सकता। जाति और व्यक्ति में भी जाति के नित्य होने पर भी व्यक्ति के अनित्य होने से व्यक्ति का नाश होने पर जाति के निराश्रित हो जाने की सम्भावना है। केवल नित्य द्रव्य और विशेष इनमें दोनों के नित्य होने से अयुतसिद्ध का लक्षण घट सकेगा। शेष चार में अव्याप्त हो जायेगा। इस प्रकार लक्ष्यैकदेश में अवृत्ति होने से यह लक्षण अव्याप्त हो जायेगा। इसके निवारण हेतु लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का प्रयोग किया गया है।

घटरूप का कारण घट है इसी प्रकार घट में रहने वाली क्रिया का कारण भी घट है। इस गुण तथा क्रिया के नाश के अन्य तरीकों से अतिरिक्त एक तरीका यह भी है कि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। अर्थात् घट के नाश से घटगत रूप तथा क्रिया आदि का नाश होता है। इस दशा में घट का नाश कारण है और रूपादि गुण तथा क्रिया का नाश कार्य होगा। कारण और कार्य में पौर्वापर्य का होना आवश्यक है। अतएव पहिले घट का नाश होगा तब उसके बाद घटगत रूप अथवा क्रिया का नाश होगा। इसलिए घटनाश और घटगत रूपादि गुण तथा क्रिया के विनाश में कम से कम एक क्षण का अन्तर अवश्य होगा। यह जो एक क्षण का काल है वही गुण तथा क्रिया का 'विनश्यत्ताकाल' है ओर उस काल में गुण तथा क्रियादि निराश्रित हो जाते हैं। जब घट का नाश हो गया और घटगत रूपादि गुण अथवा क्रिया का नाश अगले क्षण में होना है तब उस एक क्षण में रूपादि का कोई आश्रय नहीं है क्योंकि उनका आश्रय भूत घट पहिले क्षण में नष्ट हो चुका है। इसलिए इस क्षण में रूपादि गुण निराश्रित हो जाते हैं। इस क्षण के अगले क्षण में रूपादि गुणों का भी नाश हो जाता है। यह क्षण उनके नाश के अव्यवहित पूर्व का क्षण है। विनाश से अव्यवहित पूर्व का क्षण ही उसका 'विनश्यत्ता काल' कहा जाता है। 'विनश्यत्ता' का अर्थ 'विनाश की कारणसामग्री का सान्निध्य' है। अर्थात् जिस क्षण में विनाश के समग्र कारण उपस्थित हो जायें वही 'विनश्यत्ता काल' है। इसके अगले क्षण में कार्य का विनाश अवश्य हो जायेगा। आश्रयभूत घटादि का नाश ही रूपादि के विनाश की सामग्री का सान्निध्य है। इसलिए इस 'विनश्यत्ता काल' में रूपादि निराश्रय भी रहते हैं। अतएव यदि 'ययोर्मध्ये एकमपराश्रित-मेवावतिष्ठते' यही अयुतसिद्ध का लक्षण रखा जाय तो 'गुण गुणी' क्रिया क्रियावान् और 'अवयव अवयवी' में यह लक्षण नहीं घट सकेगा। क्योंकि गुणादि अपराश्रित ही नहीं अपितु विनश्यत्ता काल में निराश्रित भी रहते हैं। इस दोष के निवारण के लिए ही अयुतसिद्ध के लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का समावेश किया गया है। इसका प्रयोजन यह हुआ कि

अविनश्यदवस्था में जो पराश्रित ही रहे उसको अयुतसिद्ध कहेंगे 'विनश्यताकाल' में पराश्रित होना आवश्यक नहीं है। उस काल में निराश्रित भी रह सकता है। इस प्रकार 'अयुतसिद्ध' के लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का समावेश कर देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है। गुण क्रिया आदि 'विनश्यत्ता काल' में निराश्रित रहते हैं परन्तु अविनश्यत्ता काल में तो अपराश्रित ही रहते हैं।

'समवाय केवल एक ही प्रकार का होता है' इसका विवेचन ग्रन्थ के प्रारम्भ में उद्देश प्रकरण में कर दिया गया है।

पदकृत्यम्

नित्येति। आकाशादिवारणाय सम्बन्ध इति। संयोगवारणाय नित्येति। स्वरूपसम्बन्धवारणाय तद्भिन्न इत्यपि बोध्यम्।

समवाय का केवल 'नित्य: समवाय:' इतना ही लक्षण कहने पर नित्य पदार्थ आकाश आदि में समवाय लक्षण की अतिव्याप्ति होगी अत: लक्षण में सम्बन्धपद दिया है। आकाश नित्य पदार्थ है सम्बन्ध नहीं। यदि 'सम्बन्ध समवाय' इतना ही कहा जाये तो संयोग सम्बन्ध में अतिव्याप्ति होगी, अत: नित्य पद दिया है। संयोग सम्बन्ध सदा अनित्य होता है। स्वरूप सम्बन्ध में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में 'स्वरूपसम्बन्धभिन्नत्वे' सति पद देना चाहिए।

तर्कदीपिका

समवायं लक्षयति नित्येति। संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय नित्येति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय संबन्ध इति। अयुतसिद्धलक्षणमाह ययोरिति। 'नीलो घट:' इति विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणविशेष्यसंबन्धविषया विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीति प्रत्ययवदिति समवायसिद्धि:। अवयवावयविनाविति। द्रव्यसमवायिकारणमवयव:। तज्जन्यद्रव्यमवयवि॥

॥ समवायनिरूपण समाप्त हुआ॥

<u>प्रागभावस्य किं लक्षणम्?</u>

९६. अनादि: सान्त: प्रागभाव:। उत्पत्ते: पूर्वं कार्यस्य।

जो अनादि होते हुए सान्त हो उस अभाव को प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव कार्य की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान रहता है।

आशा उद्देश प्रकरण में अभाव के जिन चार भेदों का उल्लेख किया गया है, उनमें से प्रथम प्रागभाव है। उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का जो अभाव होता है वह '**प्रागभाव**' कहलाता है। जैसे पट की उत्पत्ति के पूर्व तन्तुओं में वर्तमान पट का अभाव। इस उदाहरण में तन्तुओं में पट का अभाव उत्पन्न नहीं हुआ अपितु अनादि काल से तन्तुओं में पट का अभाव है अत: वह अनादि है और अनादि होने पर भी विनाशी है। कार्य के विनाश रूप होने से क्योंकि तन्तु

से जिस क्षण पट उत्पन्न हो जायेगा उसी क्षण तन्तु में पट का प्रागभाव नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार जिस 'अभाव' का जन्म तो न हो तथापि विनाशशील हो वही '**प्रागभाव**' है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु आगे होगी और होने से पहले जिसका अभाव हो, उसी 'अभाव' को 'प्रागभाव' कहते हैं। 'घट' बनने से पहले उसका (घट का) प्रागभाव है। वैसे ही जब तक पुत्र उत्पन्न न होगा, तब तक उसका (पुत्र का) प्रागभाव ही कहा जायेगा। पुत्र के उत्पन्न होने पर वह (अभाव) नष्ट हो जायेगा। घट की उत्पत्ति हो जाने से घट का 'प्रागभाव' नष्ट हो जाता है। इसलिए 'प्रागभाव' विनाशी है। घट का प्रागभाव कब से प्रारम्भ हुआ यह नहीं कहा जा सकता। जब घड़ा बना, उसके पूर्व अनादि काल से उस घट का अभाव था। इसलिए यह 'प्रागभाव' अनादि है।

ध्यातव्य - "जो पदार्थ अनादि हो वह अनन्त होता है और जो सादि हो वह सान्त होता है" यह सामान्य नियम है। परन्तु यह नियम केवल भाव पदार्थों के विषय में ही लागू होता है अभाव के विषय में नहीं। अभाव में तो 'प्रागभाव' अनादि होने पर भी सान्त (अन्तयुक्त, विनाशी) होता है और 'प्रध्वंसाभाव' सादि (जो उत्पन्न होता हो) होने पर भी अनन्त (अन्तरहित) होता है।

पदकृत्यम्

'प्रागभावं लक्षयति' अनादिरिति। घटादिवारणाय प्रथमदलम्। परमाणुवारणाय द्वितीयदलम्। पुनः प्रागभावः कस्मिन् कालेऽस्तीत्यत आह - उत्पत्तेरिति। कार्यस्योत्पत्तेः प्राक् स्वप्रतियोगिसमवायिकरणे वर्तते इत्यर्थः।

प्रागभाव का लक्षण कहते हैं- अनादि इति। यदि प्रागभाव का लक्षण केवल सान्तः अर्थात् नष्ट होने वाला ही कहा जाये तो घट में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि घट भी सान्त है। अतः लक्षण में अनादि पद दिया है। यदि 'अनादिः प्रागभावः' इतना ही कहें तो परमाणु में अतिव्याप्ति होगी, अतः सान्तः पद दिया है। प्रागभाव किस समय विद्यमान रहता है? इसके उत्तर में कहते हैं - घट रूप कार्य का प्रागभाव घट की उत्पत्ति के पूर्व स्वप्रतियोगीभूत जो घट, उसके समवायिकारण में अर्थात् कपाल में रहता है।

तर्कदीपिका

प्रागभावं लक्षयति अनादिरिति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय सान्त इति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय अनादिरिति। प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः प्रतियोगिजनको भविष्यतीति व्यवहारहेतुः प्रागभावः॥

<u>प्रध्वंसाभावस्य किं लक्षणम्?</u>

९७. सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य।

जो उत्पन्न होता हो और नष्ट न होता हो उसे प्रध्वंस कहते हैं। प्रध्वंसाभाव कार्य की उत्पत्ति के अनन्तर उत्पन्न होता है।

आशा ध्वंस रूप जो अभाव है वही ध्वंसाभाव है। जैसे 'घटो ध्वस्तः' यहाँ पर दण्ड से घट के टूटने पर जो घट का अभाव है वही ध्वंसाभाव है। जिस अभाव का जन्म तो है, किन्तु विनाश नहीं है, उसी को ध्वंसाभाव कहते हैं। दण्ड आदि किसी साधन से घट के टूटने पर जो घट का अभाव है, उसे 'ध्यवंसाभाव' कहते हैं। यह अभाव दण्ड आदि साधनों से पैदा होता है, और इस 'अभाव' (ध्वंसाभाव) का पुनः अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि वह (ध्वंसाभाव) अविनाशी और जन्य (उत्पत्तिमान्) है। अविनाशी (नित्य) रहने वाले इस अभाव को 'ध्वंस' के नाम से पुकारा जाता है। यह अभाव उत्पत्तिमान् होने पर भी इस कारण से अविनाशी है, क्योंकि नष्ट हुए कार्य की पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। नष्ट हुये घट की मिट्टी से अथवा उन कपालों से यदि दुबारा घट बनाया भी जाये तो वह दूसरा ही घट होगा। पूर्व विनष्ट घट दुबारा कभी उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए प्रध्वंसाभाव सादि होने पर भी अनन्त होता है।

पदकृत्यम्

ध्वंसं लक्षयति सादिरिति। घटादिवारणाय अनन्त इति। आत्मादिवारणाय सादिरिति। उत्पत्तीति। कार्यस्योत्पत्त्यनन्तरं स्वप्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिरित्यर्थः। स च 'ध्वस्तः' इति प्रत्ययविषयः।

ध्वंस का लक्षण कहते हैं – सादिरिति। लक्षण यदि 'सादिः प्रध्वंसः' इतना ही कहें तो घट आदि कार्यों में अतिव्याप्ति होगी। अतः अनन्त पद दिया है। क्योंकि घट का अन्त होता है, वह अनन्त नहीं है। अनन्त आत्मा में अतिव्याप्ति वारण के लिए सादि पद दिया है। क्योंकि आत्मा सादि नहीं है। कार्य की उत्पत्ति के बाद 'स्वप्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः'। इस प्रतीति का विषय ध्वंस है। ध्वंस स्वप्रतियोगी से जन्य है, स्वप्रतियोगी के समवायिकारण में रहता है और ध्वस्तः इस प्रतीति का विषय है। जैसे 'घटः ध्वस्तः' इसमें प्रतियोगी घट से जन्य है ध्वंस। घट के समवायिकारण कपाल में रहता है और ध्वस्तः इस प्रतीति का विषय भी है।

तर्कदीपिका

प्रध्वंसं लक्षयति सादिरिति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय अनन्त इति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय सादिरिति॥ प्रतियोगिजन्यः प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिर्ध्वस्तव्यवहारहेतुर्ध्वंसः॥

<u>अत्यन्ताभावस्य किं लक्षणम्?</u>

९८. त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा भूतले घटो नास्तीति।

<u>अन्योन्याभावस्य किं लक्षणम्?</u>

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति।

जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अवच्छिन्न हो तथा जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में रहता हो उसे **अत्यन्ताभाव** कहते हैं। जैसे (भूतले घटो नास्ति) भूतल पर घट नहीं है।

जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न (युक्त) हो उसे **अन्योन्याभाव** कहते हैं। जैसे घट पट नहीं है अर्थात् घट का तादात्म्य घट में है पट में नहीं है।

आशा त्रैकालिक और संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे वायु में रूप का अभाव त्रैकालिक अभाव है, और संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव होने से 'अत्यन्ताभाव' है । प्रकारान्तर से जिस 'अभाव' का जन्म तथा विनाश न हों उसी को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो अभाव पहले था और वर्तमान में तथा भविष्यत् में भी रहेगा वही अत्यन्ताभाव है। जैसे - किसी वन्ध्या को पुत्र न हुआ न अब है, और न होगा, ऐसे प्रतीति स्थल में 'तस्याः पुत्रो नास्ति' इस प्रकार के अभाव को - **'अत्यन्ताभाव'** कहते हैं।

'अन्योन्याभाव' के मूलोक्त लक्षण को इस प्रकार भी कह सकते हैं- 'तादाम्य-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्' अन्योन्याभावत्वम्। 'तादाम्य' एक सम्बन्ध-विशेष है। अपने में जो अपना सम्बन्ध है उसी को **'तादाम्य-सम्बन्ध'** कहते हैं। जैसे - घट में घट 'तादात्म्यसम्बन्ध' से रहता है। उसी प्रकार पट आदि में पट आदि भी 'तादात्म्यसम्बन्ध' से रहते हैं। पूर्व में बता चुके हैं कि जिस वस्तु का अभाव होता है वह वस्तु, उस अभाव की **प्रतियोगी** होती है। 'भेदरूप अभाव' का नाम 'अन्योन्याभाव' है। जिस अभाव की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न घट' में भेदरूप है, वह अभाव, 'घट' में नहीं रह सकता, क्योंकि घट में 'घट' तादात्म्यसम्बन्ध से रहता है। अतः तादात्म्यसम्बन्ध से घट में 'घट' का अभाव नहीं रह सकता। क्योंकि 'भाव' और 'अभाव' ये दोनों एक अधिकरण में नहीं रहते हैं। घट से अन्य (भिन्न) पट आदि जितने पदार्थ हैं, उनमें 'घट' का भेदरूप-अभाव रहता है। जिस सम्बन्ध से जो पदार्थ जिस जगह (जहाँ पर) नहीं होता, उसी सम्बन्ध से उसी पदार्थ का अभाव उसी जगह रहता है। 'तज्जन्यप्रतियोगिता' में 'तत्सम्बन्धावच्छिन्न' स्वीकार करना भी उचित है। 'संयोगेन घटो नास्ति' यह कहने पर 'घट' में जो प्रतियोगिता है, वह 'संयोगसम्बन्धावच्छिन्ना' है। उसी प्रकार 'समवायेन घटो नास्ति' कहने पर वही प्रतियोगिता 'समवायसम्बन्धावच्छिन्ना' कहलाती है। किन्तु 'तद्रूपघटो न घटः' यहाँ उक्त नियम नहीं घट सकता, क्योंकि भेद की प्रतियोगिता 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना' है। वह प्रतियोगिता कभी भी अन्यसम्बन्धावच्छिन्ना नहीं होगी। इस प्रकार भेदरूप अभाव से भिन्न अन्य किसी भी अभाव की 'प्रतियोगिता', तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्ना नहीं हो सकती। यदि भेद की प्रतियोगिता,

तादात्म्यसम्बन्ध से भिन्न किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो जाये तो घट में घट का भेद रह सकता है। किन्तु भिन्न-सम्बन्ध से 'घट में घट' नहीं रहता, अपितु उसका अभाव अन्य सम्बन्ध से रह सकता है। घट तो 'तादात्म्यसम्बन्ध' से घट में ही रहता है, घट से भिन्न पट में नहीं रहता। अतएव घट में जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता है, उसका अभाव घट में नहीं रहेगा, अपितु पट आदि में रहेगा। जिस स्थान में जो भेदरूप अभाव है, वही 'अन्योन्याभाव' है। 'अन्योन्य' शब्द का अर्थ है 'परस्पर' । परस्पर का अभाव ही 'अन्योन्याभाव' है।

'अत्यन्ताभाव' और 'अन्योन्याभाव' का भेद –

दोनों ही अभाव त्रैकालिक अभाव होते हैं परन्तु उनमें भेद यह है कि अत्यन्ताभाव तो 'संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक' अभाव होता है और 'अन्योन्याभाव' 'तादात्म्यप्रतियोगिताक' अभाव होता है। जैसे घट पट नहीं है, अर्थात् घट और पट का तादात्म्य या अभेद नहीं है। 'घटः पटो न' यहाँ घट और पट के संयोग सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा रहा है घट और पट का संयोग होने पर भी 'घटः पटो न' यह व्यवहार हो सकता है। इसलिए घट और पट के योग रूप संसर्ग का निषेध करना इसका प्रयोजन नहीं है अपितु उन दोनों के अभेद, ऐक्य, या तादात्म्य का निषेध किया जा रहा है। 'घटः पटो न' का अर्थ 'घटपटयोस्तादात्म्यं न' यह है। अर्थात् तादात्म्य से जो अभाव उसको 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं।

'यस्याभावः स प्रतियोगी अर्थात् जिसका अभाव होता है उसको अभाव का प्रतियोगी कहते हैं' इस नियम से घटाभाव का प्रतियोगी घट और पटाभाव का प्रतियोगी 'पट' है। 'प्रतियोगी' में उस अभाव की प्रतियोगिता रहती है। उस 'प्रतियोगिता' का नियामक कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। जहाँ अभाव रहता है उसको अभाव का अधिकरण या 'अनुयोगी' कहते हैं। 'प्रतियोगी' का अधिकरण या 'अनुयोगी' के साथ जो सम्बन्ध होता है वही उस अभाव का प्रतियोगितानियामक अथवा प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'भूतले घटाभावः' इस प्रतीति में भूतल अधिकरण या 'अनुयोगी' है घट 'प्रतियोगी' है। भूतल और घट का संयोग सम्बन्ध होता है इसलिए भूतल में जो घटाभाव रहता है उसका नियामक अथवा अवच्छेदक सम्बन्ध भी संयोग ही होगा। अतः 'भूतले घटाभावः' या 'भूतले घटो नास्ति' को न्याय की भाषा में 'भूतलानुयोगिक-घटप्रतियोगिक-संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकअभाव' भी कह सकते हैं। यह संयोग एक प्रकार का सम्बन्ध या संसर्ग है इसलिए यह अभाव 'संसर्गाभाव' कहलाता है।

'घटः पटो न' यह 'अन्योऽन्याभाव' का जो उदाहरण दिया है उसमें घट और पट के तादात्म्य का निषेध किया गया है। अतएव यह अभाव 'तादात्म्यप्रतियोगिताक' अभाव है। यह अभाव भी त्रैकालिक अभाव ही है। और 'अत्यन्ताभाव' का लक्षण ही 'त्रैकालि-कोऽभावोत्यन्ताभावः' किया गया है। (अर्थात् त्रैकालिक अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं) **इसलिए 'अत्यन्ताभाव' और 'अन्योन्याभाव' का भेद 'प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध' के आधार पर ही होता है।** 'अन्योऽन्याभाव' में 'प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध'

तादात्म्य होता है और अत्यन्ताभाव में प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध 'तादात्म्य' से भिन्न 'संयोग' या 'समवाय' आदि होता है। 'प्रागभाव', 'प्रध्वंसाभाव' और 'अत्यन्ताभाव' इन तीनों में 'प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध' तादात्म्य से भिन्न संयोगादि संसर्ग ही होता है। इसलिए ये तीनों अभाव 'संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव' होने से '**संसर्गाभाव**' कहलाते हैं। इसके विपरीत 'अन्योऽन्याभाव' में 'प्रतियोगितावच्छेदक-धर्म' 'तादात्म्य' के होने से 'तादात्म्य-प्रतियोगिताक अभाव' को 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं।

पदकृत्यम्

अत्यन्ताभावं च लक्षयति त्रैकालिकेति। त्रैकालिकत्वे सति संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। ध्वंसप्रागभाववारणाय त्रैकालिकेति। भेद-वारणाय संसर्गेत्यादि।

अन्योन्याभावं लक्षयति तादात्म्येति। प्रागभावप्रध्वंसाभाववारणाय तादात्म्येति। अत्यन्ताभाववारणाय तादात्म्यत्वेन सम्बन्धो विशेषणीयः।

अत्यन्ताभाव का लक्षण कहते हैं त्रैकालिकेति। जो त्रैकालिक (भूत, भविष्य और वर्तमान कालिक) हो और जिसकी प्रतियोगिता संसर्ग से अवच्छिन्न हो उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। चूँकि ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न नहीं होती। अतः उनमें अतिव्याप्ति वारण के लिए त्रैकालिक पद दिया है। अन्योन्याभाव (भेद) में अतिव्याप्ति वारण के लिए संसर्ग पद दिया है। यहाँ संसर्ग शब्द का तात्पर्य तादात्म्य से अतिरिक्त संसर्ग के लिए है।

अन्योन्याभाव का लक्षण कहते हैं - तादात्म्येति। प्रागभाव और ध्वंसाभाव में अतिव्याप्ति वारण के लिए तादात्म्य पद है। अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति वारण के लिए सम्बन्ध में तादात्म्य विशेषण लगाना चाहिए।

तर्कदीपिका

अत्यन्ताभावं लक्षयति - त्रैकालिकेति॥ अन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिवारणाय-संसर्गावच्छिन्नेति। ध्वंसप्रागभावयोरतिव्याप्तिवारणाय त्रैकालिकेति॥ अन्योन्याभावं लक्षयति तादात्म्येति। प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिक-योरप्यत्यन्ताभावान्योन्याभावयोर्बहुत्वम्। केवलदेवदत्ताभावात् दण्ड्यभाव इति प्रतीत्या विशिष्टाभावः। 'एकसत्त्वे द्वौ न स्तः' इति प्रतीत्या द्वित्वावच्छिन्नाऽभावः। संयोगसंबन्धेन घटवति समवायसंबन्धेन घटाभावः। तत्तद्घटाभावाद्घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकसामान्याभावश्चातिरिक्तः॥ एवमन्योन्याभावोऽपि। घटत्वावच्छिन्नः पटो नास्तीति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावो नाङ्गीक्रियते। पटे घटत्वं नास्तीति तस्यार्थः। अतिरिक्तत्वे स केवलान्वयी।

सामयिकाभावोऽत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः। घटाभाववति घटानयनेऽत्यन्ताभावस्यान्यत्र गमनाभावेऽप्यप्रतीतेर्घटापसरणे सति प्रतीतेः भूतले घटसंयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरत्यन्ताभावप्रतीतिनियामकत्वं कल्प्यते। घटवति तत्संयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरसत्त्वादत्यन्ताभावस्याप्रतीतिः। घटापसरणे च संयोगध्वंससत्त्वात्प्रतीतिरिति। केवलाधिकरणादेव नास्तीति व्यवहारोपपत्तावभावो न पदार्थान्तरमिति गुरवः, तन्न; अभावानङ्गीकारे कैवल्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अभावाभावो भाव एव नातिरिक्तः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। ध्वंसप्रागभावः प्रागभावध्वंसश्च प्रतियोग्येवेति प्राञ्चः। अभावाभावोऽतिरिक्त एव, तृतीयाभावस्य प्रथमाभावरूपत्वान्नानवस्थेति नवीनाः॥

॥ अभावनिरूपण समाप्त हुआ॥

<u>पदार्थानुपसंहरति</u>

९९. सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्।

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः॥

<u>॥ इति श्रीमहामहोपाध्यायान्नम्भट्टविरचितस्तर्कसंग्रहः समाप्तः ॥</u>

समस्त पदार्थों का यथायोग्य उक्त सात पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेने से सात ही पदार्थ हैं यह सिद्ध होता है।

कणाद और न्याय मतों में बालकों की व्युत्पत्ति की सिद्धि के लिए विद्वान् अन्नम्भट्ट ने तर्कसंग्रह नामक ग्रंथ की रचना की।

महामहोपाध्याय अन्नम्भट्ट विरचित तर्कसंग्रह समाप्त होता है।

आशा जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि गौतम ऋषि प्रणीत शास्त्र को न्याय दर्शन और कणाद प्रणीत शास्त्र को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है। इस ग्रन्थ में दोनों दार्शनिकों के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर संक्षेप में विवेचना की गयी है। गौतम ने न्यायशास्त्रानुसार (१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान सोलह पदार्थ माने हैं। कणाद ने द्रव्य-गुण आदि सात ही पदार्थ माने हैं। अतः दोनों के सिद्धान्तों में अत्यधिक भेद होने की सम्भावना प्रतीत होती है। परन्तु न्याय एवं वैशेषिक दोनों ने एक दूसरे के पदार्थों का अन्तर्भाव अपने अपने पदार्थों में कर लिया है। अतएव ये समानतन्त्र कहलाते हैं। पदार्थों के परस्पर अन्तर्भाव का विवेचन क्रमाङ्क २ की आशा टीका में द्रष्टव्य है।

<u>**॥ तर्कसंग्रह की आशा टीका समाप्त॥**</u>

पदकृत्यम्

पदार्थज्ञानस्य परमप्रयोजनं मोक्ष इत्यामनन्ति। स च आत्यन्तिकैकविंशतिदु:खध्वंस:। आत्यन्तिकत्वं च स्वसमानाधिकरणदु:खप्रागभावासमानकालीनत्वम्। दु:खध्वंसस्येदानीमपि सत्त्वेनास्मदादीनामपि मुक्तत्वापत्तिवारणाय कालीनान्तम्। मुक्त्यात्मकदु:खध्वंसस्यान्यदीयदु:खप्रागभावसमानकालीनत्वाद्वामदेवादीनां मुक्तात्मनामप्यमुक्तत्वप्रसङ्गात्स्वसमानाधिकरणेति प्रागभावविशेषणम्। दु:खानि चैकविंशति: 'शरीरं षडिन्द्रियाणि षड्विषया: षड्बुद्धय: सुखं दु:खं चेति'। दु:खानुषङ्गित्वाच्छरीरादौ गौणदु:खत्वम्। तथा च 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' इति श्रुतेरात्मज्ञानसाधननिदिध्यासनमननसाधनत्वं पदार्थज्ञाने संजाघटीति। एवं च तत्त्वज्ञाने सति शरीरपुत्रादावात्मत्वस्वीयत्वाभिमानरूपमिथ्याज्ञानस्य नाश:, तेन प्रवृत्त्यनुत्पत्ति:, ततस्तत्कालीनशरीरेण कायव्यूहेन वा भोगतत्त्वज्ञानाभ्यां प्रारब्धकर्मणां नाश:, ततो जन्माभाव:।

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विकलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्॥
अभ्यासात्पक्वविज्ञान: कैवल्यं लभते नर:।

इत्यादिवचनात्, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इति श्रुतेश्च, सगुणोपासनाकाशीमरणादेरपि तत्त्वज्ञानद्वारा मुक्तिहेतुत्वम्। अत एव परमेश्वर: काश्यां तारकमुपदिशतीति सारम्।

चक्रे चन्द्रजसिंहो हि पदकृत्यमिदं शुभम्।
परोपकारकरणं माधवो वीक्षतां परम्॥

॥ इति श्रीमद्गुरुदत्तसिंहशिष्यश्रीचन्द्रजसिंहविरचितं पदकृत्यं समाप्तम्॥

पदार्थ ज्ञान का परम प्रयोजन मोक्ष माना जाता है। इन द्रव्यादि सप्तपदार्थों के ज्ञान का परम प्रयोजन मोक्ष है, ऐसा सूत्र-भाष्यादि में कहा गया है। इक्कीस प्रकार के दु:खों का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है। जिस दु:ख के अधिकरण काल में दु:ख का प्रागभाव न रहे उसे आत्यन्तिक कहते हैं। जिस किसी दु:ख के ध्वंस से तो सभी प्राणी युक्त कहे जा सकते हैं। अत: उनमें अतिव्याप्ति वारण के लिए कालीनान्त निवेश किया। (दु:खध्वंस में आत्यन्तिकत्व यह है- स्व = दु:खध्वंस, तत्समानाधिकरण दु:खप्रागभाव अमुक्त में होता है, क्योंकि जो मुक्त नहीं है, उसमें कुछ दु:खों का ध्वंस होने पर भी भावी दु:खों का प्रागभाव रहता है, अत: उसका दु:खध्वंस स्वमानाधिकरण ध्वंस आत्यन्तिक होता है, क्योंकि उसमें भावी दु:ख नहीं होने से वह दु:खध्वंस स्वसमानाधिकरण दु:खप्रागभाव का असमानकालीन होता है)। मुक्ति रूप दु:ख ध्वंस किसी अन्य व्यक्ति के दु:ख प्रागभाव के समान कालीन तो होगा ही तब तो वामदेव प्रभृति मुक्तात्माओं को भी अमुक्तत्व की आपत्ति लग जायेगी। अत: स्वसमानाधिकरण

पद प्रागभाव में विशेषण दिया है। इसका आशय है जिस आत्मा में दुःख ध्वंस काल में पुनः दूसरे दुःख का प्रागभाव न हो। वामदेव आदि मुक्तात्माओं का दुःखध्वंस भी अन्यदीय दुःखप्रागभाव का समानकालीन होने से आत्यन्तिक नहीं हो सकेगा, इस दोष के निवारण के लिये दुःखप्रागभाव में 'स्वसमानाधिकरण' यह विशेषण दिया है अर्थात् वामदेवादि का दुःखध्वंस अपने दुःखप्रागभावकालीन नहीं होने से आत्यन्तिक है। इक्कीस दुःख निम्नलिखित हैं :- शरीर, छः इन्द्रिय, छः विषय, छः बुद्धियां, सुख और दुःख। दुःख की प्राप्ति शरीर से होती है। इसलिए शरीर में गौण (अप्रधान) दुःखत्व है। सुख भी दुःखानुषङ्गी होने से तथा दुःख हेतुभूत राग का जनक होने से दुःख है। इस प्रकार 'आत्मा के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्म-दर्शन की बात भी संघटित होती है। ''आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्मज्ञान का साधन निदिध्यासन एवं मनन भी है तथा यह निदिध्यासन एवं मनन पदार्थ ज्ञान होने पर ही हो सकता है। इसलिये पदार्थ ज्ञान के मोक्ष साधन होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर शरीर में आत्मत्व और पुत्र आदि में अपनत्व का अभिमान रूप मिथ्याज्ञान छूट जाता है। इससे दोष नष्ट होते हैं, दोष नाश से प्रवृत्ति नहीं होती। फिर उस काल के शरीर द्वारा भोग अथवा तत्त्वज्ञान द्वारा प्रारब्ध कर्मों का नाश होता है। संचित और प्रारब्ध कर्मों का क्रमशः तत्त्वज्ञान और भोग के द्वारा नाश हो जाने से पुनर्जन्म नहीं होता। कहा भी है कि ''नित्य संध्यावन्दन आदि तथा नैमित्तिक श्राद्ध, ग्रहणस्नान आदि कर्मों से दुरित (पाप) का क्षय करते हुए और अभ्यास के द्वारा ज्ञान को विमल बनाते हुए पाचन करें। जिस नर का अभ्यास के द्वारा विज्ञान पक्व हो जाता है वह नर कैवल्य मुक्ति प्राप्त करता है।

''उसे (ब्रह्म को) जानकर अतिमृत्यु (मोक्ष) प्राप्त होता है'' इस अर्थवाली श्रुति और अन्यत्र सगुणोपासना तथा काशीमरणादि को मुक्ति का हेतु कहा गया है, किन्तु वह भी तत्त्वज्ञान के द्वारा ही मुक्ति का हेतु है, साक्षात् नहीं। इसलिये काशी में परमेश्वर तारकमन्त्र का उपदेश है। वह तारकमन्त्र तत्त्वज्ञान ही है। यह ही पूरे ग्रन्थ का सार है।

श्री चन्द्रजसिंह ने इस मंगलमय पदकृत्य की रचना एक परोपकार समझकर की है। श्री माधव इसका अवलोकन करें।

॥ पदकृत्य टीका का हिन्दी भाषा-अनुवाद समाप्त हुआ॥

तर्कदीपिका

ननु 'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः' इति न्यायशास्त्रे षोडशपदार्थानामुक्तत्वात्कथं सप्तैवेत्यत आह सर्वेषामिति। सर्वेषां सप्तस्वेवान्तर्भाव इत्यर्थः। 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थ-मनोबुद्धिप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' इति द्वादशविधं प्रमेयम्। प्रवृत्तिर्धर्माधर्मौ। रागद्वेषमोहा दोषाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः। मोहः शरीरा-

दावात्मभ्रमः। प्रेत्यभावो मरणम्। फलं भोगः। अपवर्गो मोक्षः। स च स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः। प्रयोजनं सुखं दुःखहानिश्च। दृष्टान्तो महानसादिः। प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। निर्णयो निश्चयः। स च प्रमाणफलम्। तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनहीना वितण्डा। कथा नाम नानावक्तृकः पूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसंदर्भः। अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम्। असदुत्तरं जातिः। साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्याकार्यसमा जातयः। वादिनोऽपजयहेतुर्निग्रहस्थानम्। प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम् निरर्थकम्, अविज्ञातार्थकम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालं, न्यूनम्, अधिकं, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभाविक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि। शेषं सुगमम्॥

ननु करतलानलसंयोगे सत्यपि प्रतिबन्धके सति दाहानुत्पत्तेः शक्तिः पदार्थान्तरमिति चेत्, न; प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे कारणत्वेन शक्तेरनुपयोगात् कारणस्यैव शक्तिपदार्थत्वात्। ननु भस्मादिना कांस्यादौ शुद्धिदर्शनादाधेयशक्तिरङ्गीकार्येति चेत्, न, भस्मादिसंयोगसमानकालीनास्पृश्यस्पर्शप्रतियोगिकयावदभावसहितभस्मादिसंयोगध्वंसस्य शुद्धिपदार्थत्वात्॥

स्वत्वमपि न पदार्थान्तरम्, यथेष्टविनियोगयोग्यत्वस्य स्वत्वरूपत्वात्। तदवच्छेदकं च प्रतिग्रहादिलब्धत्वमेवेति॥

अथ विधिर्निरूप्यते। प्रयत्नजनकचिकीर्षाजनकज्ञानविषयो विधिः। तत्प्रतिपादको लिङादिर्वा। कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यदर्शनात् कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्तकम्। न च विषभक्षणादौ प्रवृत्तिप्रसङ्ग। इष्टसाधनतालिङ्गककृतिसाध्यताज्ञानस्य काम्यस्थले नित्यनैमित्तिकस्थले च विहितकालजीवित्वनिमित्तकज्ञानजन्यस्यैव प्रवर्तकत्वात्। न चाननुगमः, स्वविशेषणवत्ताप्रतिसंधानजन्यत्वस्यानुगतत्वादिति गुरवः, तन्न; लाघवेन कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रयत्नजनकत्वात्। न च नित्ये इष्टसाधनत्वाभावादप्रवृत्तिप्रसङ्गः, तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य पापक्षयस्य च फलत्वकल्पनात्। तस्मात्कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमेव लिङाद्यर्थः। ननु "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यत्र लिङा स्वर्गसाधनकार्यं प्रतीयते। यागस्याशुविनाशिनः कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वायोगात्तद्योग्यं स्थायिकार्यमपूर्वमेव लिङाद्यर्थ॥ कार्यं कृतिसाध्यम्, कृतेः सविषयत्वात्। विषयाकाङ्क्षायां यागो विषयत्वेनान्वेति। 'कस्य कार्यम्?' इति नियोज्याकाङ्क्षायां

स्वर्गकामपदं नियोज्यपरतयान्वेति। कार्यबोद्धा नियोज्यः। तेन 'ज्योतिष्टोमनामकयागविषयकं स्वर्गकामस्य कार्यम्' इति वाक्यार्थः संपद्यते। वैदिकलिङ्त्वात् "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इति नित्यवाक्येऽप्यपूर्वमेव वाच्यं कल्प्यते। "आरोग्यकामो भैषजपानं कुर्यात्" इत्यादौ लौकिकलिङः क्रियाकार्ये लक्षणेति चेत्, न; यागस्याप्ययोग्यतानिश्चयाभावेन साधनतया प्रतीत्यनन्तरं तन्निर्वाहार्थमवान्तरव्यापारतया अपूर्वकल्पनात्। कीर्तनादिनाऽनाशश्रुतेर्न यागध्वंसो व्यापारः। लोकव्युत्पत्तिबलात्क्रियायामेव कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं लिङा बोध्यत इति लिङ्त्वेन रूपेण विध्यर्थत्वम्। आख्यातत्वेन प्रयत्नार्थकत्वम्। पचति पाकं करोतीति विवरणदर्शनात् "किं करोति?" इति प्रश्ने 'पचती' त्युत्तराच्चाख्यातस्य प्रयत्नार्थकत्वनिश्चयात्। रथो गच्छतीत्यादावनुकूलव्यापारे लक्षणा "देवदत्तःपचति तण्डुलान् देवदत्तेन पच्यते तण्डुलः" इत्यत्र कर्तृकर्मणोर्नाख्यातार्थत्वम्, किंतु तद्गतैकत्वादीनामेव। तयोराक्षेपादेव लाभः। प्रयजतीत्यादौ धातोरेव प्रकर्षे शक्तिः। उपसर्गाणां द्योतकत्वमेव। न तत्र शक्तिरस्ति॥

पदार्थज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः। तथा हि – "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृह. उ. २। ४। ५) इति श्रुत्या श्रवणादीनामात्मसाक्षात्कारहेतुत्वबोधनात्। श्रुत्या देहादिविलक्षणात्मज्ञाने सत्यप्यसंभावनाऽनिवृत्तेर्युक्त्यनुसन्धानरूपमननसाध्यत्वात् मननोपयोगिपदार्थनिरूपणद्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगः। तदनन्तरं श्रुत्युपदिष्टयोगविधिना निदिध्यासने कृते तदनन्तरं देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति देहादावहमभिमानरूपमिथ्याज्ञाननाशे सति दोषाभावात्प्रवृत्त्यभावे धर्माधर्मयोरभावाज्जन्माभावे पूर्वधर्माधर्मयोरनुभवेन नाशे चरमदुःखध्वंसलक्षणो मोक्षो जायते। ज्ञानमेव मोक्षसाधनं मिथ्याज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानमात्रसाध्यत्वात् "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता. उ. ३।८।६।१५) इति साधनान्तरनिषेधाच्च। ननु "तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने" (भवसं.उ. १।३२) इति कर्मणोऽपि मोक्षसाधनत्वस्मरणाज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति चेत्, न; "नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्। अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः" इत्यादिना कर्मणो ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनात्। ज्ञानद्वारैव कर्म मोक्षसाधनं, न साक्षात्। तस्मात्पदार्थज्ञानस्य मोक्षः परमं प्रयोजनमिति सर्वं रमणीयम्॥

॥ इति महामहोपाध्यायान्नम्भट्टेनकृता स्वकृततर्कसंग्रहस्य दीपिका संपूर्णा॥

अन्य उपयोगी पुस्तकें

संस्कृत सामान्य ज्ञान	प्रवीण पण्ड्या
संस्कृतरत्नाकर (संस्कृत विषय के अतिलघुतरात्मक प्रश्न)	डॉ.कौशल तिवारी
संस्कृत प्रकाश (प्रतियोगी परिक्षा संस्कृत विषय के वस्तुनिष्ठ प्रश्न)	डॉ.अनिल कुमार शर्मा
संस्कृत चयनिका (वस्तुनिष्ठ)	आचार्य मदनलाल शर्मा
ज्योतिष सामान्य ज्ञान	सुराज शास्त्री
विविधा (संस्कृत वाङमय के विविध पक्षों का तथ्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक विवेचन)	डॉ. विकास शर्मा /डॉ. नीरज शर्मा
धर्म गुरु संस्कृत चयनिका	आचार्य भेषराज शर्मा
यू.सी.जी दर्पण	डॉ. अनिल कुमार झा
संस्कृत दिग्दर्शिका (संस्कृत वाङमय की अनुपम भेंट)	
यू.जी.सी 2 पेपर हेतु	डॉ. अनिल कुमार झा
हंसा यू.जी.सी दिग्दर्शिका(तृतीयपत्रम् कोड न:25-73)	डॉ. अनिल कुमार झा
हंसा यू.जी.सी दिग्दर्शिका(तृतीयपत्रम् कोड न:25-73)बहुवैकल्पिक	डॉ. अनिल कुमार झा
संस्कृत संजीवनी	मधुबाला शर्मा 'पाण्डेय'
संस्कृत प्रतियोगिताकौमुदी	सुधीर कुमार शर्मा
संस्कृत प्रतियोगिता दिग्दर्शिका	योगेश कुमार शर्मा
दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण अध्ययन(वस्तुनिष्ठ प्रश्न)	डॉ. प्रदीप कुमार
व्याकरणादिचन्द्रिका (व्याकरण, काव्य, छन्द, अलकार, आदि का सुव्यस्थित विवेचन)	भवानीशंङ्गर शर्मा
संस्कृत शिक्षण पद्वतय	डॉ.कृष्णगोपाल जांगिड
शिक्षा मनोविज्ञान	डॉ.कृष्णगोपाल जांगिड
करिअॅर ए टू जेड डायरक्टरी	डॉ प्रदीप कुमार
रोजगार आपके कदमों में	डॉ.जमनालाल बायती
रोजगार मार्गदर्शिका	जमनालाल बायती
आओं देखें राजस्थान	देवदत्त शर्मा
इमारते बोलती हैं	देवदत्त शर्मा
Cultural Heritage of Rajasthan	Harden Harsha
Rajasthan Heritage Quiz	Dev Datt sharma
मारवाडी कहावतें	श्यामसुन्दर जोशी
लोक विरासत खरी कहावत	हरदान हर्ष
पर्यावरण प्रश्नोत्तरी	देवेन्द्र भारद्वाज/देवदत्त शर्मा
राजस्थान विरासत प्रश्नोत्तरी (राजस्थान की इतिहास ,कला एवं संस्कृति संबंधित वस्तुनिष्ट प्रश्न)	डॉ. देवदत्त शर्मा

हंसा प्रकाशन ®
57, नाटाणी भवन
मिश्र राजाजी का रास्ता, चांदपोल बाजार
जयपुर – 302 001 (राज.)

ISBN 978-81-81954-64-5